भारतीय आर्य भाषाएँ

डॉ॰ उदयनारायण तिवारी

भारतीय आर्य भाषाएँ

डॉ० उदयनारायण तिवारी का नाम विश्व के सुविख्यात भाषाशास्त्रियों में अत्यंत आदरपूर्वक लिया जाता है। उन्होंने अपने विषय के अनेकानेक महत्त्वशाली ग्रंथ हिन्दी वाङ्मय को दिये हैं। उनकी कोई भी अभिनव कृति जब प्रकाश में आती है तो भाषा-विज्ञान को और भी अधिक विस्तार तथा और भी अधिक गहराई की उपलब्धि होती है; भाषाशास्त्रियों का पथ और भी अधिक प्रशस्त हो जाता है, साथ ही, इस विषय के अनुसंधित्सुओं को अपने सर्वेक्षण-कार्य एवं दिशा-बोध में और भी अधिक सहायता मिलती है।

जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन (सन् १८५१-१९४१ ई०) का नाम भाषाशास्त्र के आकाश पर सूर्यवत् देदीप्यमान रहेगा। वे संसार की असंख्यक भाषाओं और बोलियों का सूक्ष्म अध्ययन एवं सर्वेक्षण यावज्जीवन करते रहे। ग्रियर्सन को भारत से विशेष प्रेम और लगाव रहा, जिसके कारण ही भारतीय भाषाएँ तथा बोलियाँ उनके भाषाशास्त्रीय अध्ययन और विश्लेषण का केन्द्र-विन्दु वनीं। ग्रियर्सन का यह वृहत् कार्य 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इंडिया' के नाम से सत्रह खंडों में प्रकाशित है, जिसकी भाषाशास्त्रीय उपयोगिता सदैव सर्वमान्य रहेगी।

डॉ० उदयनारायण तिवारी ने अपनी इस कृति को चार भागों में विभक्त करके प्रस्तुत किया है। प्रथम भाग में ग्रियर्सन की जीवनी तथा उनके व्यक्तित्त्व और कृतित्त्व पर डब्ल्यू० एफ० टॉमस और रॉल्फ़ लिली टर्नर के लेख का अनुवाद है। द्वितीय भाग में ग्रियर्सन की सामग्री का संकलन किया गया है। तृतीय भाग में ग्रियर्सन कृत 'भारतीय आर्य भाषाएँ' शीर्षक लेख से संबंधित डॉ० उदयनारायण तिवारी लिखित विस्तृत एवं सारगर्भित भूमिका है। और, चतुर्थ भाग में ग्रियर्सन के उस पूरे लेख, 'भारतीय आर्य भाषाएँ', का डॉ० उदयनारायण तिवारी कृत अनुवाद है कि जो आज तक हिन्दी में अप्रकाशित रहा और जिसके उपलक्ष्य में यह कृति आज अपने समग्र रूप में आपके समक्ष प्रस्तुत है।

विश्वास है, हमारे इस नवप्रकाशित ग्रंथ का भी समुचित स्वागत एवं समादर सुधी विद्वानों में अवश्य होगा।

—प्रकाशक

भारतीय आर्य भाषाएँ

मूल लेखक

जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन

अनुवादक तथा भूमिका-लेखक

डॉ० उदयनारायण तिवारी

ग्रन्थ-संख्या	२७२
प्रथम संस्करण	सन् १९८४ ई०
मूल्य	पैंतालीस रुपये
प्रकाशक और विक्रेता	भारती भंडार लीडर रोड, इलाहाबाद—211001
मुद्रक	लीडर प्रेस, इलाहाबाद—211001

समर्पण
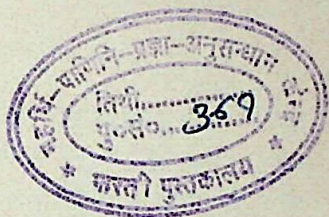
बन्धुवर डॉ० महादेव साहा को—

यस्य प्रवृत्तिरितिहास दर्शने ।
स्वराजनीतौ विदुषां समादरे ।।
स्वमातृभूम्यै जनसौख्य हेतवे ।
प्रयत्नवान् यो बहुधा प्रवर्तते ।।
तस्मै मनीषिणे साहा महादेवाय धीमते ।
भारतीयार्यभाषाणां समुच्चयः समर्प्यते ।।

—उदयनारायण तिवारी

प्राक्कथन

ग्रियर्सनकृत 'भारतीय आर्यभाषाएँ' (इण्डो-एरियन वर्नाक्यूलर्स) लेख 'बुलेटिन ऑव ओरिएण्टल स्टडीज' खण्ड १—२, १९१८ तथा खण्ड १—३, १९२० में प्रकाशित हुआ था। इसका एक भाग 'गुण्ड्रिस डेर इण्डो-आरिशेन फिलोलोगी उण्ट् आल्टरटम्स कुण्डे' (Grundris der Indoarisen philologie und Altertums Kunde) के लिए लिखा गया था। यह भारतीय आर्यभाषाओं के सम्बन्ध में था। यह लेख पूरा नहीं हुआ था कि प्रथम यूरोपीय युद्ध का समारम्भ हो गया और इसका शेष भाग जर्मन पत्रिका में प्रकाशित न हो सका। डेनिसन रास के अनुरोध पर ग्रियर्सन ने यह पूरा लेख 'बुलेटिन ऑव ओरिएण्टल स्टडीज' में प्रकाशित कराना स्वीकार कर लिया। अंग्रेजी में प्रकाशित इसी लेख का अनुवाद ''भारतीय आर्यभाषाएँ शीर्षक से यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है।

'बुलेटिन ऑव ओरिएण्टल एण्ड अफ्रीकन स्टडीज' के सम्पादकीय विभाग की मंत्री, कुमारी डायना मेटियस ने कृपापूर्वक इस लेख को अनूदित करके प्रकाशित करने की अनुमति दी है। उनका इस आशय का पत्र १९ मार्च, १९८२ को मुझे प्राप्त हुआ था। मैं 'स्कूल ऑव ओरिएण्टल एण्ड अफ्रीकन स्टडीज' के सम्पादकों का अत्यन्त आभारी हूँ और उनके प्रति अपना विनम्र आभार प्रेषित करता हूँ।

इस लेख को प्रकाशित हुए तिरसठ वर्ष व्यतीत हो गये हैं किन्तु आज भी यह लेख उतना ही महत्वपूर्ण एवं मूल्यवान है। डॉ॰ ग्रियर्सन ने अपने 'भाषा-सर्वेक्षण' में आधुनिक भाषाओं का जो वर्गीकरण दिया था उससे भाषाविद् पूर्णतया परिचित हैं। इस लेख में आपने किञ्चित् परिवर्तित वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। बात वही है, किन्तु थोड़ा क्रम में हेर-फेर है।

भारतीय आर्यभाषाओं के सम्बन्ध में जो विचार डॉ॰ ग्रियर्सन ने इस लेख में व्यक्त किये हैं, वे एक प्रकार से अंतिम हैं। इसका किसी ने अभी तक प्रतिवाद नहीं किया है। यदि किसी ने दबी जबान से प्रतिवाद भी किया है तो इसके लिए तथ्यपूर्ण प्रमाण नहीं दिया है। इस नवीन वर्गीकरण में ग्रियर्सन ने पूर्वी हिन्दी—अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी—को पश्चिमी हिन्दी से अलग कर दिया है। उन्होंने पश्चिमी हिन्दी की सीमा कानपुर तक मानी है।

इसीप्रकार ग्रियर्सन ने बिहारी, राजस्थानी तथा पहाड़ी भाषाओं का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार किया है। यह बात सच है कि किसी देश के लिए बहुत भाषाओं का होना घातक है किन्तु जहाँ वास्तविक स्थिति ही ऐसी है वहाँ अन्यथा कैसे किया

जाय। भारत छोटा-मोटा राष्ट्र नहीं है अपितु यह महाराष्ट्र अथवा महाद्वीप है। यहाँ चार सर्वथा भिन्न परिवारों की भाषाएँ बोली जाती हैं। ये है—१. आर्य, २. द्रविड़, ३. मुण्डा तथा ४. तिब्बती-बर्मी परिवार की। किन्तु साधारण हिन्दी (टूटी-फूटी हिन्दी) के सहारे यहाँ पारस्परिक अभिव्यक्ति में बाधा नहीं पड़ती। यहाँ यूरप जैसी स्थिति नहीं है, जहाँ एक देश से दूसरे देश की सीमा में पहुँचते ही भाषा-समस्या विकराल रूप धारण कर लेती है। वास्तव में, इस दृष्टि से, हिन्दी भारत के लिए एक अभूतपूर्व वरदान-स्वरूप है। इसके सहारे आर्य तथा आर्येतर भाषाओं के बीच सम्पर्क-सूत्र स्थापित हो जाता है।

'भारतीय आर्य भाषाएँ' के चार खण्ड हैं। आरम्भ में ग्रियर्सन के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर जो लेख है वह डब्ल्यू० एफ० टॉमस तथा आर० एल० टर्नर के लेख का अनुवाद है। यह लेख ब्रिटिश एकेडेमी के जर्नल में प्रकाशित हुआ था। इन दोनों मनीषियों ने ग्रियर्सन के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का जो मूल्यांकन किया है, वह महत्व-पूर्ण एवं प्रभावशाली है।

इसके बाद संकलित सामग्री है। इस खण्ड में डॉ० मुरलीधर श्रीवास्तव की पुस्तक 'यूरोपीय लोगों की हिन्दी-सेवा' तथा डॉ० आशा गुप्त कृत जार्ज "अब्राहम ग्रियर्सन और बिहारी भाषा-साहित्य" से सामग्री संकलित की गयी है। इन लेखकों के प्रति मैं आभार व्यक्त करता हूँ।

तीसरा खण्ड मेरे द्वारा लिखित भूमिका है। इसमें मैंने आर्य भाषाओं—विशेष-रूप से, पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी तथा बिहारी—का व्युत्पत्तिमूलक अध्ययन किया है। इस अध्ययन के अन्त में मैंने पजाबी, पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी एवं बिहारी भाषाओं के सम्बन्ध में व्याकरणिक तथ्य प्रस्तुत किया है। इसी के साथ इनकी व्युत्पत्ति पर भी प्रकाश डाला है। इसकी सम्पूर्ण सामग्री ग्रियर्सन कृत 'भाषा सर्वे-क्षण' से ली गयी है। भूमिका की कुछ अन्य सामग्री अपने कनिष्ठ सहतीर्थ तथा गुरुभाई डॉ० रामअधार सिंह के 'सेन्सस ऑव इण्डिया, १९६१' से ली गयी है। हम दोनों कलकत्ता विश्वविद्यालय के भाषाविज्ञान के अध्यापक डॉ० सुकुमार सेन के शिष्य हैं। इनके प्रति भी आभार व्यक्त करना मैं अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ।

चौथे खण्ड में ग्रियर्सन के लेख 'आर्यभाषाएँ' (इण्डोएरियन वर्नाक्यूलर) का अनुवाद है। ग्रियर्सन ने भारतीय आर्य-भाषाओं का गहराई से अध्ययन किया था। यह अध्ययन १८७३ से ही आरम्भ हुआ था और भाषा-सर्वेक्षण के प्रकाशन-काल तक चलता रहा। 'भारतीय आर्य-भाषाएँ' (इण्डोएरियन वर्नाक्यूलर) लेख उन्होंने १९१८-१९२० में लिखा। इसप्रकार भारतीय आर्य-भाषाओं के सम्बन्ध में उनके विचार को व्यक्त करने वाला यह अंतिम लेख था। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और इसका अभी तक अनूदित रूप में प्रकाशन नहीं हुआ था। यहाँ इसका प्रथम बार प्रकाशन हो रहा है।

सम्प्रति राजस्थानी, पूर्वी हिन्दी, विहारी एवं पहाड़ी क्षेत्रों में शिक्षण का माध्यम परिनिष्ठित हिन्दी है। इस दृष्टि से कतिपय हिन्दी विद्वानों ने इस सम्पूर्ण क्षेत्र को हिन्दी भाषा के अंतर्गत रखा है, जबकि वास्तविक स्थिति वैसी नहीं है। ऐसे विद्वानों तथा उनके अनुगामियों को ग्रियर्सन के इस वर्गीकरण से किञ्चित् धक्का लगेगा। किंतु हिन्दी के सीमा-विस्तार के लिए, वैज्ञानिक तथ्य पर आधारित ग्रियर्सन के वर्गीकरण को अन्यथा नहीं सिद्ध किया जा सकता। इंग्लैण्ड की भाषा मानक अंग्रेजी मुट्ठी भर शिष्ट लोगों की भाषा है जिन्होंने लन्दन, कैम्ब्रिज, ईटन और हैरो के पब्लिक स्कूलों में शिक्षा प्राप्त की है। ऐसे शिष्ट लोगों की अंग्रेजी के उच्चारण को 'प्राप्त उच्चारण' (रिसीव्यड प्रोनन्सियेशन) कहा जाता है। बोलचाल के रूप में इस उच्चारण की सर्वाधिक प्रतिष्ठा है। विदेशियों को शिक्षक यही उच्चारण सिखाते हैं। प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए इसी उच्चारण की आवश्यकता है। आधुनिक अंग्रेजो-साहित्य का अधिकांश यद्यपि मूलतः इसी मानक अंग्रेजी में लिखा गया है किंतु इसका विश्व में प्रचार और प्रसार है। सच बात तो यह है कि किसी भाषा के सीमा-विस्तार से उसका महत्त्व नहीं बढ़ता। वास्तव में उसके साहित्य-विस्तार से उसकी प्रतिष्ठा होती है। हिन्दी का क्षेत्र कुरुक्षेत्र से लेकर कानपुर तक पर्याप्त विस्तृत है, इसलिए हमें उसके सीमाविस्तार के चक्कर में न पड़कर, उसके साहित्य के संवर्द्धन में संलग्न होना चाहिए।

मेरे विचार में हिन्दी के विशाल क्षेत्र को दो भागों में विभक्त करना चाहिए— १. पश्चिमी हिन्दी क्षेत्र, जहाँ यह मातृभाषा के रूप में व्यवहृत होती है। २. हिन्दी प्रभावी क्षेत्र, जहाँ मातृभाषा के रूप में हिन्दी का प्रयोग नहीं होता किन्तु जहाँ वह शिक्षा के माध्यम के रूप में प्रयुक्त होती है। इन दोनों क्षेत्रों में हिन्दी की शिक्षा दो रूपों में दी जानी चाहिए। पहले क्षेत्र में, हिन्दी का पठन-पाठन मातृभाषा के रूप में होना चाहिए किन्तु दूसरे क्षेत्र में द्वितीय भाषा के रूप में क्षेत्रीय भाषाओं के परिप्रेक्ष्य में, इसका पठन-पाठन होना चाहिए।

मैं एक तथ्य की ओर भी विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करना अपना कर्तव्य मानता हूँ। बात यह है कि आज के युग में जिन्हें हम बोली के नाम से अभिहित करते हैं उनमें से कई ऐसी हैं जिनके बोलने वालों की संख्या कई करोड़ है। ऐसी बोलियों में अवधी, भोजपुरी, मैथिली, छत्तीसगढ़ी आदि का नाम गिनाया जा सकता है। इन सबमें आधुनिक साहित्य की रचना हो रही है। इस सन्दर्भ में भोजपुरी सबसे आगे है। अवधी और मैथिली में बहुत पुराना साहित्य भी उपलब्ध है। ऐसी भाषिक स्थिति संसार में कहीं नहीं है। हिन्दी के कतिपय विद्वान् यह शंका करने लगे हैं कि इन बोलियों में साहित्य के विकास से हिन्दी को क्षति पहुँचने वाली है। मेरा इस सम्बन्ध में दृढ़ मत है कि इन बोलियों का विकास होने एवं भाषारूप धारण

करने से किञ्चित् भी हानि होने वाली नहीं है। हिन्दी का क्षेत्र एवं भाषा-रूप में उसका विकास बहुत विस्तृत है। साथ ही देश की प्रौढ़ शिक्षा तथा समस्त जनता को साक्षर बनाने का अभियान में तो इन बोलियों की सहायता परम आवश्यक है। हिन्दी गंगा की वह धारा है जिसमें सहायक रूप में ये बोलियाँ सहज गति से समाहित हो रही हैं। अतः इनके विकास में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित करना उचित न होगा।

कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि ये बोलियाँ म्रियमाण हैं तथा उनका यथा-सम्भव हिन्दी में विलीन हो जाना ही श्रेयस्कर है। मेरा मत इससे सर्वथा विपरीत है। जब विश्व में अंग्रेजी के इतने प्रचार-प्रसार के बावजूद भी केल्टिक एवं गेलिक भाषाएँ ब्रिटेन में आज भी जीवित हैं, तब यह कल्पना कर लेना कि करोड़ों की मातृभाषा होते हुए अवधी, भोजपुरी, मैथिली, छत्तीसगढ़ी आदि का नामोनिशान मिट जायेगा, कोरा भ्रम मात्र है। भारत के भाषा-समूह में इन तथाकथित बोलियों का स्थान अप्रतिम है। अतएव उनके साथ हिन्दी का सामंजस्य स्थापित करना ही समीचीन है।

अब दो शब्द ग्रियर्सन के सम्बन्ध में भी निवेदन करना है। ग्रियर्सन ने युरोप की ग्रीक, लैटिन के अतिरिक्त संस्कृत, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश का भी व्यवस्थित अध्ययन किया था। हिन्दुस्तानी (=उर्दू) को आपने फारसी लिपि में सीखी थी। हिन्दी-साहित्य तथा बिहार की विविध बोलियों का भी आपका व्यवस्थित अध्ययन था। वे अपने अध्ययनकाल में मैथिल पंडितों को पीली धोती में दो रुपये बाँध कर दान देते थे। मैथिली, मगही तथा भोजपुरी क्षेत्र में गुरु तथा ब्राह्मणों के सम्मान की यही परम्परा है। वे आधुनिक भाषाओं, पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी एवं बिहारी की संरचनात्मक सूक्ष्म विशेषताओं से परिचित थे। ग्रियर्सन पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने यह खोज की है कि बाहरी वृत्त की भाषाओं—बँगला, बिहारी तथा पूर्वी हिन्दी—की काल-रचना में सर्वनाम के लघु रूपों का समावेश होता है। यह सूत्र सम्भवतः आपको ग्रीक तथा लैटिन भाषाओं से प्रसूत आधुनिक भाषाओं के अध्ययन से प्राप्त हुआ था। हिन्दी के किसी महावैयाकरण को यह बात कदाचित् अब तक ज्ञात नहीं है। सामान्यरूप से भारतीय आर्यभाषाओं की बोलियों तथा उप-बोलियों का उनका गम्भीर ज्ञान था। उनकी बुद्धि इतनी प्रखर तथा दृष्टि इतनी पैनी एवं विश्लेषणात्मक थी कि छोटे-से-छोटे व्याकरणिक तत्व उनकी पकड़ में आ जाते थे। मेरा विश्वास है कि यदि वे आधुनिक आर्यभाषाओं का वर्गीकरण न कर जाते तो आज नव्य-भाषाविज्ञान के ज्ञान से मण्डित पण्डितों के लिए यह वर्गीकरण दुष्कर होता।

कतिपय आज के भाषाविज्ञानियों ने ग्रियर्सन की आलोचना करते हुए कहा है कि उनके युग में न तो भाषाविज्ञान का इतना विकास ही हुआ था जितना द्वितीय युद्ध

के बाद (१६५० ई० के बाद) हुआ, और न इतने प्रशिक्षित भाषाविज्ञानी ही थे। उन्होंने सर्वेक्षण के लिए जो नमूने तथा भाषिक सामग्री एकत्र की वह प्रशिक्षित कार्यकर्त्ताओं द्वारा नहीं प्रस्तुत की गयी थी। अतएव अब नवीन ढंग से भाषा-सर्वेक्षण की आवश्यकता है। मैं स्वयं भी पहले इसीप्रकार की हीन-भावना तथा अहंकार-प्रेरित बुद्धि से ग्रस्त था। किन्तु जब १६४०-४२ में गुरुदेव डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी के चरणों में बैठकर भाषाविज्ञान के अध्ययन का अवसर मिला तथा ग्रियर्सन की महान् देन से परिचय प्राप्त हुआ तब मेरा भ्रम दूर हुआ। तब डॉ० ग्रियर्सन के परिश्रम, ज्ञान एवं पक्षपात-रहित वैज्ञानिक विवेचना के गौरव का अनुभव हुआ तथा उस मनीषी के प्रति हृदय श्रद्धा से परिपूर्ण हो गया। इसके साथ ही याद आईं भर्तृहरि की निम्नलिखित पंक्तियाँ—

> यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवम्
> तथा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
> यदा किञ्चित् किञ्चिद्बुधजनसकाशादवगतं
> तथा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो में व्यपगतः।

ग्रियर्सन ने बिहारी भाषाओं के अध्ययन के साथ-साथ उसके लोक-साहित्य पर भी अनेक शोध-प्रबन्ध लिखे। उनके ये लेख एशियाटिक सोसायटी के जर्नल तथा 'इण्डियन एण्टीक्वेरी' में प्रकाशित हुए। आपने बिहार के 'मगहिया डोम' तथा भोजपुरी की 'सियरमरवा बोली' का भी अध्ययन किया तथा इनके निष्कर्ष एशियाटिक सोसायटी के जर्नल में प्रकाशित कराया। जिसप्रकार विलियम जोन्स, कोलब्रुक, प्रिंसेप तथा बीम्स ने सरकारी सेवा में रहते हुए अपने अवकाश के समय में विविध शोध-कार्य किया तथा उसे प्रकाशित कराया उसीप्रकार ग्रियर्सन ने भी अपने अवकाश के एक-एक क्षण का उपयोग कर अपने जीवन को सफल बनाया। ऐसा प्रतीत होता है कि वह अवकाश के समय विज्ञानमय कोष में स्थित रहते थे। उनका जीवन नितान्त कर्मठ गवेषणा तथा अभिनव उपलब्धियों का केन्द्र-बिन्दु था। आप वैदिक तथा लौकिक संस्कृत से लेकर पालि-प्राकृत, अपभ्रंश एवं आधुनिक जनभाषाओं तक के अध्ययन-अनुसंधान के साकार विग्रह थे। देश-विदेश के अनेक साहित्यिक संस्थाओं एवं विश्वविद्यालयों ने अपनी मानद उपाधियों से ग्रियर्सन को विभूषित कर अपने को धन्य माना किंतु बंगाल के मनीषी वर्ग ने उनकी सारस्वत साधना को सदैव सशंकित दृष्टि से देखा। इस संदर्भ में राधिकाप्रसन्न मुखर्जी तथा श्यामाचरण गांगुली के वे आक्रामक लेख भी उल्लेखनीय हैं जो बिहार के भाषा-विवाद के संदर्भ में ग्रियर्सन के विरुद्ध लिखे गये थे और जिनकी चर्चा इस पुस्तक में यथास्थान की गयी है। इसका कारण जानने के लिए बंगाल के साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक इतिहास का अवलोकन करना होगा।

ग्रियर्सन ने भारत में सन् १८७३ ई० में पदार्पण किया। भारत के प्रथम स्वतंत्रता-युद्ध (१८५७ ई०) को अभी सोलह वर्ष ही व्यतीत हुए थे। इसके पूर्व ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन था। उस अवधि में कम्पनी के अधीन अनेक अंग्रेज नील की खेती तथा व्यवसाय करते थे। इनके अत्याचार से प्रजा संत्रस्त थी। सन् १८६० में दीनबन्धु मित्र का 'नीलदर्पण' नाटक बँगला में प्रकाशित हुआ। इसके प्रकाशन से साहित्य तथा प्रजा दोनों में क्रान्ति का समारम्भ हुआ। 'इंग्लिशमैन' पत्रिका के सम्पादक ने 'नीलदर्पण' के प्रकाशन पर मानहानि का मुकदमा दायर किया। भूमिका-लेखक पादरी जेम्स लाङ् ने सारी जिम्मेदारी अपने ऊपर ले ली। प्रकाशक पर मामूली जुर्माना हुआ। कोर्ट ने लाङ् को एक महीने की कड़ी सजा दी तथा एक हजार रुपये जुर्माना किया। महात्मा कालीप्रसन्न सिंह ने जुर्माना जमा कर दिया। लाङ् ने सजा काटी। रोज-रोज जेल में जितने आदमी उनसे मिलने जाते थे उनकी संख्या तत्कालीन बड़े लाट और वायसराय से मिलने वालों की संख्या से अधिक थी। 'नीलदर्पण' की भूमिका पृष्ठ १३ पर डॉ० महादेव साहा ने एक उद्धरण दिया है, जो इस प्रकार है—

"बंकिम चन्द्र ने लिखा है कि सन् १८५६-६० बँगला-साहित्य में चिरस्मरणीय है क्योंकि यह नवीन और प्राचीन का सन्धि-स्थल है। प्राचीन धारा के अंतिम प्रतिनिधि ईश्वरगुप्त अस्तमित (१८५६) हुए और मधुसूदन नवोदित हुए। १८६० में 'तिलोत्तमा' और १८६१ में व्रजाङ्गना' प्रकाशित हुई। रवि बाबू के गुरु कवि विहारी लाल का 'स्वप्नदर्शन' और 'संगीत-शतक' क्रमशः १८५८ और १८६२ में निकला।"

सच तो यह है कि इस युग की समाप्ति पर माइकेल मधुसूदन दत्त तथा बंकिम चन्द्र के युग का समारम्भ हुआ। सन् १८६२ ई० में बंकिमचन्द्र की क्रान्तिकारी कृति 'आनन्द मठ' का प्रकाशन हुआ जिसमें भारत माता के स्तवन में 'वन्देमातरम्' गान प्रस्तुत हुआ। इसी ने आगे चलकर उग्र राष्ट्रवादी एवं गुप्त क्रान्तिकारी संगठन को जन्म दिया। जिस समय ग्रियर्सन का आगमन हुआ था उस समय बंगाल तथा महाराष्ट्र उग्र राष्ट्रवादी धारा के केन्द्र बन चुके थे। दोनों में, सर्वत्र, अंग्रेजों की रीति-नीति के विरुद्ध विचारधारा परिचालित हो रही थी। इसी के शमन के लिए सन् १८८५ ई० में ह्यूम ने कांग्रेस की स्थापना की। ऐसे युग तथा ऐसी परिस्थिति में ग्रियर्सन के वैज्ञानिक तथा न्यायसम्मत विचारों का बंगाल में कैसे स्वागत होता? ग्रियर्सन सब प्रकार से न्यायप्रिय तथा योग्य प्रशासक होते हुए भी अन्ततोगत्वा नौकरशाही के एक अंग थे। यही कारण है कि बंगाल के विद्वानों तथा मनीषियों ने ग्रियर्सन का विरोध किया और वे उनकी ओर आकृष्ट नहीं हुए।

सन् १८६८ ई० में ग्रियर्सन इंग्लैण्ड गये जहाँ रहकर वे भाषा-सर्वेक्षण का सम्पादन करने लगे। इसके बाद वहीं रहते हुए आपने सरकारी सेवा से अवकाश ग्रहण
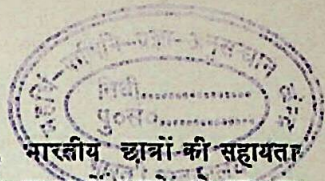
किया और सन् १९४१ तक, जब तक वे जीवित रहे, भारतीय छात्रों की सहायता करते रहे। मेरे गुरुदेव डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी की लन्दन में आपने जो सहायता की थी उसका वे अत्यन्त भाव-विभोर होकर वर्णन करते थे। सन् १९१९ में, जब सुनीति बाबू छात्र-वृत्ति लेकर अपनी डी० लिट्० की उपाधि के लिए लन्दन गये थे, उस समय ओरिएण्टल तथा अफ्रीकन स्टडीज् के निदेशक डेनिसन रॉस थे। इसके पूर्व बहुत दिनों तक वे कलकत्ता के अरबी मदरसा के प्रिंसिपल रह चुके थे। बंगाल, विशेष-रूप से, कलकत्ते के बंगालियों से वे अप्रसन्न थे। जब चटर्जी ने अपने डी० लिट्० के अधिनिबन्ध के लिए बंगला भाषा का उद्गम और विकास (ओरिजिन एण्ड डेवलपमेंट ऑव बंगाली लैंग्वेज) विषय चुना, तब डेनिसन रास ने उसके लिए तत्काल स्वीकृति नहीं दी। डॉ० चटर्जी विज्ञान के विद्वान् श्री शान्तिस्वरूप भटनागर के साथ लन्दन विश्व-विद्यालय के छात्रावास में रहते थे। भटनागर भी उच्च विज्ञान के अध्ययन के लिए लन्दन गये थे। उन्हें तो विश्वविद्यालय में प्रवेश मिल गया किन्तु चटर्जी भटकते रहे। वे अत्यन्त उद्विग्न एवं चिन्ता-ग्रस्त थे। विदेश में किससे सहायता लें, यह उन्हें सूझ नहीं रहा था। अचानक उनकी एक ऐसे व्यक्ति से भेंट हुई जिसने उन्हें ग्रियर्सन से पत्राचार करने को कहा। उन्होंने ग्रियर्सन को पत्र लिखा और उसका उत्तर भी तुरन्त मिल गया। ग्रियर्सन ने उन्हें 'प्राकृत पैङ्गलम्' का व्याकरण लिख कर भेजने के लिए कहा। डॉ० चटर्जी ने अत्यन्त परिश्रम से 'प्राकृत पैङ्गलम्' का व्याकरण लिखा और एक सप्ताह के भीतर उसे ग्रियर्सन के पास भेज दिया। उसे पढ़कर ग्रियर्सन को चटर्जी की योग्यता एवं वैदुष्य का ज्ञान हो गया। उन्होंने चटर्जी को अपने घर 'राथफार्नहम्' हाउस में आने का निमन्त्रण दिया। जब डॉ० चटर्जी उनके घर पहुँचे तब उन्होंने चिउड़ा-दही से जलपान कराया और कहा कि बंगाली लोग चीनी डालकर दही जमाते हैं और उसका स्वाभाविक स्वाद खराब कर देते हैं। दही तो बिहारी लोग खाना जानते हैं। मेरी पत्नी बिहार से ही दही बनाने की क्रिया सीख आयी हैं। उन्होंने चटर्जी का पूर्ण आदर-सत्कार किया और उन्हें खिला-पिलाकर भेजा।

उन्होंने एक बार पुनः चटर्जी को अपने घर बुलाया और पूर्ववत् उनकी आवभगत की। इसके बाद उन्होंने चटर्जी को क्रिसमस के उत्सव में अपने घर आमन्त्रित किया और अपने पत्र में लिखा—'निरन्तर पढ़ाई में लगे रहने से मानव-बुद्धि कुण्ठित हो जाती है अतः उसे अवकाश के समय को खेल-कूद तथा भ्रमण में बिताना चाहिए, इधर चटर्जी डी० लिट्० के अधिनिबन्ध की स्वीकृति न मिलने से अत्यन्त चिन्ताग्रस्त थे। वे इस विषय पर खुलकर ग्रियर्सन से बात-चीत करना चाहते थे, किन्तु ग्रियर्सन ने उन्हें मना कर दिया। इस बार जब चटर्जी अपने छात्रा-वास में लन्दन लौटे तब डेनिसन रास का एक पत्र उन्हें मिला। उन्होंने चटर्जी को रात के भोजन पर निमन्त्रित किया था। चटर्जी जब डेनिसन रास के घर गये तब

उन्होंने उनसे पूछा—'आपको अब्राहम ग्रियर्सन कैसे जानते हैं? क्या आपको यह ज्ञात है कि उन्हीं की संस्तुति पर मेरी नियुक्ति इस स्थान पर हुई हैं?' इस पर डॉ० चटर्जी ने कहा—'मेरे ऊपर उनकी अहेतुकी कृपा है।' इस पर डेनिसन रास ने कहा—'मैंने आके डी० लिट्० के अधिनिबन्ध का विषय स्वीकार किया। अब आप अपना अधिनिबन्ध ग्रियर्सन को दिखावें तथा उनका निर्देशन प्राप्त करें। डॉ० चटर्जी ने ऐसा ही किया और दो वर्ष के भीतर ही उन्हें लन्दन विश्वविद्यालय की डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त हो गयी।

यद्यपि राजनैतिक कारणों से बंगाल के प्रबुद्ध तथा विद्वद्वर्ग ने ग्रियर्सन की कृतियों को प्रारम्भ में सन्देह की दृष्टि से देखा किन्तु समय की प्रगति से उनकी शंका का स्वयं समाधान हो गया। इधर जब से नवीन पद्धति से भाषाविज्ञान के पठन-पाठन का आरम्भ हुआ है तब से ग्रियर्सन की कृतियां तथा उनके अनुसन्धानात्मक लेखों का महत्व बढ़ गया है।

आज सभी ग्रियर्सन के विमल एवं नीर-क्षीर-विवेकी बुद्धि की प्रशंसा करते हैं। वे श्रद्धालु ईसाई थे और परम पिता परमात्मा में उनका अटूट विश्वास था। वे इस तथ्य को पूर्णतया मानते थे कि सभी धर्मों के लोग उसी एक परमात्मा के पुत्र हैं, अतः मानव मात्र उनके लिए प्रणम्य है। वे तुलसीदास की इन पंक्तियों के अनुगामी थे—

सीय राम मय सब जग जानी।
करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।
उमा जे रामहि चरन रत, बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहि जगत, केहि सन करहि विरोध।

इस पुस्तक की समाप्ति पर मैं अपने उन स्नेही शिष्यों, मित्रों एवं बन्धुओं के प्रति आभार प्रदर्शन करना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ जिन्होंने समय-समय पर इसके अनुवाद, इसकी भूमिका तथा प्रेस के लिए प्रतिलिपि तैयार करने में मेरी सहायता की है। इसमें डॉ० आत्माराम त्रिपाठी, डॉ० मंगला प्रसाद पाण्डेय, श्री मायापति मिश्र, श्री शेष नारायण त्रिपाठी, श्री राममणि द्विवेदी तथा राम नारायण वर्मा प्रमुख हैं। डॉ० जयशंकर त्रिपाठी मेरे प्रत्येक ग्रन्थ के प्रणयन में मेरी सहायता करते हैं।

मैं अपने दो गुरुजनों एवं अभिभावकों के प्रति भी आभारी हूँ जो मेरी कृति के प्रकाशन से आनन्द का अनुभव करते हैं। इनमें परम आदरणीय भैयासाहब पं० श्री नारायण चतुर्वेदी तथा गुरुवर डॉ० बाबूराम सक्सेना के नाम उल्लेखनीय हैं।

अपने दो स्वर्गीय देवात्मास्वरूप गुरुओं का मैं नित्य स्मरण करता रहता

हूँ जिनकी स्निग्ध तथा उदार मूर्ति मेरे मानस-पटल में अंकित है; वे हैं, स्वर्गीय डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी तथा पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय। कलकत्ता विश्वविद्यालय के अवकाश-प्राप्त प्रोफेसर डॉ० सुकुमार सेन की कृपादृष्टि के लिए मैं आज भी अपने को धन्य मानता हूँ।

अन्त में मैं लीडर प्रेस के, भारती भण्डार के अपने सहयोगियों के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ। ये हैं, श्री योगेशचन्द्र अग्रवाल, श्री विश्वनाथ झा, श्री बुद्धिसेन शर्मा तथा श्री निरंजनलाल श्रीवास्तव (प्रेस सुपरवाइज़र)। इन्हीं की सहायता से यह पुस्तक इस रूप में प्रकाशित हुई है।

उदयनारायण तिवारी

अलोपी बाग, दारागंज
प्रयाग।
दीपावली,
विक्रम कार्तिक कृष्ण ३०
शक संवत् १३ कार्तिक, १९०४,
४ नवम्बर, सन् १९८३ ई०

विषय-सूची

जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन

जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन जिन्हें भारत के भाषा-सर्वेक्षण के उपलक्ष्य में १६२८ ई० में पदक प्रदान किया गया, डबलिन के विद्वान् वंश में पैदा हुए थे। इनका वंश मूलतः नार्वे से यहाँ आया था। इसका सम्बन्ध ग्रिग से था, जो प्रसिद्ध गायक थे। ग्रियर्सन का शरीर पुष्ट था। ये लम्बे थे और वायलिन बजाने में दक्ष थे।

ग्रियर्सन की माता का नाम रक्सटन था। इनके तीन बहनें तथा तीन भाई थे। बहनों का नाम कान्सटेन्टिया, शार्लेट तथा जुलिया था। भाइयों में सबसे बड़े अब्राहम हेनरी फास्टर तथा चार्ल्स थे। चार्ल्स विशप हो गये थे। अब्राहम ग्रियर्सन का जन्म ७ जनवरी १८५१ ई० को ग्लानगेरी में हुआ था। यह डबलिन काउन्टी में है। १८६३ ई० में अब्राहम ग्रियर्सन श्रुजवरी के सेंट ब्रीज स्कूल से परीक्षोत्तीर्ण हुए। यहीं इनके अध्यापक बेंजामिन हाल कैनेडी थे जो बाद में कैम्ब्रिज में ग्रीक के प्रोफेसर नियुक्त हुए। दो वर्ष बाद, मनीषी एस० डब्ल्यू० मॉस के तत्त्वावधान में इन्होंने अध्ययन किया। वहीं पर वह पाँचवीं कक्षा में अनुत्तीर्ण हो गये क्योंकि स्कूल का प्रशासन क्लासिकी-भाषा के अध्ययन के विशेष अनुकूल था और ग्रियर्सन उसमें योग्यता प्राप्त न कर सके। इसके कतिपय साथी, जो बाद में बहुत प्रसिद्ध हुए, सर चार्ल्स येट, फ्रांसिस पेत्रोट थे, जो कि आक्सफोर्ड के विशप थे। टी० ई० पेज क्लासिकी के अध्यापक थे।

यह उच्च शिक्षा के लिये १८६८ में ट्रिनिटी कॉलिज डबलिन में प्रविष्ट हुए, जहाँ इनकी भेंट रॉबर्ट एटकिन्सन से हुई। राबर्ट एटकिन्सन अद्भुत प्रतिभावान प्रोफेसर थे। ये संस्कृत के ज्ञान से इतने परिपूर्ण थे कि यूरोप में यही ऐसे व्यक्ति थे, जिसे अष्टाध्यायी कण्ठाग्र थी, और किसी भी संस्कृत शब्द को अपने इस ज्ञान से सिद्ध कर देते थे। उनका पुस्तकालय भी बहुत बड़ा था। वह जुजुत्सु और छड़ी के व्यायाम में दक्ष थे। ग्रियर्सन इनसे सर्वाधिक प्रभावित हुए और इन व्यायामों के अतिरिक्त उन्होंने एटकिन्सन से वायलिन भी सीखा। १८७२ में संस्कृत और १८७३ में हिन्दुस्तानी में पुरस्कार प्राप्त करने के बाद ग्रियर्सन ने ब्रिटिश शासन की सेवा में प्रवेश लिया। एटकिन्सन ने उन्हें भारतीय भाषाओं के अध्ययन में प्रवृत्त होने की प्रेरणा दी।

डबलिन में, छात्रावस्था में रहते हुए ग्रियर्सन अपने घर वालों से भेंट करने के लिये प्रायः मालाहिड जाया करते थे। उनके जाने पर उनके घर पर बड़ा

आनन्दोत्सव मनाया जाता था। प्राय: यहाँ पर संगीत-समारोह हुआ करता था, जहाँ पर ग्रियर्सन भी अपने वायलिन से लोगों को आकृष्ट करते रहे। मालहिड में डबलिन के एक सर्जन मॉरिस कालिटस का परिवार भी रहता था। सर्जन की तो मृत्यु हो गई थी, लेकिन गियर्सन की बहन शार्लेट से इस परिवार का परिचय हो गया था। सर्जन की एक लड़की लूसी एलिजावेथ जीन थी, उसकी अवस्था १५ साल की थी। ग्रियर्सन इससे मिले और इसके प्रति आकृष्ट हो गये। किन्तु विवाह नहीं हो सका, क्योंकि १८७३ ई० में ग्रियर्सन की नियुक्ति बंगाल में हो गई और वे हिन्दुस्तान चले आये। १८७४ में छह मास के लिये ग्रियर्सन अकाल-पीड़ितों के कार्य देखते रहे। १८८० में, उन्होंने तीन मास का विशेष अवकाश लिया। लूसी एलिजावेथ सात वर्ष तक उनकी प्रतीक्षा में रही। इस अवकाश में ही उनका विवाह-कार्य सम्पन्न हुआ। वह अपनी पत्नी के साथ बिहार आये। आपकी नियुक्ति कुछ समय के लिये विद्यालय-निरीक्षक पद पर हुई और १८८१ में आप पटना के मजिस्ट्रेट और कलक्टर हो गये। उन्होंने पटना, गया और दरभंगा में अपने सेवाकाल का अधिकांश समय बिताया। इस बीच थोड़े दिनों के लिये (१८९२-१८९४) वे हावड़ा भी गये। १८९५ में वह पटना के सहायक-कमिश्नर बनकर आये। १८९६ में वह कुछ दिनों के लिये अफीम के एजेन्ट के पद पर रहे। १८९७-१८९८ में वह भारत के भाषा-सर्वेक्षण के सर्वोच्च अधिकारी नियुक्त हुए! १९०० ई० में वह विशेष अधिकारी नियुक्त हुए और अपने स्थान केम्बरले में रहकर भाषा-सर्वेक्षण के कार्य का निरीक्षण करने लगे। १९०३ में केम्बरले में रहते हुए, उन्होंने अवकाश ग्रहण किया और अपना मकान 'राथफार्नहम हाउस' बनाया। यह प्राचीन समय में इनके पुरुखों के स्थान का नाम था। वहाँ पर ये लगभग चालीस वर्ष तक अवकाश ग्रहण कर, अपने जीवन का कार्य करते रहे।

ग्रियर्सन का भारतीय-निवास केवल उनके सरकारी कार्यकलाप से मूल्यांकित नहीं किया सकता। उनका जीवन वास्तव में एक अधिकारी का जीवन न था, बल्कि जनता के प्रति उनका व्यवहार पिता तुल्य था। यह प्रसिद्ध है कि जब वह दौरे पर जाते थे, तो अशिक्षित किन्तु निर्धन किसानों की भीड़ उन्हें चारों ओर से घेर लेती थी, और अपना दुख-दर्द उन्हें सुनाने लगती थी। वह उनकी दुःख की गाथाओं में उतनी ही दिलचस्पी लेते थे, जितना कि पिता अपने पुत्र के प्रति लेता है। वह उनके संगीत और अन्य समारोहों में भी भाग लेते थे। एक प्रकार से उन्होंने स्वयं को वहाँ का निवासी बना लिया था।

भारत में साहित्यिक कार्य करने की परम्परा सर विलियम जोन्स, कोलब्रुक तथा बी०एच० हाग्सन के युग से चली आ रही है। ये विद्वान् यद्यपि सरकारी सेवा में रत थे फिर भी भारतीय-साहित्य को इन्होंने अपने अनुसंधानों ने अलंकृत किया।

इतिहास, मुद्राशास्त्र, अर्थशास्त्र एवं विधि आदि क्षेत्रों में जो अनुसंधान युरोपीय विद्वानों द्वारा सम्पन्न हुआ, उसका कारण उनकी व्यावहारिक उपयोगिता थी। ग्रियर्सन के अनुसंधान का क्षेत्र, भाषा भी इन्हीं विषयों के अन्तर्गत थी।

वास्तविक रूप में भाषा की संरचना तथा इसके विविध आयामों की खोज आकर्षण का केंद्र थी। इसके साथ ही विविध बोलियों के लोक-साहित्य के अध्ययन के लिये मानो ग्रियर्सन ने जन्म ही लिया था। इसके अध्ययन में उन्हें विशेष रस मिलता था।

साहित्य के अध्ययन में उनकी दृष्टि एकांगी और सीमित न थी। एक ओर तो वह तुलसी के प्रगीत तथा बिहारी के अलंकृत काव्य से आकृष्ट थे, तो दूसरी ओर वैदिक मंत्र, भारतीय नाटक तथा कालिदास की सौन्दर्यपूर्ण कृतियाँ उनके अध्ययन का विषय थीं। उन्होंने जिन भारतीय पंडितों के तत्त्वावधान में ज्ञानार्जन किया था; वे अद्वैतवाद के ज्ञान से परिपूर्ण थे। वे अत्यन्त सूक्ष्मदर्शी तथा शास्त्र की स्पष्ट व्याख्या में प्रवीण थे। इसके विपरीत ग्रियर्सन ने उन निरक्षर एवं मूढ़ग्रस्त कृषकों की संगति की थी, जो वृक्ष की एकांत छाया में परमपिता की कृपा में इतनी दृढ़ आस्था रखते थे, जिनके समक्ष अनेक ईसाइयों को भी लज्जित होना पड़ता था। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जिस लोकसाहित्य से ग्रियर्सन का सम्बन्ध था, वह विषय और विचार में मध्ययुगीन था। यह स्वाभाविक है कि ऐसे देश में, जिसकी साहित्यिक परम्परा अति प्राचीन हो, किन्तु जहाँ की जनता निरक्षर हो, उन्हें शिक्षित करने के लिये अनेक गायक, विभिन्न केन्द्रों में मौजूद हों। भारत में महाभारत तथा रामायण जनता के जीवन से घुले-मिले हैं। पुराणों तथा वाद के संस्कृत-साहित्य की भी अनेक जनप्रिय गाथायें प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी हैं। तुलसीदास तथा बिहारी की कृतियाँ आरम्भ से ही जनप्रिय न थीं, किन्तु ये अभ्यास से जनप्रिय हुईं। इनके प्रणेता प्राचीन साहित्यिक परम्परा से परिचित थे। इसीप्रकार की अनेक छोटी-मोटी कृतियों का प्रणयन हुआ। दसवीं शताब्दी के जनप्रिय लोकगाथा (बैलेड) में भी कोई नया विषय नहीं आया। इस साहित्य का अधिकांश भाग धार्मिक था तथा यह सिद्धान्त एवं दर्शन से जुड़ा हुआ था।

इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि भारतीय भाषाओं में, जनप्रिय कहानियों, कथाओं, मुहावरों एवं गीतों का भंडार है। इनके लेखकों के नाम प्रायः अज्ञात हैं। ग्रियर्सन के अनेक लेखों में ऐसे साहित्य को स्थान मिला है। उन्होंने इस साहित्य की उच्च स्तर की व्याख्या की है। ग्रियर्सन को परम्परा से ज्ञेय मौखिक साहित्य को एकत्र करने में विशेष रस मिलता था। ऐसे साहित्य के प्रणेताओं की परम्परा एवं तिथि आदि ढूंढ़ निकालने में भी उन्हें आनन्द आता था। वे स्थानीय पंडितों की सहायता से इस साहित्य को अनूदित करते थे और उसका सम्पादन कर प्रकाशित करते थे।

वास्तव में ग्रियर्सन की दिलचस्पी, साहित्य की अपेक्षा, भाषा में अधिक थी। अत्यन्त प्राचीनकाल से हिंदुओं की शिक्षा संस्कृत में तथा मुसलमानों की फारसी-अरबी में होती थी। प्रशासन की भाषा हिंदुस्तानी अथवा उर्दू थी। १९वीं शताब्दी के आरम्भ में संस्कृत एवं अरबी-फ़ारसी का विरोध हुआ और पहली बार जनता के सामने यह प्रश्न आया कि 'वर्नाक्युलर' से क्या तात्पर्य है। बँगला, हिंदी और पंजाबी का अस्तित्त्व पहले ही से स्वीकृत था, किन्तु इस बात पर ध्यान नहीं दिया गया कि भाषा का एक ऐसा क्षेत्र भी है, जिसका इन भाषाओं से सम्बन्ध नहीं है। ऐसी भाषा बिहार की बिहारी थी। वास्तव में, बिहार की भाषा को खोज निकालने वाले ग्रियर्सन न थे, अपितु हार्नली थे, जो सन् १८८० ई० में 'गौडियन' भाषा का तुलनात्मक व्याकरण प्रकाशित कर चुके थे। उस समय ग्रियर्सन बिहारी भाषाओं का अध्ययन कर रहे थे। समय की प्रगति के साथ, उनका बिहारी के प्रति प्रेम हो गया; किन्तु इससे यह तात्पर्य नहीं है कि उन्होंने बिहारी के प्रति कोई विशेष पक्षपात किया। उन्होंने भाषा वैज्ञानिक तर्कों से यह स्पष्ट किया कि बिहारी एक स्वतन्त्र भाषा है, और हिंदी से उसका सम्बन्ध नहीं है। उन्होंने संस्कृत भाषा का पक्ष नहीं लिया और एक जनभाषा की स्वीकृति के लिये प्रस्ताव किया।

जनभाषा के प्रति आकृष्ट होना भाषाविज्ञानी के लिये स्वाभाविक है, क्योंकि वह गाँव के लोगों से विशेष जुड़ा रहता है। ग्रियर्सन ने लोक-भाषा तथा विश्वास के संदर्भ में पर्याप्त मात्रा में लिखा और उसे प्रकाशित किया। इनके द्वारा प्रणीत 'बिहार पेजेन्ट लाइफ' (बिहार का कृषक-जीवन) एक कोश था, जिसमें कृषक-जीवन के सभी व्यापारों, उनके औजार तथा प्रयोग एवं अन्य विश्वास की शब्दावली संग्रहीत थी।

लोक-साहित्य के अध्ययन और क्षेत्रीय-भाषा के ज्ञान से सुस्थिर होकर, अब ग्रियर्सन भाषा-सर्वेक्षण के लिये तैयार थे। वह भाषा और व्याकरण के सम्बन्ध में अनेक शोधपूर्ण-लेख विविध-शोध-पत्रिकाओं में प्रकाशित कर चुके थे। उनके आरंभिक लेख 'एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल' के जर्नल में छपे थे, जो बाद में 'रॉयल सोसाइटी' में परिणत हो गयी थी। १८७३ से उन्होंने 'इण्डियन एंटीक्वेरी' में लिखना आरम्भ किया था। १८७६ ई० में, जब उनकी नियुक्ति उत्तर बंगाल के रंगपुर जिले में हुई थी, तो १८७७-७८ में रंगपुर की बँगला के सम्बन्ध में लेख लिखा था। उस बोली में मानिकचन्द्र की लोकगाथा (बैलेड) उपलब्ध थी। उन्होंने मनबोध की कविता का अनुवाद किया और प्रकाशित किया। सन् १८७७ ई० में इनका स्थानान्तरण भागलपुर में हो गया और इस सिलसिले से वह बहुत दिनों तक दरभंगा में रहे। ग्रियर्सन के जीवन में, इस युग को एक प्रकार से "बिहारी युग" कहना चाहिये। इस अवधि में उनके अनेक मौलिक ग्रंथ प्रकाशित हुए। १८८४ में आपने मैथिली में

इक्कीस वैष्णव-गीत प्रकाशित किये। इसी वर्ष उन्होंने भोजपुरी में 'विजयमल की गाथा' प्रकाशित की तथा इसके साथ ही कतिपय मैथिली और भोजपुरी के नमूने प्रकाशित किये। १८८५ में आपने मैथिली में कनारपी घाट की लड़ाई का वर्णन प्रकाशित कराया और इसी वर्ष गोपीचन्द (भर्तृहरि) के गीत का प्रकाशन हुआ। इसमें से कतिपय लेख 'रॉयल एशियाटिक सोसाइटी' के जर्नल में प्रकाशित हुए थे और अन्य लेख 'जर्मन ओरिएंटल सोसाइटी' के जर्नल में। १८८१ ई० में 'मैथिली का व्याकरण' छपा तथा १८८३ ई० में बिहारी भाषा के सात व्याकरण प्रकाशित हुए। इसके साथ ही 'बिहारी क्रिया-रूपों तथा संज्ञा-रूपों' के सम्बन्ध में उनका लेख प्रकाशित हुआ। ये सब ग्रियर्सन की मौलिक कृतियाँ थीं, जिन्हें उन्होंने कठिन परिश्रम से तैयार किया था। इसी समय उन्होंने बिहारी भाषाओं के तुलनात्मक कोश का निर्माण किया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उनका 'बिहार पेजेन्ट लाइफ' सन् १८८५ में प्रकाशित हुआ था।

बिहार के पश्चिम में, हिंदी का क्षेत्र है। इस क्षेत्र का प्राचीनकाल से महत्व है। यहीं अवध है, जहाँ की भाषा में तुलसीदास ने रामायण (रामचरितमानस) की रचना की है। वास्तव में राम के उपासक वैष्णव सम्प्रदाय का मानस, 'बाइबिल' है। यहीं कृष्ण सम्प्रदाय के वैष्णवों का भी निवास-स्थान है, जिसमें प्रगीत-काव्य की रचना हुई है। इसके साथ यहाँ सिख-सम्प्रदाय का आदि-ग्रन्थ लिखा गया है, जिसका अधिकांश भाग व्रजभाषा में है। यह उल्लेखनीय है कि उत्तर-भारत की भाषा में अनेक प्रचलित गाथायें भी हैं, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। डबलिन में उर्दू के अध्ययन के लिये पुरस्कृत ग्रियर्सन को हिंदी का ज्ञान प्राप्त करने में बहुत समय नहीं लगा। सन् १८८०-८१ ई० में आपने बिहारी-भाषाओं को हिंदी से स्वतन्त्र स्थान दिलाने का कलकत्ता रिव्यू में लेख लिखा था। इस सिलसिले में भी आपने हिंदी का अध्ययन किया था, किंतु सन् १८८५ ई० से आपने हिंदी का विशेष अध्ययन किया। ग्रियर्सन ने अपने हिंदी के अध्ययन के फलस्वरूप, एक शोध-निबंध लिखा था। इसमें मध्य-कालीन हिन्दी-साहित्य का अध्ययन किया गया था। इस शोध-निबंध में 'तुलसीदास' का विशेष अध्ययन प्रस्तुत किया गया था। यह शोध-निबंध सन् १८८६ ई० में वियना के अन्तर्राष्ट्रीय-सम्मेलन में पढ़ा गया था। ग्रियर्सन ने १८८६ ई० में 'मॉडर्न वर्नाकुलर लिटरेचर ऑफ हिंदुस्तान' लिखा था, जो 'एशियाटिक सोसाइटी' से प्रकाशित हुआ था। इसमें आपने नौ सौ पचास कवियों का जीवन-वृत्त दिया था। इसके साथ ही उनके काव्य की संक्षिप्त आलोचना भी उन्होंने इसमें की। इसमें केवल सत्तर कवि ऐसे थे, जिनका उल्लेख तासी के हिंदी साहित्य के फ्रेंच में लिखित इतिहास में हुआ था। १८९० ई० में आपने छत्तीसगढ़ी के व्याकरण को अंग्रेजी में अनूदित किया था और उसका सम्पादन भी किया था। इसीप्रकार १८९३ ई० में पद्मावती (जायसी-

कृत पद्मावत) पर आपने आलोचनात्मक तथा विश्लेषणात्मक लेख लिखकर प्रकाशित कराया था। इसी के साथ आपने श्रद्धापूर्वक तुलसी का अध्ययन किया और पुनः एक गवेषणात्मक लेख लिखा। १८६४ ई० में आपने जसवंत सिंह कृत 'भाषाभूषण' का सम्पादन किया तथा व्याख्या सहित विहारी सतसई का प्रकाशन किया। पुनः आपने पाठालोचन की दृष्टि से पद्मावत का पाठ एवं उसकी व्याख्या प्रकाशित की। इन कृतित्वों के प्रकाशन के वावजूद भी ग्रियर्सन के जीवन में 'हिंदी-युग का आविर्भाव' नहीं कहा जा सकता। सन् १८८६ ई० में ग्रियर्सन ने जिप्सी भाषा तथा साहित्य में दिलचस्पी लेना प्रारम्भ किया। उनकी पत्नी ने एक अंग्रेजी-जिप्सी परिशिष्ट तैयार किया था। पुनः ग्रियर्सन ने जिप्सी भाषा के आविर्भाव के सम्बन्ध में 'इंडियन एंटीक्वेरी' में लेख लिखा तथा उसे 'जिप्सी-लोर सोसाइटी' के जर्नल में प्रकाशित किया। सन् १९२८ से १९३० तक आप जिप्सी सोसाइटी के सभापति भी थे।

भाषा के इतिहास और तुलनात्मक अध्ययन के लिये ही इन्होंने जिप्सी भाषा का अध्ययन किया था। १८८८ ई० में आपने सेनार्ट के साथ प्रियदर्शी अशोक की तीसरी शताब्दी ई० पू० के शिलालेखों को अनूदित किया और पालि-प्राकृत के सम्बन्ध में शोधपूर्ण लेख लिखा। ऐसा प्रतीत होता है कि सन् १८८६ ई० में, प्राच्य-कांग्रेस में, भाग लेने तथा उसमें यूरोपीय विद्वानों के संपर्क में आने के कारण ग्रियर्सन धीरे-धीरे भाषा के तुलनात्मक अध्ययन में प्रवृत्त हुए। यूरोप के विद्वानों ने हिंदुस्तान के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा था, उसकी प्रगति पर आपने 'इंडियन एंटीक्वेरी' में एक लेख प्रकाशित किया। आपके इस अध्ययन-काल को 'भारतीम आर्य भाषा के अध्ययन-काल' से अभिहित किया जा सकता है। १८९५-९६ ई० में आप अपने अध्ययन के शीर्ष बिंदु पर थे। इस अवधि में आपने भारतीय आर्यभाषाओं की ध्वनि, स्वराघात, पद-रचना एवं क्रिया की काल-व्यवस्था के सम्बन्ध में कई खोजपूर्ण लेख लिखे। इन लेखों में आपने आर्यभाषाओं की पारस्परिक एकता का भी उल्लेख किया।

आपके अध्ययन का अगला क़दम काश्मीर की भाषा थी। सन् १८९४-९५ ई० में आप अवकाश पर थे और इस अवधि में अपना समय कश्मीर में बिताया। कश्मीरी और भारतीय आर्यभाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से ग्रियर्सन को पर्याप्त अन्तर मिला। सन् १८९९ ई० के पूर्व उन्होंने नौ या दस शोध-निबंध कश्मीरी भाषा की संरचना के संदर्भ में प्रकाशित किये। इसके साथ-ही-साथ सन् १८९५ ई० में इन्होंने बर्कहार्ड के कश्मीरी व्याकरण को सम्पादित करके प्रकाशित कराया। इसी समय आपने पंडित ईश्वर कौल के 'काश्मीर-शब्दामृत' को सम्पादित किया। वह संस्कृत में लिखित शब्दकोश था। कश्मीरी की खोज एवं उसके अध्ययन तथा विश्लेषण से ग्रियर्सन के भारतीय आर्य भाषा के इतिहास के ज्ञान में वृद्धि हुई। आपने शिणा भाषा पर अपनी भूमिका के साथ खोजपूर्ण लेख प्रकाशित कराया।

इसके सम्बन्ध में, जेम्स विल्सन पहले ही से लिख चुके थे। ग्रियर्सन ने यह सिद्ध किया कि दरद, शिणा तथा काफिरी भाषाओं का एक समूह है, जो कश्मीर से लेकर हिंदुकुश पर्वत की तराई तक प्रचलित है। आपने यह अनुभव किया कि इन भाषाओं में एक विशेष तत्त्व विद्यमान है, जो भारतीय आर्यभाषाओं में नहीं है। सन् १९०० ई० में आपने 'पयी', 'लगमानी', और 'देहगानी' के सम्बन्ध में जर्मनी के प्राच्य जर्नल में लेख लिखा। पुनः एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल में आपने एक लेख प्रकाशित कराया जिसका शीर्षक था—'भारत की उत्तरी-पश्चिमी सीमांत प्रदेश की भाषाएँ'। ग्रियर्सन ने इन भाषाओं का एक मानचित्र भी दिया था, और यह स्थापित करने का उद्योग किया था कि इन भाषाओं का सम्बन्ध प्राचीन-वैदिक-भाषा से है। साथ ही बाद की प्राकृत भाषाओं के विकास में इनका कुछ भी योगदान नहीं है; किन्तु बाद में उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया कि इन भाषाओं की पितृ-भाषा 'भारत-ईरानी वर्ग' की हो सकती है। इस भाषा का, वैदिक-भाषा से स्वतंत्र अस्तित्व था। बाद में १९०६ में उन्होंने एक पुस्तक का प्रणयन किया, जिसमें भारत के उत्तरी-पश्चिमी सीमांत स्थित भाषाओं का वर्णन था। उन्होंने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि ये भाषाएँ वास्तव में स्वतन्त्ररूप से अफगानिस्तान और भारत के सीमांत-प्रदेश में लाई गई हैं। इनका उद्‌भव काबुल के दर्रे से आगत आर्यों की वैदिक भाषा से नहीं हुआ था। इसप्रकार ग्रियर्सन ने पिशाच भाषा के क्षेत्र को विस्तृत बनाया। आपने इनका सम्बन्ध भारत-ईरानी भाषाओं से जोड़ा।

यह विचार बहुत पुराना है कि आर्यों ने भारत पर एक के बाद दूसरा आक्रमण किया। हार्नेली ने इस आधार पर भारतीय-भाषाओं (आर्य-भाषाओं) का वर्गीकरण किया था। यह वर्गीकरण भीतरी तथा बाहरी उपशाखा की भाषाओं के रूप में, उन भाषाओं के, रूपगत भेद पर आधारित था। भीतरी भाषा की उपशाखा के अन्तर्गत पंजाबी, हिंदी, राजस्थानी एवं गुजराती की गणना की जाती है। यह नवागत अथवा आर्यों के दूसरे आक्रमण की भाषाएँ हैं। यह उन आर्यों की भाषाएँ हैं, जिन्होंने मध्यदेश में आकर अपने पूर्वागत आर्यों को चारों ओर फैलने के लिये बाध्य किया था। ये नवागत आर्य 'पच्चड़' की तरह बीच में, आ बसे और पूर्वागत आर्य दक्षिण, पूर्व तथा कुछ हद तक उत्तर की ओर फैल गये। हार्नेली ने आधुनिक आर्य-भाषाओं का वर्गीकरण किया था; उससे ग्रियर्सन सहमत थे, किन्तु वे उनके सिद्धान्त से यत्किंचित् सहमत नहीं थे। यद्यपि आपने इसे सर्वथा अस्वीकार भी नहीं किया। जहाँ तक आर्य-भाषाओं के वर्गीकरण का प्रश्न था, ग्रियर्सन ने कोई नया वर्गीकरण नहीं किया। पिशाच भाषाओं के सम्बन्ध में ग्रियर्सन ने जो सिद्धान्त प्रतिपादित किया था, उससे इसका बिल्कुल सम्बन्ध न था। वास्तव में, यह द्वितीय आक्रमण का सिद्धान्त था। सच बात तो यह है कि पिशाच भाषाएँ भारत के बाहर की

भाषाएँ थीं और यह सिंध की भूमि में प्रचलित थीं। पिशाच नाम के सम्बन्ध में अवश्य कुछ विवाद है, किन्तु यहाँ हमें इस विषय में कुछ भी नहीं कहना है। जहाँ तक प्रमाण एवं साक्ष्य की बात है, ईरानी भाषाओं तथा पिशाच भाषाओं की समानता से कुछ भी सिद्ध नहीं होता, हाँ, प्राचीन वैदिक-भाषा से इसका सम्बन्ध हो सकता है। इसमें संदेह है कि ग्रियर्सन ने इस समस्या को तर्क के द्वारा पूर्णरूप से विश्लेषित करने का यत्न किया है। किन्तु पिशाच भाषाओं के एक समूह के सम्बन्ध में, सबसे अद्यतन खोज करने वाले ओसलो के प्रोफेसर मार्गेन इस्टाइन हैं। उनके अनुसार पिशाच भाषा का भारतीय मुख्य आर्य-भाषा से कोई सम्बन्ध नहीं है।

अब तक सन् १८६८ का वर्ष व्यतीत हो चुका था। इसी वर्ष में सरकार ने ग्रियर्सन को भाषा-सर्वेक्षण का कार्य सौंपा था। इस समय उनकी आयु अड़तालीस वर्ष की थी। सर्वेक्षण का कार्य उनके शेष जीवन तक निरन्तर चलता रहा किन्तु ग्रियर्सन ने अत्यधिक मात्रा में मौलिक अनुसन्धान किया था जिसका वर्णन किया जा चुका है। यह कार्य उन्होंने अपनी अतिरिक्त ऊर्जा से किया था क्योंकि सरकारी कार्य से जो अवकाश मिलता था, उसी में यह कार्य सम्पन्न किया जाता था। अब भाषा-सर्वेक्षण का कार्य उनके सामने था किन्तु इसमें व्यस्त रहते हुए वह अन्य मौलिक कार्य करने के लिये समय निकाल लेते थे। उनके जीवन के तीस बहुमूल्य वर्ष 'भाषा-सर्वेक्षण' में लगे किन्तु अब भी वे भारतीय-भाषा, साहित्य एवं धर्म पर अनुसन्धान करते रहे। वह अनुसन्धान कार्य में इतने दृढ़ रहे कि पुरातन विषयों पर पुनः नये तर्क देकर लिखने लगे और यह भी ध्यातव्य है कि यह कार्य पूर्व की अपेक्षा श्लाघ्यतर रहा है। यहाँ सर्वेक्षण के अतिरिक्त, उन्होंने जो कार्य किया, उसका लेखा-जोखा प्रस्तुत किया जाता है।

जहाँ तक भारतीय लोक-साहित्य का सम्बन्ध था, वह 'फोकलोर के जर्नल' में बराबर लिखते रहे। वह भारतीय लोक-कथाओं का समानान्तरण, पाश्चात्यलोक में अन्वेषण करने में प्रयत्नशील रहे। सन् १६२६ में उनके 'विहार पेजेन्ट लाइफ' (विहार कृषक-जीवन) का अभिनव संस्करण प्रकाशित हुआ।

भारतीय धर्म तथा विशेष सम्प्रदाय के सम्बन्ध में ग्रियर्सन ने 'इनसाइक्लोपीडिया ऑव रिलीजन एण्ड एथिक्स' में अनेक लेख लिखे। सन् १६२६ से वेदान्त 'अद्वैतवाद' के प्रति इनका आकर्षण बढ़ता गया। इसके सम्बन्ध में प्रथमतः ही कहा जा चुका है, उसे वह बुद्धिवादियों तथा पण्डितों का धर्म मानते थे। इसके विपरीत वे लोक में प्रचलित एकमात्र परमपिता परमात्मा की भक्ति में अखण्डश्रद्धा भाव से अपने को समर्पित करते रहे। भारत में विशेषतः हिन्दू-जीवन में अद्वैतवाद का कितना गहरा प्रवेश है और कितना परमात्मा की भक्ति का, यह सूक्ष्म विश्लेषण का विषय है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि ईश्वर के प्रति भक्ति अथवा 'प्रपत्ति' का भारत

के धर्म में सशक्त स्थान रहा है। ग्रियर्सन का पहले यह विश्वास था कि ईश्वर के प्रति सर्वसमर्पण की भावना भारत में प्राचीन इसाई धर्म से आयी; किन्तु बाद में उन्हें यह स्वीकार करना पड़ा कि भारतीय-भक्ति, इसाई धर्म से बहुत पुरानी है और भागवत धर्म, जिसमें ईश्वर के प्रति सर्वसमर्पण का भाव है, उसका साकल्येन समर्थन करता है। ग्रियर्सन का मत रहा कि 'महाभारत' में 'श्रीमद्भगवद्गीता' का ज्ञान वहीं अन्यत्र से आया। उनकी धारणा में, इसमेंई रानी धर्म का प्रभाव है। १९०७ में 'नेस्टोरियन सम्प्रदाय का हिन्दू धर्म पर ऋण' नामक लेख लिखा। इन्होंने तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय धर्म सम्मेलन में 'हिन्दू धर्म तथा प्राचीन इसाई धर्म' नामक लेख पढ़ा। इसके अतिरिक्त—'हिन्दू धर्म तथा भक्ति', 'आधुनिक हिन्दू धर्म', 'नारायणीय और भागवत धर्म' तथा 'भक्तमाल' के सम्बन्ध में भी लेख लिखे जो १९०७ से १९११ के बीच प्रकाशित हुए।

ग्रियर्सन का शेष समय भाषिक अध्ययन में व्यतीत हुआ। आपने १९०७ ई० में 'इम्पीरियल गजेटियर' के लिये आधुनिक आर्य-भाषाओं के सम्बन्ध में एक लेख लिखा। पुनश्च १९२० से १९३० के मध्य इसी विषय पर 'बुलेटिन ऑव द ओरियण्टल स्टडीज' का लेख लिखते रहे। इसके पश्चात् सन् १९३२ ई० में 'आल्ह खण्ड' का अनुवाद प्रकाशित कराया। इसी वर्ष 'लोरिक' की जन्म कथा भी लिखी।

काश्मीर की कश्मीरी भाषा की चर्चा की जा चुकी है। इसकी कवयित्री 'लाल दे' की कविता 'लल्लावाक्यानि' का आपने अनुवाद किया। इसीप्रकार सन् १९३० ई० में आपने काश्मीरी रामायण का सम्पादन एवं प्रकाशन किया और 'शिव परिणय' भी प्रकाशित हुआ। सन् १९१५ ई० में आपने काश्मीरी भाषा का वर्गीकरण एवं प्रकाशन किया। इसीप्रकार सन् १९१५-१९३२ में काश्मीरी कोश प्रकाशित किया जिसमें आपके सहायक मुकुन्दराम शास्त्री थे।

जिस समय ग्रियर्सन बोलियों का अध्ययन कर रहे थे, उसी समय उनका ध्यान भाषा-सर्वेक्षण के महत्त्वपूर्ण कार्य की ओर गया था। ये बोलियाँ प्राकृत से प्रादुर्भूत थीं और इनका तुलनात्मक अध्ययन दिलचस्प था। भारतीय-आर्य-भाषा के इतिहास में प्राकृत एक अवस्था है जिसमें प्राचीन-वैदिक-संस्कृत के उच्चारण तथा व्याकरण में परिवर्तन हुआ था। चतुर्थ शती ईसवी पूर्व में ही, मध्य-भारतीय आर्य-भाषा, प्रशासन की और कुछ हद तक साहित्यिक-भाषा बन गई थी। समय की प्रगति से प्राकृत में जन-प्रिय साहित्य की सृष्टि हुई तथा इसे कतिपय धार्मिक सम्प्रदायों ने अपनाया। स्वाभाविक रीति से जनभाषा परिवर्तित हो गयी। ईसवी की सातवीं शती में जब इसमें साहित्य-रचना होने लगी तब इसे अपभ्रंश नाम से अभिहित किया गया। उस समय यह संश्लिष्टावस्था में न थी और आधुनिक आर्य-भाषाओं की पूर्व अवस्था में आ गयी थी। ग्यारहवीं शती ईसवी में, इसमें विशेष

परिवर्तन परिलक्षित होने लगा था। इस समय संस्कृत के संज्ञा और क्रिया-रूप जो संश्लिष्टावस्था में थे, समाप्त हो गये और अब परसर्गों या अनुसर्गों का प्रयोग होने लगा था। ये परसर्ग भी पहले पूर्ण शब्द थे किन्तु घिसपिट कर इनका रूप लघु हो गया था। क्रिया में भी तिङन्तीय रूपों के स्थान पर कृदन्तीय रूप का प्रयोग प्रचलित हो चला था। यह स्थिति अस्वाभाविक न थी और उपलब्ध साहित्य की सहायता से इसका अध्ययन कठिन नहीं है। प्रायः प्रत्येक देश के साहित्य में इसीप्रकार से परिवर्तन होता आया है। किन्तु प्राकृत के इतिहास के अध्ययन में इसमें थोड़ा विक्षेप मिलता है। बात यह है कि बहुत प्राचीन समय में ही प्राकृत की ओर वैयाकरणों का ध्यान आकर्षित हो गया था। उन्होंने इनकी स्वनात्मक (=ध्वन्यात्मक) विशेषता तथा शब्द-समूह का अध्ययन किया और इसप्रकार वह कृत्रिम घेरे में आ गयी। उनके प्रयोग के नियम बनाये गये। इसप्रकार प्रत्येक प्राकृत नियमबद्ध हो गयी और इसका प्रयोग वे लेखक भी करने लगे जिनकी यह मातृभाषा न थी। जैसे-जैसे समय व्यतीत होता गया, बोल-चाल की भाषा से इन प्राकृतों का कोई सम्बन्ध न रहा। प्राकृत के अध्ययन के लिए लोगों को इसका व्याकरण पढ़ना पड़ता था। इसप्रकार ये मृत बन गयीं। जो प्राकृतें नाटकों या पुस्तकों में मिलती हैं, वे व्याकरण के आधार पर तैयार की हुई हैं और इसमें सन्देह है कि इनका सम्बन्ध किसी बोली से है। इसमें जहाँ कहीं अशुद्धि मिलती है वह इसलिए नहीं कि ये बोल-चाल के रूप हैं, अपितु प्रतिलिपि करने वालों की भूल के कारण है।

ग्रियर्सन को विभिन्न बोलियों में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करना था। यह कार्य उन्हीं नियमों के आधार पर करना था जिन्हें वैयाकरणों ने लिखा था। पुनः आधुनिक भाषाओं से इनका सम्बन्ध स्थापित करना था। यह विषय बहुत पुराना था। कई विद्वान् लेखकों ने इस सम्बन्ध में लिखा भी था तथा उनके विचार बहुत-कुछ सन्तोषजनक भी थे। किन्तु इससे ग्रियर्सन को सन्तोष नहीं हुआ और उन्होंने इस विषय में अपनी खोज जारी रखी। उन्होंने प्राकृत वैयाकरणों के दो सम्प्रदायों (स्कूलों) को ढूंढ़ निकाला। इसमें एक सम्प्रदाय का सम्बन्ध प्राच्य से और दूसरे का पश्चिम से था। ग्रियर्सन ने प्राकृतों के कई स्थानीय नाम रखे और उनकी विशेषता का वर्णन किया। उन्होंने इसे 'विभाषा' नाम से अभिहित किया। उन्होंने मूल संस्कृत के व्याकरण के ग्रन्थों का सम्पादन किया और उसमें जो वैमत्य था, उसमें सामंजस्य स्थापित किया। उन्होंने सन् १९१८ ई० में 'प्राकृत-विभाषा' नामक ग्रन्थ लिखा और १९२२ में 'अपभ्रंश-स्तवक' का प्रकाशन किया। इसीप्रकार पूर्वी और पश्चिमी वैयाकरणों के अनुसार 'प्राकृत धात्वादेश' का उन्होंने १९२४ ई० में और रामशर्मन द्वारा लिखित 'शौरसेनी तथा मागधी स्तबक' का १९२७ ई० में प्रकाशन किया। उन्होंने अपभ्रंश के अध्ययन में विशेष रस लिया। अपभ्रंश भाषाएँ

आधुनिक भाषाओं के पहले प्रचलित थीं। किन्तु सबसे अधिक आपने उत्तर-पश्चिम की पैशाची का अध्ययन और नामकरण किया तथा अन्य भाषाओं के साथ इसका सम्बन्ध स्थापित किया। आपने १९१२ ई० में इस विषय पर 'जर्मन ओरिएण्टल सोसाइटी' के जर्नल में लेख प्रकाशित किया। यह लेख इस विषय पर पूर्ण दृढ़ता के साथ लिखा गया था। किन्तु भारत के धार्मिक इतिहास में सब प्रक्रियायें जटिल हैं और वास्तविक सत्य का पता लगाना नितान्त कठिन है। जिन प्राकृतों का उल्लेख नहीं हुआ है अथवा जिनके सम्बन्ध में वैयाकरणों ने विभिन्न मत प्रकाशित किया है; जहाँ लिखित भाषा तथा बोलचाल की भाषा में अन्तर है और जहाँ वर्तनी में भी विभिन्नता मिलती है, उनके ऊपर भी ग्रियर्सन ने अपनी टिप्पणी प्रकाशित की हैं और उनकी स्वनिमिक (=ध्वन्यात्मक) विशेषता का अध्ययन किया है। इसप्रकार का उनका एक लेख १९०४ ई० में अशोक के शाहबाजगढ़ी के शिलालेख के सम्बन्ध में प्रकाशित हुआ है। पालि के विषय में उनका विचार है कि वह तक्षशिला के विश्वविद्यालय में प्रादुर्भूत हुई और इसके ऊपर पैशाची का प्रभाव पड़ा।

ग्रियर्सन ने भारतीय लिपि और व्याकरण के पारिभाषिक शब्दों के विषय में भी कार्य किया। उन्होंने यद्यपि लिपि का ऐतिहासिक अध्ययन नहीं किया, किन्तु १८८१ ई० में कैथी लिपि के सम्बन्ध में लिखा और १८९९ ई० में भी उन्होंने इस सम्बन्ध में कार्य किया। आधुनिक आर्यभाषाओं की लिपियों के विषय में उन्होंने पश्चिमी भारत की लिपियों के सम्बन्ध में कार्य किया और १९०४ ई० में एक लेख प्रकाशित किया जिसमें टकरी लिपि तथा कश्मीर की शारदा लिपि के विषय में लेख प्रकाशित किया।

भारत के भाषा सर्वेक्षण में उन्होंने अन्य स्थानीय लिपियों के विषय में भी लिखा। प्रोफेसर ई० ए० सोनेश्वर ने एक ओरिएण्टल कमेटी का गठन किया था। इसका उद्देश्य यह था कि 'क्लासिक एसोसिएशन' द्वारा स्वीकृत व्याकरण के पारिभाषिक शब्दों को भारतीय भाषाओं में भी लागू किया जाय। यह बड़ा व्यावहारिक प्रश्न था। प्रश्न यह था कि ग्रीक और लैटिन परम्परा के शब्दों को किस प्रकार भारतीय भाषाओं से सम्बद्ध किया जाय। ग्रियर्सन ने इस समिति की बैठकों में भाग लिया और अपने कई व्यावहारिक सुझाव दिये। समिति की रिपोर्ट १९३० ई० में आक्सफोर्ड प्रेस से प्रकाशित हुई थी।

यहाँ ग्रियर्सन के कृतित्व के सम्बन्ध में भी विचार करना आवश्यक है। इसका सम्बन्ध यद्यपि सर्वेक्षण से है, किन्तु उन्होंने स्वतन्त्ररूप से इस विषय में जो कार्य किया, वह भी विचारणीय है। १९०१ ई० में उन्होंने राजस्थानी बोलियों का वर्गीकरण किया और हिन्दी तथा गुजराती से इसका सम्बन्ध दिखलाया। सन् १९१४ ई० में इसीप्रकार पहाड़ी भाषाओं पर अपना लेख प्रकाशित किया। १९०७ ई० में

आपने 'ओरिएण्टल सोसाइटी' के जर्नल में कुमाउँनी भाषा के 'विषय में लेख लिखा और इसी में आपने नेपाल की नेपाली या खस भाषा के सम्बन्ध में भी विचार व्यक्त किया। सन् १६०२ ई० में आपने 'मुग्धबोधमौक्तिक' का प्रकाशन किया जिसमें गुजराती की प्रारम्भिक अवस्था का वर्णन था। एक स्वतन्त्र लेख आपने तिराही तथा तोरवाली पर प्रकाशित कराया। इसके लिए आपने आर० एल० स्टाइन से सामग्री प्राप्त की। आपने 'दरद' समूह की बोलियों पर व्याकरण लिखा और इसके शब्द-समूह पर भी बिचार किया। आपने दक्षिणी-पश्चिमी अफगानिस्तान की बोली 'ओरमूरी' अथवा 'बरजिस्ता' पर अनुसन्धान किया। इस बोली में उन्हें दरद भाषाओं के सम्बन्ध में विशेषतायें मिलीं। इसीप्रकार आपने सन् १६२० ई० में 'इस्काश्मी', 'जेबेकी' तथा 'यज्गुला' बोलियों पर अनुसन्धानात्मक लेख लिखा। ये पामीर की ईरानी बोलियाँ थीं और इनके विषय में भी आपने आर० एल० स्टाइन से सामग्री प्राप्त की थी। ये सभी कार्य आपने अत्यन्त परिश्रम से सम्पादित किये। आपने इन बोलियों की स्वनिम (=ध्वनि), व्याकरण तथा शब्द-समूह का सूक्ष्म एवं विस्तृत अध्ययन किया था। इसीप्रकार आपने 'अहोम' भाषा का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया था। अहोम असम प्रदेश की प्राचीन भाषा थी। इसका सम्बन्ध स्यामी थाई राजाओं से था। इसीप्रकार, सन् १६०२ ई० में आपने स्टेनकोनो के साथ 'कूकी-चीनी' भाषा पर लेख लिखा। इनका यह लेख 'इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका' के ग्यारहवें संस्करण में प्रकाशित हुआ था।

भाषा के साथ-साथ सामान्यरूप से सुर (टोन) की समस्या भी है। चीनी भाषा में सुर की प्रधानता है। एकाक्षर परिवार की भाषाओं में सुर का अत्यधिक महत्त्व है, क्योंकि यहाँ सुर के कारण शब्द के अर्थ में परिवर्तन हो जाते हैं। कतिपय भाषाओं को लिखने में भी सुर के लिए चिह्न का प्रयोग होता है। विभिन्न भाषाओं में विभिन्न प्रकार के सुर भी मिलते हैं। ग्रियर्सन ने जब भाषाओं के शब्द-समूह का तुलनात्मक अध्ययन प्रारम्भ किया तो सुर को प्रदर्शित करने के लिए चिह्न की आवश्यकता प्रतीत हुई। उन्होंने इस विषय में व्यवस्थित रूप से विचार किया तथा सन् १६२० ई० में एक लेख लिखा। ग्रियर्सन का बिचार था कि भारतीय-भाषाओं में जो सुर उपलब्ध होता है, वह विशेषरूप से व्यंजनों के अनुक्रम में आने से होता है। वैदिक-भाषा में जो सुर मिलता है, वह संगीतात्मक होता है। वह एकाक्षर परिवार की भाषाओं की तरह नहीं होता।

अब भाषाओं के सम्बन्ध में विचार किया जाता है। प्राचीन समय से लेकर आज तक अनेक ऐसे सरकारी कर्मचारी, मिशनरी, यात्री एवं खोज करने वाले विद्वान् रहे हैं जो किसी भाषा विशेष के सम्बन्ध में बराबर सूचना देते रहे हैं, और कुछ विद्वान् जैसे ब्रायन, हॉटन, हाक्सन भी रहे हैं जो कि भाषाओं के सम्बन्ध में खोज

करते रहे हैं और उनका वर्गीकरण भी करते रहे हैं। पुनः सर जार्ज कैम्पबेल जैसे सरकारी अधिकारी भी रहे हैं जो भाषाओं के नमूने एकत्र करते रहे हैं और इसके बाद उन्होंने उसका तुलनात्मक अध्ययन भी सम्पन्न किया। सन् १८५६ ई० में कॉड-वेल ने दक्षिण की द्रविड़ भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया। १८६७-७२ में बीम्स ने और १८७२-८० तक हार्नली ने आर्य-भाषाओं का व्यवस्थित अध्ययन किया। सन् १८८६ ई० में 'वियना के प्राच्य विद्या सम्मेलन' में अन्य विद्वानों की सम्मति के साथ ग्रियर्सन ने यह प्रस्ताव रखा कि भारत की भाषाओं का सर्वेक्षण होना चाहिए। सन् १८९४ ई० में इसके लिए उपयुक्त अवसर आया और देश के विभिन्न प्रान्तों के प्रशासकों ने इस सम्बन्ध में बातचीत की तथा १८९८ ई० में भाषा-सर्वेक्षण की योजना स्वीकृत हुई। सौभाग्य से इसके संचालक ऐसे व्यक्ति मिले जो इस देश की भाषाओं, विशेषरूप से ग्रामीण बोलियों ही से परिचित नहीं थे, अपितु भाषा-विज्ञान के निष्णात विद्वान् थे। यह कार्य वैज्ञानिक ढंग से सम्पन्न होना था और यह सौभाग्य था कि ग्रियर्सन जैसे मनीषी विद्वान् इसके निरीक्षण के लिए नियुक्त हुए। यह भाषा-सर्वेक्षण केवल उसी क्षेत्र का नहीं होना था, जिस पर ब्रिटिश सरकार का अधिकार था, अपितु उसके बाहर के क्षेत्र की भाषाओं का भी अध्ययन करना था। यह कार्य नितान्त कठिन था, क्योंकि इस प्राचीन कहावत 'चार कोस पर पानी बदले दस कोस पर बानी' के अनुसार थोड़ी ही दूर पर भाषा में परिवर्तन आ जाता है। इसलिए भाषाओं का नमूना एकत्र करने के लिए व्यक्तिगत पत्र-व्यवहार की आवश्यकता थी।

भाषा-सर्वेक्षण के लिए तीन प्रकार की व्यवस्था की गयी—(क) बाइबिल के 'उड़ाऊ-पूत' (=प्रोडिगलसन) की कहानी का शब्दशः अनुवाद किया गया। (ख) किसी गद्यात्मक कहानी का अनुवाद किया गया। (ग) प्रत्येक बोली के वाक्यांश, वाक्य और शब्द-समूह एकत्र किये गये। साधारणतः प्रत्येक बोली के कई नमूने लिये गये। फिर इसके बाद अत्यन्त सूक्ष्मता से इन नमूनों का परीक्षण तथा चयन किया गया। पुनः प्रत्येक भाषा का संक्षिप्त-व्याकरण दिया गया जिसमें स्वनात्मक (=ध्वन्यात्मक) पदग्रामिक और वाक्य का अध्ययन किया गया। इसके साथ ही प्रत्येक बोली का भौगोलिक-क्षेत्र और उसके बोलने वालों की संख्या भी दी गयी। इसके बाद भाषाओं और बोलियों का पारस्परिक सम्बन्ध भी निर्धारित किया गया तथा उन्हें समूहों और उप-समूहों में बाँटा गया। प्रत्येक बोली की आरम्भिक भूमिका दी गयी और उनके शब्द-समूह का भी अध्ययन किया गया तथा रंगीन मानचित्र में इन बोलियों का क्षेत्र भी अंकित किया गया।

सर्वेक्षण के आरम्भ में एक ऐसी सूची तैयार की गयी जो क्षेत्रीय-भाषाओं के नाम के सम्बन्ध में थी। बोलियों और भाषाओं का वर्गीकरण स्वयं ग्रियर्सन ने

किया। स्वाभाविक रूप से इन बोलियों के वर्गीकरण के सम्बन्ध में जो अनुसन्धान हुए थे और जिनमें ग्रियर्सन ने स्वयं भाग लिया था, उन्हें स्वीकार किया गया। ऐतिहासिक रूप से भाषाओं के पारस्परिक सम्बन्ध को भी निर्धारित किया गया। दो बोलियों या भाषाओं के बीच सीमा निर्धारण का कार्य कठिन था, किन्तु उपलब्ध सामग्री के आधार पर यह कार्य भी सम्पन्न हुआ। तिब्बती-बर्मी भाषाओं और हिमालय की पर्वतीय भाषाओं का बड़ी सावधानी से वर्गीकरण हुआ। तिब्बती-बर्मी भाषाओं में मुण्डा भाषाओं के भी कुछ अवशेष मिले।

इसप्रकार यदि भूमिका के भाग को छोड़कर भाषा-सर्वेक्षण के सम्बन्ध में विचार करें तो निम्नलिखित खण्ड तैयार हुए :

खण्ड २—मानख्मेर तथा थाई परिवार।
खण्ड ३—तिब्बती-बर्मी भाषायें।
खण्ड ४—मुंडा तथा द्रविड़ भाषायें।
खण्ड ५—(दो भागों में) (भारतीय आर्य-भाषायें)
पूर्वी समूह
खण्ड ६—भारतीय आर्य-भाषायें (मध्य समूह)
खण्ड ७—भारतीय आर्य-भाषायें (दक्षिणी समूह)
खण्ड ८—(दो भागों में)
(भारतीय आर्य-भाषाएँ) उत्तरी-पश्चिमी समूह।
खण्ड ९—(चार भागों में) मध्य समूह।
खण्ड १०—ईरानी परिवार।
खण्ड ११—जिप्सी भाषाएँ।

इनमें से खण्ड तीन का अधिकांश भाग, ४, ७ तथा ९ के एक भाग तथा ग्यारहवां ओसलो के प्रोफेसर स्टेनकोनो द्वारा तैयार किये गये। उन्होंने केम्बर्ले में कुछ वर्षों तक ग्रियर्सन के सहायक के रूप में काम किया।

भाषा सर्वेक्षण की भूमिका के प्रथम भाग में ऐतिहासिक विवरण है तथा जिन लोगों ने भाषा विषयक कार्य पहले किया है, उनका उल्लेख है। इसमें भारत के विभिन्न परिवारों की भाषाओं का उल्लेख है। इसके बाद एक वृहत् परिशिष्ट है, जिसमें विशेषरूप से उन भाषाओं का नाम दिया गया है जो सर्वेक्षण के समय छूट गई थीं। इसी के साथ एक लघु परिशिष्ट हैं। अन्त में सभी भाषाओं तथा बोलियों की वर्गीकृत सूची भी दी गई है। इस सूची के अन्तर्गत सर्वेक्षण तथा १९२१ की जनगणना के समय जिन भाषाओं तथा बोलियों का नाम आया है, उन्हें समाविष्ट कर लिया गया है। यह सूची विशेषरूप से महत्त्वपूर्ण है। इसमें दक्षिण तथा बरमा की भाषाओं का नाम दिया गया है। ये भाषाएँ सर्वेक्षण की परिधि के

गया ग्रियर्सन कूप

बाहर की हैं। यह भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें सर्वेक्षण के प्रकाशन के पूर्व की सम्पूर्ण सामग्री संग्रहीत है। इसके पूर्व ग्रियर्सन ने दरद या पिशाच भाषाओं का; बाहरी और भीतरी उपशाखा की आर्यभाषाओं का तथा उत्तरी-पश्चिमी लिपि में द्वित्व वर्ण के स्थान पर एक वर्ण के प्रयोग के सम्बन्ध में खोज की। उन्होंने अत्यन्त दृढ़ता एवं परिश्रम से इस विषय का अनुसन्धान जारी रखा। सर्वेक्षण में अलग-अलग वर्ग की भाषाओं के सम्बन्ध में पुनरावृत्ति भी हुई। आपने तृतीय प्राकृत अर्थात् आधुनिक भाषाओं का व्याकरण और उसके साहित्य के सम्बन्ध में एक बड़ा लेख तैयार किया था, जो 'इण्डो-एरियन रिसर्च' की इन्साइक्लोपीडिया में प्रकाशित होने वाला था, किन्तु जब वह लेख वहाँ नहीं छप सका तो आपने उसे 'इण्डियन एण्टीक्वेरी' में छपवाया। १६०७ ई० में आपने 'इम्पीरियल गजेटियर' के लिए भी भाषाओं के सम्बन्ध में एक लेख लिखा।

भूमिका के दूसरे भाग में आपने तुलनात्मक शब्द-समूह पर विचार किया। आपने इसमें सुर वाली भाषाओं को भी सम्मिलित किया और उनके लिखने के लिए चिह्न बनाये। आपने १६७ शब्दों, वाक्यांशों एवं वाक्यों का सर्वेक्षण में तुलनात्मक अध्ययन किया और उसमें जापानी, तुर्की, मंगोल तथा बास्क भाषाओं का भी समावेश किया। भूमिका के तीसरे भाग में आर० एल० टर्नर का आर्यभाषाओं के अध्ययन का तुलनात्मक कोश प्रकाशित होने वाला था।*

इसके साथ ही ग्रियर्सन और कार्यों में भी लगे हुए थे; जैसे भाषाओं का वर्गीकरण, प्राच्य कांग्रेस की प्रगति के सम्बन्ध में रिपोर्ट और इसीप्रकार के अन्य कार्यों में भी। इसीप्रकार आपने भारतीय भाषाओं का ग्रामोफोन रिकार्ड भी तैयार किया और उसे विविध संस्थाओं में वितरित किया। १६०६ ई० में 'रायल एशियाटिक सोसाइटी' के समक्ष एक भाषण दिया जो कि उसके जर्नल में छपा। १६२४ ई० में उन्होंने सर्वेक्षण के सम्बन्ध में अपने उद्गार 'रायल एशियाटिक सोसाइटी' में व्यक्त किये जो बाद में प्रकाशित हुआ। आपने स्टेनकोनो तथा अपने अन्य सहायकों के प्रति आभार व्यक्त किया।

ग्रियर्सन ने अपने अवकाश के शेष इकतालीस वर्ष इंग्लैण्ड में बिताये। आपके ये दिन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थे। इन दिनों आपको राज्य, विश्वविद्यालयों एवं विभिन्न साहित्यिक संस्थाओं तथा परिषदों से उपाधियाँ मिलीं। सन् १८६४ ई० में आप सी० आई० ई० तथा १६१२ ई० में 'नाइट' की उपाधियों से विभूषित किये गये। सन् १८६४ ई० में आपको हाले विश्वविद्यालय ने पी-एच० डी० से सम्मानित किया। सन् १६०२ ई० में आपको ट्रिनिटी कालेज, डबलिन ने, जहाँ के वे छात्र रहे

*यह कोश अब प्रकाशित हो गया है।

चुके थे, एल० एल० डी० की उपाधि दी। सन् १६०५ ई० में फ्रेंच इन्स्टीच्यूट ने 'प्रिक्सवोलने' (Prixvolney) से आपको सम्मानित किया। सन् १६०६ ई० में प्रिंस ऑव वेल्स ने आपको 'रायल एशियाटिक सोसाइटी' का स्वर्ण पदक प्रदान किया तथा सन् १६२३ ई० में कैम्पवेल मेमोरियल मेडल, एशियाटिक सोसाइटी की ओर ओर से इन्हें उपलब्ध हुआ। इसीप्रकार सन् १६२६ ई० में बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी ने आपको स्वर्ण-पदक प्रदान किया। सन् १६२० में कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय ने आपको एल० एल० डी० तथा ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय ने डी० लिट० से सम्मानित किया। विदेशी तथा भारत की एकेडेमियों तथा विद्वत्-परिषदों ने उन्हें अपनी संस्थाओं का जो सम्मानक सदस्य बनाया, उनकी संख्या बहुत है, किन्तु यहाँ एशियाटिक सोसाइटी की सदस्यता का उल्लेख आवश्यक है। आप १६०४ ई० में इसके मानद सदस्य बने। आप इस सोसाइटी के सन् १६०७, १६१२-१६ तक सहायक अध्यक्ष तथा सचिव थे। सन् १६३१-३२ ई० में भारत की लिंग्विस्टिक सोसाइटी ने ग्रियर्सन को ४०० पृष्ठों का अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित किया था। ग्रियर्सन ने इस सम्मान को अत्यधिक महत्त्व दिया। इसीप्रकार ओरिएण्टल स्टडीज ने उनके सम्मान में अंक प्रकाशित किया, जिसमें ५२ विद्वानों के लेख थे।

१६०८ ई० के बाद किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय प्राच्य कांग्रेस में ग्रियर्सन ने भाग नहीं लिया। वह रायल एशियाटिक सोसाइटी, युनिवर्सिटी तथा बाइबिल सोसाइटी की बैठकों में लन्दन आते थे।

ग्रियर्सन की संगीत में भी दिलचस्पी थी। केम्बर्ले में वह संगीत-सम्मेलन संगठित करते थे और उसमें उपस्थित होते तथा भाग लेते थे। भाषा-सर्वेक्षण का कार्य उन्होंने अत्यन्त मनोयोग से किया और उसके लिए स्वास्थ्य की भी चिन्ता नहीं की। वह अपने घर आये अतिथियों का वैसा ही सम्मान करते थे, जैसा भारतीय ग्रामीण करता है। उन्हें सरस कथा-कहानी सुनने में बड़ा आनन्द आता था। आप ६ मार्च, सन् १६४१ ई० तक जीवित रहे। लेडी ग्रियर्सन उनकी १८८० ई० से जीवनसंगिनी थीं। उनकी मृत्यु १६ फरवरी सन् १६४३ ई० में हुई थी।

संकलित सामग्री

मनुष्य के जीवन में गुरु का बड़ा महत्त्व है। मनुष्य धन-सम्पत्ति, पद-मर्यादा को तो प्राप्त कर लेता है, किन्तु उसे सद्गुरु भाग्य से ही मिलते हैं। यह ग्रियर्सन का सौभाग्य था कि उन्हें एटकिन्सन जैसे गुरु मिले। ग्रियर्सन लिखते हैं—'मुझे वही ऐसे यूरोपियन मिले, जिन्हें पाणिनि की अष्टाध्यायी कंठाग्र थी। वह ग्रीक, चीनी तथा तमिल भाषाओं के पंडित थे। वे वायलिन बजाना जानते थे तथा छड़ी के व्यायाम एवं जुजुत्सु में दक्ष थे।' ग्रियर्सन ने ये सभी विद्याएँ गुरु से प्राप्त की थीं। जब वे गुरु से विदा लेने गये तो उन्होंने भारतीय भाषाओं पर अनुसन्धान करने के लिए कहा। ग्रियर्सन ने गुरु के आदेश का पालन किया और जीवन-भर भारतीय भाषाओं के अनुसन्धान में रत रहे।

हिन्दी-साहित्य को ग्रियर्सन की देन

ग्रियर्सन भाषा-विज्ञान के विद्वान् थे। उनके अध्ययन का केन्द्रबिन्दु भारत की भाषाएँ तथा उपभाषाएँ थीं, किन्तु आपने हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में अभूत पूर्व सफलता से कार्य किया। सन् १८८६ ई० के वियना के अन्तर्राष्ट्रीय प्राच्य विद्या सम्मेलन में आपने तुलसीदास पर एक शोध-निबन्ध पढ़ा था। यह प्रथम निबन्ध था जिसने अन्तर्राष्ट्रीय विद्वानों का ध्यान महाकवि की ओर आकृष्ट किया और इसकी अत्यधिक प्रशंसा हुई। इस सिलसिले में लेखक को हिन्दी-साहित्य सम्बन्धी पुष्कल सामग्री एकत्र करने का अवसर मिला था। यह १८८६ ई० के रायल एशियाटिक सोसाइटी बंगाल के जर्नल में प्रकाशित हुआ था, और बाद में, १८८९ ई० में, पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। इसमें प्रथम बार एक अंग्रेज द्वारा उत्तरी भारत की धार्मिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर गहराई से विचार किया गया था। इसके पूर्व, फ्रेन्च में, गार्सां द तासी का हिन्दी-साहित्य का इतिहास प्रकाशित हुआ था। अंग्रेजी में, यह ग्रियर्सन की प्रथम कृति थी। इसमें प्रथम बार हिन्दी के कवियों का परिचय वर्णानुक्रम से दिया गया था। इस इतिहास की दूसरी विशेषता यह थी कि इसमें पहली बार हिन्दी-साहित्य का काल-विभाजन किया गया था। मिश्रबन्धु-विनोद में, बहुत कुछ, इसी को स्वीकार कर लिया गया। प्रत्येक काल की कुछ सामान्य प्रवृत्तियाँ भी विनोद में दी गईं, किन्तु ये अत्यन्त संक्षिप्त थीं।

पं० रामचन्द्र शुक्ल के हिन्दी-साहित्य के इतिहास के लिए भी ग्रियर्सन की इस

कृति ने पथ-प्रदर्शक का काम किया। सच बात तो यह है कि ग्रियर्सन की यह कृति हिन्दी-साहित्य के इतिहास की नींव का पत्थर है, जिस पर आचार्य शुक्ल ने अपने प्रसिद्ध हिन्दी-साहित्य के इतिहास के भव्य-भवन का निर्माण किया है। इसमें जायसी और तुलसीदास पर स्वतन्त्र अध्याय हैं। सम्भवतः इन दोनों अध्यायों ने आचार्य शुक्ल का विशेष ध्यान इन दो कवियों की ओर आकृष्ट किया और उन्होंने इनको अपने विशेष अध्ययन का विषय बनाया।

ग्रियर्सन की इस कृति का आधार 'शिवसिंह सरोज' था, जो मुंशी नवल किशोर के छापेखाने से सन् १८८३ ई० में छपा था। ग्रियर्सन ने इस बहुमूल्य कृति के ऋण को स्वीकार किया है।

ग्रियर्सन ने तुलसीदास की रचनाओं के सम्बन्ध में उस युग में जो शोधपूर्ण निबन्ध लिखे, उन्हीं के आधार पर परवर्ती काल में तुलसी विषयक शोधकार्य अग्रसर हुआ। जब श्री माताप्रसाद गुप्त ने सन् १९३१ ई० में अपना तुलसी विषयक प्रथम शोध-निबन्ध 'हिन्दुस्तानी' का प्रकाशित किया था, तब उनके कार्यों को प्रोत्साहित करते हुए ग्रियर्सन ने अपने पत्र में अपनी कृतियों का उल्लेख किया और प्रसन्नता व्यक्त की थी कि हिन्दी के विद्वान् उनके द्वारा किये हुए कार्यों के महत्त्व को समझने लगे हैं। वास्तव में इस क्षेत्र में ग्रियर्सन अग्रसर रहे हैं और उनसे अनेक हिन्दी के विद्वान् प्रेरित और अनुप्राणित होते रहे हैं।

वियना में पठित निबन्ध में, जिसका ऊपर उल्लेख हो चुका है, तुलसीदास पर विशेष प्रकाश डाला गया था। इसके बाद १८९३ ई० में ग्रियर्सन ने 'नोट्स आन तुलसीदास' प्रकाशित किया। यह 'इंडियन एन्टिक्वेरी' में प्रकाशित हुआ था। इसमें कवि की जीवन-तिथियों को ज्योतिष की कसौटी पर जाँचने का कार्य ग्रियर्सन ने किया। इस सरणि का अवलम्बन श्री माता प्रसाद गुप्त ने अपनी डी० लिट्० के अधिनिबंध तुलसीदास में किया। पुनः आपने 'रामचरितमानस' की रचना-तिथि पर सन् १८९८ ई० में जर्नल आव रायल एशियाटिक सोसाइटी में विचार किया। इसमें महामारी को प्लेग सिद्ध किया। पुनः इस सम्बन्ध में सुधाकर द्विवेदी के अनुमान का भी उल्लेख किया कि वह 'बाहुपीड़ा' जिसका वर्णन 'हनुमान बाहुक' में है, प्लेग की गिल्टी निकलने के कारण हुई थी। पुनः सोसाइटी के १९०३ ई० के जर्नल में महाकवि 'तुलसीदास' के सुधारक रूप की चर्चा हुई। फिर १९१२ ई० में, इम्पीरियल गजेटियर के लिये आपने तुलसीदास पर एक निबन्ध लिखा। १९१३ ई० में आपका लेख 'क्या तुलसीदास कृत रामचरितमानस अनुवाद ग्रंथ है' शीर्षक से प्रकाशित हुआ, जिसमें बलिया से प्रकाशित एक संस्कृत रामायण को अप्रामाणिक सिद्ध किया गया।

तुलसीदास के सम्बन्ध में ग्रियर्सन ने इतना अधिक और श्रद्धापूर्ण भाव से

लिखा कि यदि यह कहें कि पश्चिमी जगत् में तुलसी को प्रतिष्ठित करने का श्रेय उन्हीं को है, तो इसमें अत्युक्ति न होगी। यहाँ उनके मूल्याङ्कन से कुछ अंश प्रमाण-स्वरूप उद्धृत किया जा रहा है :—

मेरे मन में धर्म के दो प्रमुख पद हैं—(१) बौद्ध-धर्म और (२) दो सहस्र वर्ष बाद तुलसीदास की शिक्षा। बौद्ध-धर्म का व्यावहारिक परिणाम हुआ, सम्पूर्ण भारत द्वारा विश्वबन्धुता में निष्ठा की स्वीकृति। तुलसीदास ने इसमें यह भाव जोड़ दिया है कि भगवान् ही सबके पिता हैं। टीकाकारों की धारणा है कि राम को त्रिविध दृष्टियों से देखा जा सकता है। हम उनके चरित्र में माधुर्य, ऐश्वर्य और मित्रता का दर्शन कर सकते हैं। इनमें माधुर्य में स्वार्थ का मिश्रण रहता है। उनकी स्तुति करने की चतुर्विधियाँ हैं—मागध, वन्दी, सूत और पौराणिक। 'रामचरितमानस' चरित काव्य है और कवि ने सूत की रीति से अपने नायक के चरित्र में मित्रता दर्शायी है। 'गीतावली' भिन्न प्रकार की रचना है, जिसमें माधुर्य का प्राधान्य है। इसमें कोई चामत्कारिक तत्त्व नही है, प्रत्युत यह एक प्रेमसिक्त कथा का मनोरम चित्रण हैं। पुनः इसमें शैशवक्रीड़ा अनुपम रूप में प्रस्तूयमान है, जो पाठक को मुग्ध कर देती है। 'विनयपत्रिका' में कवि प्रार्थी के रूप में प्रस्तुत है।

'मानस' में पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'राम' के चरित्र में माधुर्य, ऐश्वर्य और शील—इन तीनों तत्त्वों का उद्घाटन करने में जो पटुता दर्शायी है, उसका मूल-सूत्र ग्रियर्सन की विवेचना में उपलब्ध होता है। ग्रियर्सन ने जो 'मित्रता' का उल्लेख किया है, वही शुक्लजी की धारणा में 'शील' है। 'गीतावली', 'कवितावली' और 'विनयपत्रिका' में तुलसी के तीन रूप दृष्टिगत होते हैं। एक में वे मधुर भावों के कवि हैं, जहाँ माधुर्य एवं वात्सल्य का मनोरम संगम है। 'कवितावली' में वह 'वीररस' के कवि हैं तथा 'विनय पत्रिका' में मुख्यतः 'भक्तिरस' के कवि हैं। संक्षेप में जो मूल्याङ्कन हुआ है, उससे किसी का मतभेद नहीं है।

तुलसी का प्रभाव और 'मानस' की धर्मग्रन्थता

'मानस' की लोकप्रियता और प्रभाव के सम्बन्ध में ग्रियर्सन की सम्मति उनके अनुभव पर समाधारित है। उनका कथन है कि गत तीन सौ वर्षों से 'हिन्दू-समाज' के जीवन और कथन में यह घुलमिल गया है तथा अपने काव्यगत सौंदर्य के कारण यह उनका सर्वप्रिय एवं प्रशंसित ग्रन्थ ही नहीं प्रत्युत्त उनके द्वारा पूजित भी है। यह हिन्दुओं का धर्म-ग्रन्थ बन गया है। यह दशकोटि हिन्दू जनता का धर्म-ग्रन्थ है और उनके द्वारा उतना ही भगवत्प्रेरित माना जाता है, जितना अंग्रेज पादरियों द्वारा 'बाइबिल' मानी जाती है। पंडित लोग वेद और उपनिषद् की बातें कर सकते हैं और कुछ उनका अध्ययन भी कर सकते हैं—कुछ कह सकते हैं कि उनका विश्वास

पुराणों से संलग्न है। किन्तु हिन्दुस्तान की अधिकांश जनता के लिये चाहे वह अविद्वान् हो अथवा विद्वान्, चरित्र का एकमात्र प्रतिमान तुलसी कृत 'रामचरित-मानस' है।

'अन्यत्र इसी पुस्तक में लिखते हैं—हम निश्चित ही और उचित ही इस महा-पुरुष की प्रशंसा करते हैं जिसने बुद्ध के अनन्तर पहली वार मनुष्य को अपने पड़ोसियों के प्रति स्वकर्तव्य की शिक्षा दी और अपने उपदेश को ग्रहण कराने में सफल हुआ। उसका महान काव्य-ग्रंथ इस समय दस करोड़ लोगों का एकमात्र धर्म-ग्रन्थ है और यह सौभाग्य की बात है कि इन लोगों ने ऐसा पथ-प्रदर्शक पाया।'

जिस धर्म का उपदेश उन्होंने किया, वह अत्यन्त सरल, साथ ही विशिष्ट, 'रामनाम में पूर्ण विश्वास' है। अनैतिकता के उस युग में जब हिन्दू समाज के बन्धन शिथिल हो रहे थे और मुगल साम्राज्य संगठित हो रहा था; इस ग्रंथ की सबसे विशिष्ट बात इसकी कठोर नैतिकता है जो इस शब्द के किसी अर्थ में मानी जा सकती है। तुलसी प्रतिवेशी के प्रति अपने कर्तव्य की शिक्षा देने वाले महान उपदेशक थे। वाल्मीकि ने भरत की कर्तव्य परायणता, लक्ष्मण की भ्रातृभक्ति तथा सीता की पवित्रता की प्रशंसा की है, किन्तु तुलसी ने तो आदर्श ही प्रस्तुत कर दिया है।

इसप्रकार उस घोर विलासिता के युग में, मानस से बढ़कर मर्यादापूर्ण और पवित्र कोई ग्रंथ नहीं है।

एक स्थान पर ग्रियर्सन ने, कालिदास और भक्तकवि तुलसीदास की तुलना कर एक बड़ी बात अलंकृत भाषा में कह दी है।

'कालिदास ने राम से खूँटी का काम लिया जिस पर अपनी मधुर रचनाएँ लटका सकें परन्तु तुलसी ने चिर सौरभ की माला गूँथी और जिस देवता की भक्ति वे करते थे, उनके चरणों पर दीनतापूर्वक उसे अर्पित कर दी।'

ग्रियर्सन ने सूर की अपेक्षा तुलसी को श्रेष्ठ माना है। आप लिखते हैं—अपने देशवासियों द्वारा सूर, तुलसी के साथ-साथ काव्यकला की परिपूर्णता के सिंहासन के अधिकारी माने जाते हैं, लेकिन योरोपीय आलोचक तुलसीदास को ही सर्व श्रेष्टता का मुकुट पहनाना चाहेंगे और आगरा के इस अंधे कवि को उससे नीचा, फिर भी वहुत ऊँचा स्थान देंगे। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने सूर से तुलसी को श्रेष्ठ सिद्ध किया है। क्या यह मूल्यांकन का सूत्र उन्होंने ग्रियर्सन से प्राप्त किया है?

ग्रियर्सन की समीक्षा के ये खण्ड इस बात को प्रमाणित करते हैं कि उनकी दृष्टि कितनी पैनी और गहरी थी, उनकी पकड़ कितनी पक्की थी तथा उनकी समीक्षा एवं मूल्यांकन ने परवर्ती हिन्दी-आलोचकों को किस रूप में चिन्तन के लिये दिशा-निर्देश किया।

ग्रियर्सन ने मानस के शुद्ध पाठ पर उस समय बल दिया, जब शुद्धतावादी

मानस-प्रेमी मनमाना हस्तक्षेप कर रहे थे। उन्होंने बनारस तथा राजापुर की प्रतियों के आधार पर मानस के मूल पाठ का कुछ अंश प्रकाशित किया। पाठान्तर आदि भी टिप्पणी रूप में दिये। इसप्रकार पाठ-संशोधन या पाठालोचन के क्षेत्र में भी ग्रियर्सन पथ-प्रदर्शक थे।

जायसी

जायसी के पद्मावत काव्य की भाषा और विषय के महत्त्व का बोध भी ग्रियर्सन को सबसे पहले हुआ। ग्रियर्सन के पहले किसी हिन्दू विद्वान् ने इस कृति को इतना महत्त्वपूर्ण नहीं माना था। हिन्दू कवियों ने कबीर, रहीम, रसखान और शेख, आलम आदि मुसलमान कवियों की चर्चा उत्साह के साथ की, किन्तु जायसी की ओर उनकी दृष्टि नहीं गई। भाषाशास्त्री होने से ग्रियर्सन ही सर्वप्रथम जायसी की आलोचना में प्रवृत्त हुए। आप लिखते हैं—'मलिक मुहम्मद ने अपने युग की शुद्ध-तम भाषा में पद्मावत नामक दार्शनिक काव्य लिखा।' यह ग्रंथ रूपक-काव्य है जिसमें बुद्धिमत्ता के लिए आत्मा की खोज और वे सभी कठिनाइयाँ एवं प्रलोभन जो उस पर यह यात्रा करते समय, आक्रमण करते हैं, वर्णित है। मलिक मुहम्मद का आदर्श अत्युच्च है। इस मुसलमान फकीर के सम्पूर्ण काव्य में अपने देशवासी हिन्दुओं के कतिपय महात्माओं की सी विशालतम उदारता और सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि है। यही कारण है कि उसे उस सत्य की झलक मिल गई है, जिसे हिन्दू लोग पाने को टटोल रहे थे।

केवल भाषा के अध्येता के लिए, पद्मावत इतना बहुमूल्य है कि इसका महत्त्व आँका नहीं जा सकता। सोलहवीं शती के आरम्भ में लिखित यह ग्रंथ हमारे सामने उस युग की भाषा और उसके उच्चारण का प्रतिनिधित्व करता है। परम्पराओं की शृङ्खला में जकड़े हिन्दू लेखक शब्दों को उस प्रणाली पर लिखने के लिए बाध्य थे, जिस पर ये शब्द संस्कृत में उनके पूर्वजों द्वारा लिखे जाते थे, न कि उस रूप में जिसमें वे उस समय बोले जाते थे। मलिक मुहम्मद ने इस हिन्दू परम्परा की चिन्ता नहीं की और पद्मावत फारसी लिपि में लिखा और इसप्रकार जो शब्द उन्होंने लिखा उसके उच्चारण का विशेष ध्यान रखा।*

चंदबरदाई

पृथ्वीराजरासो को पृथ्वीराज का समकालीन काव्य मानकर यूरोपियन विद्वानों ने बहुत महत्त्व दिया और इसके अनेकांशों के कई अंग्रेजी अनुवाद भारतीय विद्वानों

---

*हिन्दी भाषा का प्रथम इतिहास : पृ० ५१-५२।

की सहायता से प्रकाशित किए गये। यह एक लाख छन्द का महान काव्य है जिसके लगभग ३० हजार छन्दों का अंग्रेजी अनुवाद टाड ने किया।

इसके एक अंश का बीम्स ने भी सम्पादन किया तथा हार्नले ने अन्य अंश का अंग्रेजी में अनुवाद किया। गासांद तासी के अनुसार इसका एक अंश राबर्ट लेंज ने रूसी में अनूदित किया था, जिसे वह पीटर्सबर्ग से प्रकाशित करना चाहते थे, परन्तु उनकी अचानक मृत्यु के कारण यह नहीं प्रकाशित हो सका।

इसके सम्वन्ध में ग्रियर्सन के ये विचार हैं—

'इस कवि के ग्रन्थ का जो मेरा अध्ययन है, उसने इसके काव्यगत सौंदर्य के लिए मेरे मन में अत्यन्त प्रशंसापूर्वक भावना भर दी है. . . .जो हो, भाषा-विज्ञान के विद्यार्थी के लिए इसका सर्वाधिक महत्त्व है, क्योंकि यूरोपीय अन्वेषकों के लिए अन्तिम प्राकृत और प्रारम्भिक गैंड़ी लेखकों के वीच के घोर गह्वर में पद-न्यास के लिए यह एकमात्र स्थान है। यद्यपि हमें चंद का वास्तविक पाठ उपलब्ध नहीं है, फिर भी निश्चय ही उसकी रचनाओं में हमें विशुद्ध अपभ्रंश, शोरसैनी प्राकृत रूपों से परिपूर्ण गौड़ीय सहित्य के प्राचीनतम ज्ञात नमूने प्राप्त हैं।'

विद्यापति

विद्यापति के जीवन के सन्वन्ध में प्रकाश डालने के वाद उनके काव्य की संक्षिप्त समीक्षा ग्रियर्सन ने की। विद्यापति के सम्वन्ध में हिंदी के विद्वानों में किसी ने उनके पूर्व इतनी सामग्री प्रस्तुत नहीं की, अतः वे विद्यापति-विषयक अनुशीलन में भी अग्रणी हैं।

पूर्वी हिन्दुस्तान के साहित्य के इतिहास पर विद्यापति का प्रभाव अत्यधिक है। ये धार्मिक प्रेम-गीतों की रचना की कला में पूर्ण प्रवीण थे, जो बाद में अत्यन्त विकृत रूप में वैष्णव पोथियों के सार वने। परवर्ती कवियों ने अनुकरण करने के सिवा और कुछ नहीं किया है। किन्तु जवकि इस गीत-परम्परा के प्रवर्तन ने कोई भी विषय ऐसा नहीं लिया, जिसे उसने सच्ची काव्यकला से मंडित न करा दिया। उसके अनुकरणकर्त्ताओं ने उनकी विचित्र मनोरम स्पष्टता को प्रायः अस्पष्टता में वदल दिया है और उनके भावोच्छ्वासपूर्ण प्रेम गीतों को वासनामय साहित्य में परिणत कर दिया है।

ग्रियर्सन ने विद्यापति को धार्मिक प्रेम-गीतों की रचना में पूर्ण प्रवीण माना है। उनके गीतों को सच्ची काव्यकला से मंडित माना है। उनके भावोच्छ्वासपूर्ण प्रेम-गीतों में वासना का अभाव है, ऐसा उनका मत है। उन्होंने विद्यापति को गीत-परम्परा का प्रवर्तन करने वाला बताया है।

वैष्णव भक्तों के बीच उनके गीतों की मान्यता इस बात का प्रमाण है कि उनके राधाकृष्ण-विषयक प्रेमगीत धार्मिक प्रेमगीत ही माने जाते थे।

रीतिकाल का नामकरण

पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने जिसे रीतिकाल कहा, उस काल के प्रधान काव्यों को ग्रियर्सन ने ही 'रीति-काव्य' कहा था। कदाचित् पं० रामचन्द्र शुक्ल को इस काल का नामकरण करने की प्रेरणा ग्रियर्सन से ही प्राप्त हुई हो। ग्रियर्सन ने रीति-काव्यों का युग १५८०-१६६२ ई० माना है। आपका कथन है, इस युग के अत्यन्त प्रसिद्ध कवि, जिनका विवरण पहले नहीं किया गया है, केशवदास, चिन्तामणि त्रिपाठी और बिहारीलाल हैं। केशवदास और चिन्तामणि त्रिपाठी काव्य-शास्त्र लिखने वाले उस कवि सम्प्रदाय के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रतिनिधि हैं, जिसकी स्थापना उन्होंने की और इसमें काव्यकला के शास्त्रीय-पक्ष का ही निरंतर विवेचन करने वाले केशवदास थे। इस समीक्षा-सूत्र से स्पष्ट है कि ग्रियर्सन केशव को ही रीतिकाल का आदि आचार्य मानते हैं। उसके बाद ग्रियर्सन ने चिन्तामणि को प्रमुखता दी है।

ग्रियर्सन की कार्य-पद्धति

'ग्रियर्सन कार्य की सुविधा के लिए कैमरे का भी उपयोग करते थे। भारतीय भाषा-सर्वेक्षण के अधिकांश चित्र स्वयं उनके द्वारा लिए गए थे। इनके अतिरिक्त ग्रियर्सन ने प्रसिद्ध हैमण्डस् टाइपराइटर कम्पनी की सहायता से एक ऐसा मॉडल बनाया था, जिसके बोर्ड में विभिन्न भाषाओं के अक्षर फिट बैठा दिये गये थे। कम्पनी वालों ने वह मशीन इन्हें ही उपहार-स्वरूप भेंट कर दी थी। इससे ग्रियर्सन एवं उनके सहायकों के समय और श्रम की कितनी बचत होती होगी, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। ग्रियर्सन 'रोमन लिपि' के भी बड़े पक्षपाती थे। वे इसे विविध भाषा-अध्ययन का सबसे सुगम साधन मानते थे। उनका कहना था कि अपरिचित लिपि नव-शिक्षित-वर्ग के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा सिद्ध होती है क्योंकि छात्र को एक ही साथ भाषा और लिपि दोनों सीखनी पड़ती है। इस सम्बन्ध में उन्होंने कुछ प्रयोग भी करके देखे थे। जिन दिनों (१८६३ ई०) में वे हिन्दुस्तानी के परीक्षक नियुक्त हुए, शिक्षार्थियों को फ़ारसी लिपि के माध्यम से भाषा सिखाई जाती थी।

'ग्रियर्सन के आदेश पर कुछ छात्रों को रोमन लिपि के माध्यम से हिन्दुस्तानी का ज्ञान कराया गया। ज्ञात हुआ कि उक्त वर्ग छः मास के उपरान्त प्रथम परीक्षा तक इतनी भाषा जान चुका था, जितनी कि फारसी लिपि माध्यम वाले एक वर्ष में भी नहीं सीख पाये थे।'

'ग्रियर्सन स्वभाव से अत्यन्त अतिथि-प्रेमी भी थे। वे दुस्सह कष्ट उठाकर

भी अभ्यागतों की सुविधा का बरावर ध्यान रखते थे। यों प्रकृति से वे इतने भुलक्कड़ थे कि कार्याधिक्य क्षणों में जलता हुआ पाइप कोट की जेव में रख लिया करते थे। कहते हैं कि उनके अधिकांश सूटों की जेवें जली हुई थीं। उनके मनोरंजन के सर्वाधिक प्रिय साधनों में रोमानी कहानियाँ और चित्र-खण्ड पहेलियाँ थीं जो विशेषरूप से उनके लिए बनाई गईं थीं। भारतीय वस्तुओं के प्रति उनके अनुराग का सबसे वड़ा प्रमाण राथफार्नहाम की बैठक में एक विशाल भूरी मैण्ट्लपीस पर एकत्र अनेक भारतीय पच्चीकारी वाली पीतल की वस्तुएँ हैं जो आज भी उसी प्रकार सुरक्षित बताई जाती हैं।'

ग्रियर्सन की निस्वार्थ वृत्ति

'ग्रियर्सन की निस्वार्थ वृत्ति तथा अध्यवसाय की पृष्ठभूमि में उनका कर्मठ व्यक्तित्व, न्यायनिष्ठा, प्रेम-वत्सलता, सहृदयता, गुण-ग्राहकता, सहायकों के प्रति उदारता तथा महत्त्वाकांक्षा एवं सम्मान प्राप्ति की अनिच्छा प्रतिभाषित होती है। उदाहरणार्थ उन्होंने जब 'राथफार्नहम' नामक अपना घर बनवाना प्रारम्भ किया, तो वे प्रायः कहा करते थे कि वे एक ऐसा पुस्तकालय बनवा रहे हैं, जिसके अन्त में उनका एक छोटा-सा घर भी संलग्न होगा। सन् १६०० ई० में भारतीय-भाषा सर्वेक्षण का कार्य प्रारम्भ करने से पूर्व जब उनसे पूछा गया कि वे उस सम्बन्ध में क्या आर्थिक व्यवस्था चाहेंगे तो उन्होंने उत्तर में केवल यह कहा था कि उसके लिए भारतीय सिविल-सेवा से प्राप्त उनकी पेंशन ही पर्याप्त होगी। फलस्वरूप उनकी जो गृहस्थी प्रथम विश्वयुद्ध के आस-पास तक सुचारु रूप से चलती रही थी, वह महँगाई के कारण कालान्तर में बड़ी कष्टकर सिद्ध हुई और जीवन के पिछले १०-१५ वर्ष में उनके लिए तीनों नौकरानियाँ, माली तथा प्राइवेट सेक्रेटरी आदि सबका निर्वाह कठिन हो गया था।'

'ग्रियर्सन का यह निःस्वार्थ भाव परिचित-अपरिचितों की सहायता करने अथवा स्वयं उपकृत होने पर कृतज्ञता-ज्ञापन में भी देखा जा सकता है। श्री ई० ए० गेट का कहना है कि व्यक्ति छोटा हो अथवा वड़ा, परिचित हो या अपरिचित, ग्रियर्सन उसकी सहायता करने में कभी संकोच नहीं करते थे। स्वयं उनके शब्दों में 'मैं अत्यन्त कृतज्ञतापूर्वक (उस समय का) स्मरण करता हूँ, जब उन्होंने मुझ जैसे सर्वथा अपरिचित व्यक्ति का प्रथम लेख प्रसिद्ध साहित्यिक पत्रिका में प्रकाशन योग्य बनाने के लिए इतना कष्ट उठाया था।'

संगीत-प्रेम

'ग्रियर्सन की प्रकृतिगत विशेषताओं में संगीत-प्रेम भी उल्लेखनीय है। पहले संकेत दिया जा चुका है कि ग्रियर्सन किशोरावस्था से ही अच्छा वायलिन बजाते थे,

तथा नाटक आदि में भी निरन्तर भाग लिया करते थे। अध्यापक प्रो० राबर्ट एटकिन्सन के वायलिन-प्रेम ने ग्रियर्सन को इस दिशा में अत्यधिक प्रोत्साहित किया। आर० एल० टर्नर, एफ० डब्ल्यू टॉमस का अनुमान है कि भारत की गर्मी को दूर रखने के लिए वह साधन अवश्य ही ग्रियर्सन के लिए वरदान सिद्ध हुआ होगा। सेवा-निवृत्ति के उपरान्त भी ग्रियर्सन कैम्बर्ले में 'पाइन वुड' नामक आर्केस्ट्रा चलाते रहते थे। कहा जाता है कि वे प्रति वर्ष सार्वजनिक कान्सर्ट भी प्रस्तुत किया करते थे। उनके द्वारा संचालित महिलाओं के लिए एक संगीत-संस्था भी थी, जिसकी सेक्रेटरी मिस मैक्लगान बताई जाती हैं। ग्रियर्सन जीवन के अन्तिम वर्षों में कुछ समय तक (१९३०-१९३५) कैम्बर्ले कोरल सोसाइटी के उपसभापति भी रहे थे।'

भारत-प्रेम

'उपर्युक्त विरोधी गुणों से मण्डित ग्रियर्सन के उभरते हुए व्यक्तित्व की रूप-रेखा उनके भारत-प्रेम के चर्चा के बिना अधूरी रह जायेगी। प्रशासन-काल में विरचित उनके मौलिक ग्रंथ, निबन्ध, लेख, संकलित सम्पादित एवं अनूदित साहित्य, ऐतिहासिक, भौगोलिक अभिलेख, व्याकरण तथा कोश आदि एक ओर यदि ग्रियर्सन का भारतीय भाषा-सम्बन्धी ज्ञान और सूक्ष्म अध्ययन प्रदर्शित करते हैं तो इन ग्रंथों के आलोक में प्रदीप्त लेखक का भारत-प्रेम भी निरन्तर प्रतिभाषित होता रहता है। अपने प्रशासकीय पद से निरपेक्ष एवं निरभिमानी रहकर उन्होंने सदा जनता से प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित करने की चेष्टा की। कोई मुसहर हो या दुसाध, किसान हो या चमार, राजस्थान का भाट-चारण हो या मिथिला की भजन मण्डली का सदस्य, ग्रियर्सन तक सबकी पहुँच थी। तत्कालीन ब्रिटिश-सरकार के आतंक और विदेशी जिला-अधिकारियों की नृशंसता को ध्यान में रखते हुए निस्संकोच कहा जा सकता है कि ग्रियर्सन की धमनियों में ब्रिटिश-शासक वर्ग का नहीं, अपितु संवेदनशील भारतीय-प्रशासक का रक्त प्रवाहित था। कदाचित् इसलिए, जैसा कि एफ० डब्ल्यू टॉमस, आर० एल० टर्नर ने संकेत भी दिया है, जब वे दौरे पर जाते थे तो उनकी रैयत अपने कष्ट बताने के लिए उनके तम्बू को चारों ओर से घेर लेती थी। और ग्रियर्सन बदले में उन्हें पितृवत् स्नेह देते थे। यह भी निर्विवाद है कि ग्रियर्सन शासित-जनता को भली प्रकार पहिचानने के लिने खेत-खेत, गाँव-गाँव, गली-गली घूमा करते थे। उदाहरणार्थ गया जिला में खेती-बारी सम्बन्धी पद्धति पर विचार प्रकट करते हुए ग्रियर्सन ने स्वयं बताया है कि उन्होंने ग्रामीण-समाज के बीच बैठकर घण्टों उनके ग्रामीण घर-गृहस्थी, लड़ाई-झगड़ों, विवाह, खान-पान आदि असंख्य विषयों पर बातचीत की है, जिससे वे जनता के स्वभाव और आन्तरिक विचारों से यत्किंचित् परिचय प्राप्त कर सकें। इसके अतिरिक्त ग्रियर्सन का सर्वेक्षण के सब खण्ड अपने प्रेरक

गुरु प्रो० राबर्ट एटकिन्सन को न समर्पित कर भारत देश को समर्पित करना, उनके भारत-प्रेम की पराकाष्ठा थी। कारण स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि 'भारत अनेक वर्षों तक मेरा निवास-स्थान रहा है और इसने मेरे हृदय में स्वयं गत अर्द्धशताब्दी से अपना घर बना लिया है। इस बीच मुझे तीन सहस्र वर्षों के पीढ़ी-दर-पीढ़ी के महान् विचारकों के विचार-गुम्फन में भव्य-साहित्य के दर्शन का सुअवसर मिला है। धार्मिक भावनाओं में मैंने छिपे हुए धर्म को पाया है, पौराणिक गाथाओं में मैंने इतिहास का दर्शन किया है और निरक्षर ग्रामीणों की कहावतों में मुझे ज्ञानोपलब्धि हुई है। यहीं और यहीं भारत ने मेरी सहायता की है। लेकिन मैं भारत की सहायता कैसे करूँ ?' इसप्रकार भावविह्वल ग्रियर्सन केवल यह आकांक्षा प्रकट कर सके हैं कि यदि सर्वेक्षण भारत को, जिसे वे प्रेम करते हैं, इंग्लैंड के समीपतर ला सके, जिसने उन्हें उसके पास भेजा था, यदि वह इंग्लैंडवासियों के समक्ष भारतीय-जीवन की विस्मयकारिणी कठिनता का एक पक्ष भी प्रकाशित कर सके और यदि वह भारत को अभिव्यक्त कर सके कि इंग्लैंड उसे समझने की चेष्टा करता है, एवं मात्र पारस्परिक अवबोधन सच्चे बन्धुत्व को जन्म दे सकता है, तो वे समझेंगे कि उनका परिश्रम व्यर्थ नहीं हुआ। अन्त में, यह अतिशयोक्ति नहीं कि भारतीय-जनता ने भी प्रशासक-पिता ग्रियर्सन को केवल निश्छल स्नेह का प्रतिदान ही नहीं दिया, अपितु ब्रिटिश-सरकार का विरोध करते हुए भी उनमें अपना अटूट विश्वास एवं असीम श्रद्धा व्यंजित करके सिद्ध कर दिया कि ग्रियर्सन चाहे सहायक मजिस्ट्रेट जैसे छोटे पद पर कार्य करें अथवा कलकत्ता-बन्दरगाह के कमिश्नर जैसा महत्त्वपूर्ण पद ग्रहण करें, वे सच्चे अर्थों में न्यायाधीश हैं। कदाचित् इसीलिए भारत पहुँचने के लगभग दो वर्ष बाद ही से ग्रियर्सन का नाम 'जस्टिस ऑफ पीस फॉर बंगाल बिहार एण्ड उड़ीसा' की सूची में प्रकाशित होने लगा था; और सम्पूर्ण बंगाल-सिविल-सेवा के दौरान में शान्ति एवं न्याय-स्थापकों में निरन्तर उनकी गणना होती रही। मधुबनी में आज भी एक बाजार को जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन के नाम पर 'गिलेसन बाजार' कहा जाता है।'

भाषा-सम्बन्धी विवाद

ब्रिटिस-शासकों के समक्ष स्कूली-शिक्षा, न्यायालय और सरकारी काम-काज के लिए भाषा का प्रश्न पिछले सत्तर-अस्सी वर्ष से चला आ रहा था। फोर्ट विलियम कालेज के प्रयत्न इसके प्रमाण हैं। डॉ० ग्रियर्सन भाषा-वैज्ञानिक की प्रखर एवं सूक्ष्म दृष्टि रखते थे। बिहार-प्रशासन की अवधि में निरन्तर अनुभव करते रहे कि वहाँ के जन-साधारण की बोलचाल की भाषा न हिन्दी है और न उर्दू। बल्कि प्रचलित स्थानीय बोलियों में जनता का अपना मौखिक और लिखित साहित्य पनप रहा है।

अतः उन्होंने राजनीतिक नहीं, अपितु वैज्ञानिक दृष्टि से प्रेरित होकर 'कलकत्ता रिव्यू' के १८८० ई० के अंक में 'प्लीफॉर द पीपल्स टंग' शीर्षक लेख प्रकाशित किया। इस लेख में ग्रियर्सन ने खुलकर स्थानीय बोलियों की वकालत की। उन्होंने कहा कि 'हिन्दी' न तो बिहार प्रान्त की भाषा है न कभी भविष्य में हो सकती है। इसलिए सुविधा के लिए यहाँ की तीनों—मैथिली, मगही, भोजपुरी—में से किसी एक स्थानीय बोली को सरकारी न्यायालयों एवं स्कूली शिक्षा का माध्यम बना देना चाहिए। उन्होंने इन तीनों बोलियों को 'पूर्वी' हिन्दी अथवा 'हिन्दुई' न कहकर 'बिहारी' नाम से अभिहित किया। भारतीयों को एक विदेशी प्रशासक द्वारा भाषागत अनैक्य की बात उठाना रुचिकर न हुआ। तत्कालीन विद्वत्समाज ने इसे शासकों की राजनीतिक चाल समझी। अतः 'कलकत्ता रिव्यू' पत्रिका के भाषा-मंच से अनेक विद्वानों ने ग्रियर्सन के लेख पर अपना विरोध प्रकट किया। बाबू राधिकाप्रसन्न मुखर्जी ने एक के बाद एक दो लेख लिख डाले। उन्होंने डॉ० ग्रियर्सन पर दोषारोपण किया कि उनका निम्न-वर्ग की गँवारी अविकसित बोली को सरकारी भाषा बनाने का दुराग्रह ऐसा ही है जैसे 'कैम्ब्रियन माइनर' की बोली को उत्तरी इंगलिश-न्यायालय की भाषा निश्चित कर दिया जाय। पूर्वी-पश्चिमी बंगाली बोलियों की एकता पर बल देते हुए बाबू राधिकाप्रसन्न मुखर्जी ने यह भी कहा कि जिस प्रकार पच्चीस वर्ष में उक्त दोनों बोलियाँ प्रान्तीय भेद-भाव भूलकर एक हो गई हैं, उसी प्रकार शिक्षा और सभ्यता के विकास तथा प्रसार के साथ बिहार में प्रचलित विभिन्न बोलियों की निजी विशेषताएँ शनैः शनैः विलीन होकर साहित्यिक हिन्दी के समीपतर आती जायेंगी।

डॉ० ग्रियर्सन ने बाबू राधिकाप्रसन्न मुखर्जी द्वारा प्रस्तुत तर्कों का बाँकीपुर से (२७ जुलाई को) 'कलकत्ता रिव्यू' १८८१ ई० के माध्यम से हिन्दी तथा बिहारी भाषाओं का तुलनात्मक रूप देकर खण्डन किया। उन्होंने कहा कि जैसे कैम्ब्रियन जमींदार किसी विदेशी से फ्रेन्च में वार्तालाप करेगा तथा अपने परिवार में अंग्रेजी भाषा का प्रयोग करेगा, वैसे ही बिहारी जमींदार परदेशी से हिन्दी और स्थानीय प्रान्तवासी से बिहारी बोली में बात करेगा और जिस प्रकार हिन्दी की 'ठेठ' अमिश्रित या गँवारू और 'खड़ी' 'स्टैण्डर्ड' अथवा 'परिनिष्ठित' या 'नागरी' भाषा ज्ञान-भेद के आधार पर दो रूपों में मिलती है, उसी प्रकार बिहार का दुसाध वर्ग 'ठेठ' (स्थानीय) और उच्चतर वर्ग 'खड़ी' रूप का उपयोग करता है। उनके अनुसार विद्वत्-वर्ग की यह धारणा निराधार थी कि शिक्षित-वर्ग ने हिन्दी को साहित्यिक एवं राजनीतिक स्तर पर स्वीकार कर लिया है। उनका तर्क था कि हिन्दी के समाचार-पत्र केवल सरकारी पदाधिकारियों के लिए छपते हैं। जनता इनका विरोध नहीं कर सकती, क्योंकि एक तो आदेश की अवज्ञा से सरकारी-विरोध की सम्भावना

है, दूसरे बिहारी बोली में से कोई भी परिनिष्ठित नहीं। बिहारी भाषाओं को सरकारी-स्तर पर मान्यता दिलाना बिना सरकार की सहायता के संभव नहीं। इसलिए उन्होंने इस दिशा में कदम उठाया था। इसके अतिरिक्त डॉ० ग्रियर्सन ने यह मी स्पष्ट किया कि 'उर्दू', 'हिन्दी' दोनों भाषाओं में तो केवल शब्दकोश एवं लिपि का अन्तर हैं। परन्तु पश्चिमी और पूर्वी हिन्दी में उद्भव स्थल, उच्चारण, व्याकरण, धातु, शब्द, क्रिया, कृदन्त, वाक्य-रचना आदि सब दृष्टि से पर्याप्त भेद हैं। ये दोनों कभी एक सामान्य भाषा के स्तर पर आ ही नहीं सकेंगी। इस सन्दर्भ में डॉ० हार्नले के व्याकरण का हवाला देते हुए उन्होंने यहाँ तक कह डाला कि जो कर्मचारी बिहार प्रान्त के समस्त वर्गों से सामीप्य-सम्बन्ध का आकांक्षी है, उसे शासित तथा शासक के बीच हिन्दी साधक नहीं बाधक प्रतीत होगी और भारत का कोई हितैषी यह कभी नहीं चाहेगा। किन्तु देश का मनीषी वर्ग फिर भी डॉ० ग्रियर्सन के तर्कों में सद्भावना नहीं देख पाया। बाबू श्यामाचरण गांगुली ने सन् १८८२ के 'कलकत्ता रिव्यू' में प्रकाशित 'हिन्दी हिन्दुस्तानी एण्ड द बिहार डायलेक्ट्स' शीर्षक लेख में बाबू राधिकाप्रसन्न मुखर्जी के वक्तव्य की सराहना करते हुए डॉ० ग्रियर्सन की उर्दू-हिन्दी में अन्तर उत्पन्न करने तथा पूर्वी हिन्दी को 'बिहारी' नाम देने पर भर्त्सना की गयी। उन्होंने कहा कि 'भोजपुरी', मैथिली या 'मागधी' तीनों में से कोई भी बोली न्यायालयों की भाषा स्वीकार नहीं हो सकती। तात्पर्य यह है कि बिहारी-बोलियों के अस्तित्व की घोषणा एवं स्थापना के अपराध में डॉ० ग्रियर्सन पर चारों ओर से प्रहार होने लगे। परिणामतः उसी वर्ष के अगले अंक में उन्होंने अपने कथन की पुष्टि में एक लेख पुनः भेजा। इस बार परिशिष्ट में भी कतिपय बिहारियों के वक्तव्य संलग्न थे। उल्लिखित प्रहारों से अपनी रक्षा करने के निमित्त उन्होंने जो तर्क प्रस्तुत किए, वे संक्षेप में इस प्रकार थे :—

१—बिहारी नाम डॉ० ग्रियर्सन ने नहीं अपितु 'इंगलिश मैन' नामक पत्र के सम्पादक ने सन् १८८१ ई० के वसन्त अंक के सम्पादकीय में प्रथम बार सुझाया था। यही नाम डॉ० हार्नले ने भी स्वतन्त्र रूप से पूर्वी हिन्दी की अपेक्षा अधिक उपयुक्त माना है। 'बिहारी' नाम किसी साहित्यिक बोली को नहीं, बल्कि उन बोलियों को दिया गया है जो बिहार-प्रदेश में प्रचलित है तथा जिनमें स्थान-भेद से जनसाधारण अपने भावों को सदियों से वाणी देता आ रहा है। उन्होंने स्वीकार किया कि इनका सांस्कृतिक पक्ष नगण्य है और कोई परिनिष्ठित रूप भी उपलब्ध नहीं फिर भी उनके स्थानीय अस्तित्त्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

२—डॉ० हार्नले का हवाला देते हुए डॉ० ग्रियर्सन ने मैथिली को बंगाली की उपभाषा मानने से भी अस्वीकार किया। उक्त कथन के समर्थन में वे बेट के 'हिन्दी-कोश' का उल्लेख करना नहीं भूले हैं।

३—डॉ ग्रियर्सन यह तो स्वीकार करते हैं कि बहुत-सी भाषाएँ देश के लिए घातक होती हैं, परन्तु इस कारण किसी देश में प्रचलित बहु भाषाओं के अस्तित्व का निषेध भी तो नहीं किया जा सकता। स्वयं उन्हीं के शब्दों में 'कोई जाति अथवा राष्ट्र संसद के अधिनियम के सहारे भाषा नहीं बदल सकता। अतः सर्वप्रथम बिहारी बोलियों के अस्तित्व को स्वीकार किया जाय और जब पंजाबी, गुजराती, मराठी, सिन्धी आदि 'हिन्दुस्तानी' की अंग बन जायें, तब यह देखा जाय कि अद्यावधि असफल हिन्दुस्तानी के पाँव बिहार में जमे या नहीं। इस अवधि में स्पष्ट हो जायेगा कि न्यायालय, स्कूल और सरकार की आत्म-प्रवंचक नीति के बावजूद भी बिहारी बोलियाँ बनी हैं। और भविष्य में भी बनी रहेंगी।' उन्होंने सीधे आक्षेप करते हुए बाबू श्यामाचरण गांगुली से जिज्ञासा प्रकट की, कि यदि वे हिन्दुस्तानी को 'इम्पीरियल लैंग्वेज ऑफ इण्डिया' बनाकर भी प्रान्तीय भाषाओं को सर्वथा बहिष्कृत करने के पक्ष में नहीं हैं तो बेचारी 'बिहारी' भाषाओं ने ही क्या अपराध किया है ?

परिशिष्ट में डॉ० ग्रियर्सन ने सरकारी तथा गैर सरकारी दोनों वर्गों से अपने वक्तव्य के पक्ष में कतिपय अन्य नागरिकों के मत भी उद्धृत किए जो संक्षेप में इसप्रकार थे :—

(i) २६ नवम्बर, सन् १८८१ के 'बिहार हैरल्ड' में किसी बिहार निवासी ने 'उर्दू गाइड' में ग्रियर्सन पर किये गये कुछ आक्षेपों का उत्तर देते हुए कहा कि सरकारी काम की भाषा न तो उर्दू होनी चाहिए और न हिन्दी, क्योंकि दोनों भाषाएँ बिहार की वर्तमान बोलियों की उपेक्षा करके चलेंगी।

(ii) मुंगेर जिले के किसी शिक्षित जमींदार ने २१ फरवरी ६८८२ के समाचार-पत्र में लिखा कि प्रत्येक बिहार-वासी अपनी मातृ-भाषा में बोलता है। वस्तुतः तिरहुती मगही और भोजपुर आदि सब प्रदेश भाषाभिव्यक्ति के लिए स्थानीय बोली का व्यवहार करते हैं जो उर्दू से नितान्त भिन्न हैं।

(iii) ग्रियर्सन द्वारा प्रस्तुत तीसरा उद्धरण शाहाबाद के मैथिली-भाषी किसी सहायक मजिस्ट्रेट का था जिसके अनुसार वर्ग चाहे उच्च हो अथवा निम्न, वक्ता पुरुष हो अथवा स्त्री, प्रत्येक अपने प्रान्त की बोली—यानी भोजपुरी, तिरहुती या मगही—में बात करता है। बिहारी भाषाओं के समर्थकों ने यह भी कहा कि बचपन से उर्दू-फारसी का निरन्तर अध्ययन करने वाली कायस्थ जाति तक दैनिक व्यवहार में अपने परिवार, बन्धु-बान्धवों और भृत्य वर्ग के साथ मातृ-भाषा का उपयोग करती है। यही नहीं, विवाह आदि के निमन्त्रण भी अपवाद छोड़ कर स्थानीय बोली में छापे जाते हैं। अन्त में ग्रियर्सन ने तीन मागध पण्डितों से इस सम्बन्ध में जो प्रश्न किया वह उल्लेखनीय है। इन पण्डितों से जब पूछा गया कि वे किस बोली में पत्र-

व्यवहार करते हैं तो उत्तर मिला कि 'आगे हमसभनी, मगही बोली में आपुस में चिट्ठि लिखही और हिन्दी कवही केहुँ न लिखि।' इस प्रकार उन्होंने सरकारी पदाधिकारी जमींदार और अंग्रेजी भाषा न जानने वाले अनेक बिहारियों के कथनांश द्वारा सिद्ध कर दिया कि व्यक्तिगत क्षेत्र में सदा बिहार की ही किसी-न-किसी बोली का उपयोग किया जाता है।

बिहार की भाषा समस्या

बिहार की भाषाओं—मैथिली, मगही, भोजपुरी—में से किसी एक को बिहार की भाषा बनाने के लिए ग्रियर्सन ने सुझाव दिया था। उनका यह स्पष्ट मत था कि हिन्दी, उर्दू, दोनों में से, कोई भाषा बिहार के लोग नहीं जानते और वे परस्पर एक दूसरे से अपनी मातृभाषा में ही वातचीत करते हैं। बिहार की जन-भाषा, यही तीनों भाषाएँ हैं और प्रशासन में इनमें से किसी एक का प्रयोग होना चाहिए। सरलता तथा बहुसंख्यक लोगों की दृष्टि से भोजपुरी इस योग्य है कि प्रशासन में इसका प्रयोग किया जाय, किन्तु यह तब तक स्वीकार न होगी, जब तक मैथिली और मगही भाषी इसे मान न लें। इस समय बिहार में प्रशासन की भाषा हिन्दी है। किन्तु जनता अपना अधिकतर कार्य अपनी मातृ-भाषा के द्वारा सम्पन्न करती है। पुनः मैथिली में साहित्य की परम्परा बहुत पुरानी है। किन्तु उसका व्याकरण जटिल है। उस युग में ग्रियर्सन के प्रस्ताव का, जैसा कि हम देख चुके हैं, बहुत विरोध हुआ और यह कहा गया कि ब्रिटिश शासक का एक अधिकारी बिहार में फूट डालने के लिए बिहारी को प्रशासन की भाषा बनाना चाहता है। ग्रियर्सन ने इसका तर्क सम्मत उत्तर दिया। ग्रियर्सन के विरोधियों का यह कहना था कि आगे चलकर सब लोग हिन्दी या हिन्दुस्तानी को अपना लेंगे, राष्ट्रीयता की दृष्टि से भी इस समस्या का यही हल है।

किन्तु आज जो बिहारी की भाषिक स्थिति है, उसे देखते हुए यह कहना पड़ता है कि ग्रियर्सन बहुत कुछ अंशों में सही थे। आज बिहार में तीन एकेडेमियों की स्थापना हो चुकी है। ये हैं—मैथिली, भोजपुरी और मगही। इन एकेडेमियों के तत्वावधान में मैथिली, भोजपुरी, मगही और अनेक विधाओं पर पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं। उपन्यास, निबन्ध, कहानी तथा पद्य की भी इधर अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। लोगों की यह आशा कि हिन्दी के प्रचार-प्रसार से ये बिहारी भाषाएँ धीरे-धीरे समाप्त हो जायेंगी, दुराशा में परिणत हो गई है। शिक्षा का माध्यम बिहार में हिन्दी है। उच्च शिक्षा में भी इसका प्रवेश हो गया है। किन्तु जनता अपना मनोभाव इन बोलियों द्वारा ही प्रकट करती हैं। इस भाषिक स्थिति में हिन्दी बिहार में प्रशासन और उच्च शिक्षा का माध्यम है।
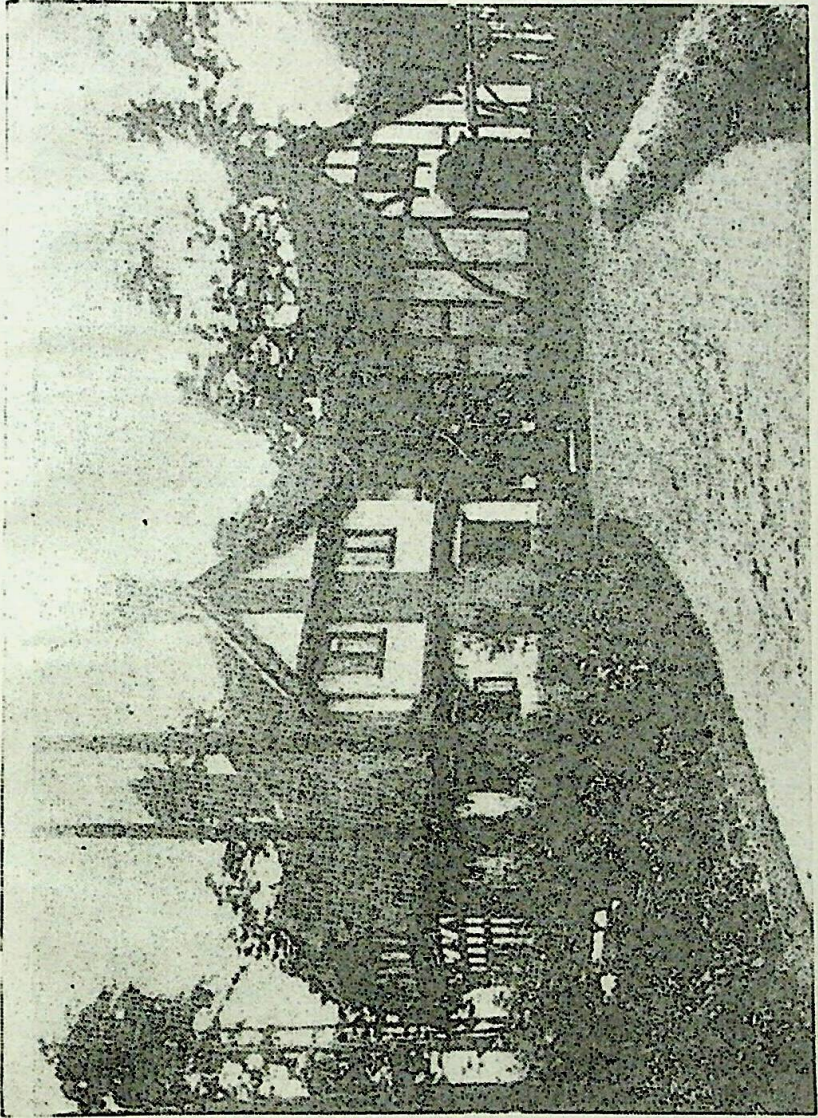
राथ्फ़ार्नहम, केम्बर्ले

बात यह है कि कोई एक भाषा बिहार की वर्तमान स्थिति में प्रशासनिक भाषा नहीं हो सकती। वर्तमान स्थिति में किसी एक भाषा के लिए सब लोगों को मजबूर करना न तो उचित है, और न वांछनीय। ऐसी स्थिति में हिन्दी को ही बिहार में चलने देना चाहिए। किन्तु सम्पूर्ण बिहार को शिक्षित करने तथा प्रौढ़ शिक्षा के लिये प्राइमरी तक मातृ-भाषा का प्रयोग होना चाहिए। समय को देखते हुए बिहार की भाषिक समस्या को हल करने का यही एक ढंग है।

उपसंहार

ग्रियर्सन ने भाषा-सर्वेक्षण की समाप्ति पर अपना जो उद्‌गार व्यक्त किया है तथा अपने सहायकों के प्रति जो कृतज्ञता-ज्ञापन किया है वह यहाँ दिया जाता है :—

जो भी हो, मैं सर्वेक्षण के इन खण्डों को भारत को समर्पित करता हूँ। भारत अनेक वर्षों तक मेरा वास-स्थान रहा है और इसने स्वयं मेरे हृदय में गत आधी शताब्दी से अपना घर बना लिया है। मेरे लिए वह दिन चिरस्मरणीय रहेगा, जब सन् १८६८ में मेरे आदरणीय गुरु प्रोफेसर राबर्ट एट्‌किन्सन ने संस्कृत वर्णमाला से मुझे परिचित कराया, और इस कारण शीघ्र ही डबलिन-स्थित ट्रिनिटी कॉलेज का उनका कमरा मेरे लिए अति परिचित हो गया। पाँच वर्ष बाद, भारत के लिए रवाना होने के पूर्व, जब उत्साह से पूर्ण मैं उनसे बिदा लेने गया तो उन्होंने इस कार्य का भार मुझे सौंपा और यौवन की उमंग में मैंने इसे प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार भी कर लिया। अपने सक्रिय जीवन में जिन व्यक्तियों के साथ मुझे कार्य करने का अवसर मिला, मैंने प्रेमपूर्वक किया, किन्तु गुरु का आदेश सदैव मेरे मस्तिष्क में वर्तमान रहा और प्रशासकीय कार्यों से बचा हुआ समय इस कार्य को सम्पन्न करने में लगाने के लिए प्रेरणा देता रहा।

बीस वर्ष के बाद यह अवसर आया और इस सर्वेक्षण का गौरव मुझे प्राप्त हुआ। व्यक्तिगतरूप से मेरे लिए इन ग्रन्थों की तैयारी के दिन अलाभकर थे। इस बीच मुझे तीन सहस्र वर्षों के पीढ़ी-दर-पीढ़ी के महान् विचारकों के विचारों से गुम्फित भव्य साहित्य के दर्शन का सुअवसर मिला। मैं काव्य की उस मनोहर वाटिका में विहार करने में समर्थ हो सका, जिसका आरम्भ वेद की प्रसन्नमना चिन्ता-मुक्त ऋचाओं से होता है; तथा जिसकी धारा महाकाव्यों, कालिदास के शीर्षस्थानीय मोहक नाटकों, सुधार-काल के संतों की वाणियों, तुलसी के आत्म-निवेदक पदों एवं बिहारीलाल की अलंकृत रचना से प्रवाहित होती है। सत्यरूपी फल को मैंने अनेक ज्ञान-वृक्षों से प्राप्त किया है। इसके दाताओं में यदि एक ओर वे ज्ञानी, अद्वैतवादी एवं सूक्ष्मदर्शी पंडित थे जो अपने विचारों को स्फटिक की भाँति स्वच्छरूप में स्पष्ट करने वाले थे, तो दूसरी ओर वे भोले किन्तु रूढ़िग्रस्त कृषक थे जो अपनी ग्रामीण

भाषा में किसी वृक्ष के नीचे गुनगुनाने में व्यस्त थे। किन्तु उनका सृष्टिकर्ता भगवान् के प्रति इतना दृढ़ विश्वास था कि उनके समक्ष एक धार्मिक ईसाई को भी लज्जित होना पड़ेगा। धार्मिक भावनाओं में मैंने छिपे हुए धर्म को देखा है, पौराणिक गाथाओं में मैंने इतिहास का दर्शन किया है और निरक्षर ग्रामीणों की कहावतों में मुझे ज्ञान प्राप्त हुआ है। यहीं और यहीं, भारत ने मेरी सहायता की है। लेकिन मैं भारतवर्ष की सहायता कैसे करूँ? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर, भारत में सम्राट की नौकरी में आने वाले हममें से प्रत्येक पश्चिमीय व्यक्ति ने अपने अनुसार भरसक देने का प्रयत्न किया है। हममें से अनेक व्यक्ति अच्छे योद्धा, महान् विद्वान्, अच्छे अध्यापक तथा चिकित्सा के निपुण आचार्य रहे हैं। हमने भारत को जो प्रतिदान दिया है, वे विभिन्न प्रकार के रहे हैं, किन्तु उनमें कर्तव्यनिष्ठा एवं उन लक्ष-लक्ष व्यक्तियों के प्रति प्रेम एवं सहानुभूति की भावना रही है, जिनके साथ भाग्यवश हमें कार्य करने का अवसर मिला है। इस प्रश्न का उत्तर देने में मेरा भाग वहुत ही थोड़ा रहा है, किन्तु यदि इस सर्वेक्षण ने भारत को पश्चिम के निकट लाने में कुछ भी सहायता की, तो मैं यह समझूँगा कि मेरा प्रयत्न सर्वथा व्यर्थ नहीं गया।

कृतज्ञता-प्रकाश

जिन व्यक्तियों ने इस कार्य में मुझे सहायता प्रदान की है, यदि मैं उनमें से प्रत्येक को धन्यवाद देने लगूँ तो इसके लिए सर्वेक्षण का एक और खण्ड बनाना पड़ेगा। सरकारी सेवा के अनेक कर्मचारियों, उदार मिशनरियों तथा उन अन्य लोगों का मैं अत्यधिक ऋणी हूँ, जिन्होंने विविध भाषाओं के नमूने प्राप्त करने तथा मेरी कठिनाइयों को हल करने में कोई प्रयत्न नहीं उठा रखा है। प्रत्येक दशा में उनके नामों को उनके द्वारा प्रदत्त नमूनों के ऊपर अंकित कर दिया गया है। यदि मैं यहाँ इन सबका एक साथ ही उल्लेख कर रहा हूँ और प्रत्येक का अलग-अलग नाम नहीं दे रहा हूँ तो वे यह न समझें कि इनके ऋण के भार को हलका करने के लिए मैं ऐसा कर रहा हूँ। फिर भी अपवादस्वरूप एक व्यक्ति का नाम मुझे यहाँ देना है, और वह व्यक्ति रेवरेण्ड मैकलिस्टर हैं। महाराजाधिराज जयपुर नरेश की प्रेरणा से उन्होंने इस राज्य में बोली जाने वाली बोलियों का सर्वेक्षण किया था। जिस पुस्तक में उनकी खोजों के निष्कर्षों को स्थान मिला है, वह वास्तव में लोक-साहित्य का भंडार है तथा जो लोग राजपूताने की भाषाओं तथा बोलियों से परिचय प्राप्त करना चाहते हैं, उनके लिए इस पुस्तक का अध्ययन अनिवार्य रूप से आवश्यक है। अपने निकट सम्पर्क के व्यक्तियों में सर्वप्रथम मैं रायबहादुर श्री गौरीकान्त के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। जब तक मैं भारत में रहा तब तक और वहाँ से यहाँ चले आने

के कुछ वर्षों बाद तक वे मेरे मुख्य सहायक के रूप में कार्य करते रहे। इस सर्वेक्षण के आरम्भिक दिनों में भाषा-सम्बन्धी जो हजारों नमूने प्राप्त हुए थे, उनके संकलन, वर्गीकरण तथा प्रतिलिपि आदि का समस्त भार उन्हीं के ऊपर था। कार्यालय में विभिन्न जातियों एवं योग्यता के लेखक थे, किन्तु वास्तव में कुशलता के साथ उनका निरीक्षण श्री राय ही करते थे और उसी का यह परिणाम था कि इस सर्वेक्षण का प्रारम्भिक कार्य निरन्तर एक रूप से अग्रसर होता हुआ सम्पन्न हो सका। श्री राय ने भारत सरकार के तत्त्वावधान में बहुत दिनों तक महत्त्वपूर्ण सेवा-कार्य किया और अन्त में सन् १९२१ में वे इससे मुक्त हुए। इस समय पंजाब के दंगे की जाँच के सम्बन्ध में जो सरकारी कमेटी बनी थी, उसके वे मुख्य निरीक्षक थे। अपने मित्र तथा सहयोगी प्रो० स्टेनकोनो के प्रति पर्याप्त रूप से कृतज्ञता ज्ञापन करना मेरे लिए बहुत ही कठिन है। प्रायः तीन वर्षों (१९०० से १९०२) तक, उन्होंने मेरे साथ, मेरी बगल में बैठकर, एक ही कमरे में काम किया है। इस सर्वेक्षण के कई खण्डों के अनेक पृष्ठों पर जो उस समय लिखे गये थे, उनकी मौन किन्तु प्रेरणात्मक सहायता की पूरी छाप है। अपनी जन्मभूमि क्रिश्चियाना में लौट जाने के पश्चात् भी वे अपने स्पष्ट ज्ञान तथा गंभीर पांडित्य से निरन्तर मेरी सहायता करते रहे हैं, जैसा कि विभिन्न भूमिकाओं में स्पष्ट किया जा चुका है, सर्वेक्षण का अधिकांश भाग उन्हीं की लेखनी द्वारा लिखा गया है और इन अंशों का सम्पूर्ण श्रेय उनको नहीं दिया गया तो मुझे दुःख होगा।

१९०३ में जब प्रो० कोनो नार्वे लौट गये, तब ई० एच० हाल मेरे सहायक हुए। उनकी निरंतर सावधानी के प्रति मैं धन्यवाद के दो शब्द लिखने का लोभ संवरण नहीं कर सकता। ईरान तथा स्याम के बीच व्यवहृत होने वाली प्रत्येक प्राच्य लिपि से परिचित होने के कारण वह एक अत्यधिक कुशल प्रूफरीडर हैं और उनकी दृष्टि से मुद्रण की शायद ही कोई अशुद्धि छूट पायी हो। सर्वेक्षण के विभिन्न खण्डों के प्रायः सभी मूल मानचित्र उन्हीं की लेखनी से अंकित हुए हैं। उनके तथा भारत-सरकार के प्रेस के सतर्कतापूर्ण मुद्रण के कारण ही यह सर्वेक्षण अनेक अशुद्धियों से मुक्त रह सका है। अन्त में, मैं ब्रिटिश तथा विदेशी, फारेन बाइबिल सोसाइटी के अपने मित्रों एवं सहयोगियों के प्रति आभार प्रदर्शित करता हूँ। इनमें भी इसके सम्पादक, मंत्री डा० किलोर (Kilgour) तथा इसके साहित्यिक निरीक्षक श्री डारलो (Darlow) का मैं विशेषरूप से आभारी हूँ। भारतीय भाषाओं के इतिहास के अनुसन्धान-सम्बन्धी मेरे प्रश्नों के उत्तर में उन्होंने निरन्तर जो सहानुभूति एवं व्यावहारिक सहायता प्रदान की है, वह सचमुच बेजोड़ है। इस साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण अंश तो बाइबिल का अनुवाद ही है और अनेक अपरिचित एवं अज्ञात भाषाओं की प्रकाशित साहित्यिक सामग्री के रूप में तो केवल यही उपलब्ध न थी, उसे

मेरे लिए भारत से मँगाया गया। सोसाइटी के पुस्तकालय में सुरक्षित तथा श्री डारलो एवं श्री मुले द्वारा निर्मित, विद्वत्ता एवं पूर्णता के स्मारक स्वरूप बाइबिल के प्रकाशित संस्करणों की ऐतिहासिक अनुक्रमणिका वस्तुतः सूक्ष्म सूचनाओं का अक्षय स्रोत थी। इसका अधिकांश सर्वेक्षण के परिशिष्टांक में समाविष्ट कर दिया गया है। इस सम्बन्ध में कृतज्ञता प्रकाशन के रूप में, इस ग्रंथ के अन्त में, निम्नलिखित प्रार्थना के शब्दों को उद्धृत करना ही श्रेयस्कर होगाः—

मेरे कृपालु पाठक, यदि आपको मेरी इस कृति से कुछ भी लाभ हुआ हो तो इसे आप भगवान को ही समर्पित करें, क्योंकि वास्तव में शाश्वतरूप में वही यश का भागी है।

———

भूमिका

भारोपीय की निवासभूमि

१. आर्य भारत के मूल निवासी थे या कहीं बाहर से आये, यह विवादास्पद प्रश्न है। यह प्रश्न भी उस समय उठा जब १८८३ ई० में 'एशियाटिक सोसाइटी' की स्थापना हुई और सर-विलियम जोन्स ने संस्कृत का अध्ययन किया। सर-विलियम जोन्स ने तुलनात्मक आधार पर यह सिद्ध किया कि यूरोप की ग्रीक और लैटिन भाषाओं का संस्कृत से घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा ये तीनों एक ही परिवार की भाषाएँ हैं। उन्होंने यह भी सिद्ध किया कि ईरान की फारसी और संस्कृत में अतिनिकट का सम्बन्ध है। हमारे देश में संस्कृत और फारसी, दोनों भाषाओं के, गभीर अध्येता मौजूद थे, किन्तु भारतीय मनीषा कितनी अवरुद्ध थी कि हम यह न जान सके कि सचमुच फारसी और संस्कृत दोनों सहोदरा हैं। इस तथ्य का उद्घाटन करने के लिये सर-विलियम जोन्स को ही श्रेय मिला और जब उन्होंने इसकी तथ्यपरक व्याख्या की तब हम सन्तुष्ट हुए। अब प्रश्न यह है कि यह बात हुई कैसे ? भारत एक छोर पर और ग्रीक लैटिन तथा लिथुआनी-भाषा भाषी द्वितीय छोर पर, इन दोनों में सान्निध्य कैसे स्थापित हुआ ? इस बात को लेकर यूरोपीय विद्वानों ने बड़े परिश्रम से खोज किया और ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के अध्ययन से मैक्समूलर ने यहाँ तक कह डाला कि किसी युग में भारती-ईरानी तथा यूरोपीय लोग के पूर्वज एक छत के नीचे, मध्य-एशिया में रहते थे। यहाँ से यह अपने विभिन्न क्षेत्रो में प्रसरित हुए।

२. भारत-यूरोपीय भाषा-भाषी के पूर्वज कहीं न कहीं बाहर से आये, इसे लेकर जो दौड़ आरम्भ हुई तो कई स्थान इसके लिये निर्धारितप्राय होने लगे। हम यह नहीं कहते कि निश्चितरूपेण वह कौन-सा स्थान था जहाँ से भारत-यूरोपीय भाषा-भाषी लोगों का बिखराव हुआ किन्तु इस दिशा में जो प्रयत्न हुए हैं, वह कम रोचक नहीं है और इसका विवरण नीचे दिया जा रहा है।

३. आदि भारोपीय जन को (विरॉस् =सं० वीरः) विरॉस् कहते हैं। मैक्समूलर के अनुसार इनका निवास-स्थान मध्य-एशिया था जहाँ से इनकी एक शाखा यूरोप को गयी तथा द्वितीय शाखा ईरान एवं भारत की ओर प्रसरित हुई। प्रो० ओट्टो श्रेडर ने भारोपीय की विविध भाषाओं का अध्ययन कर, एशिया और

यूरोप की सीमा, दक्षिण के घास के मैदान के साथ, इस भूमि का तादात्म्य स्थापित किया है। प्रो० जाइल्स इस स्थान की सीमा निर्धारित करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि "यह यूरोप स्थित वह विस्तृतभूमि थी जिसके पूर्व में कार्पेथियन पर्वतमाला दक्षिण में आल्पस पर्वत, पश्चिम में आस्ट्रिया से संपृक्त आल्प्स पर्वत एवं वोह्मेर का अरण्य प्रदेश तथा उत्तर में एल्जवर्ग पर्वत था, जिसकी शृङ्खला कार्पेथियन से मिलती है।"

४. इस विषय के अध्येता अन्य यूरोपीय विद्वानों का यह स्पष्ट मत है कि 'आदि भारोपीय लोगों की निवासभूमि कहीं न कहीं यूरोप में ही थी।" इस निष्कर्ष का यह परिणाम हुआ कि इन विद्वानों ने पूर्वी रूस, उत्तरी जर्मनी, पश्चिमोत्तर यूरोप (स्केण्डीनेविया), पोलेण्ड एवं लिथुआनिया को भारोपीय की निवासभूमि सिद्ध करने का प्रयत्न किया।

५. (i) 'भारतीय आर्य-भाषा और हिन्दी' के पृष्ठ १३ से १६ पर डब्लू ब्रान्द्रेश्ताइन का इस सम्बन्ध में मत उद्धृत करते हुए डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी लिखते हैं :—

"अभी हाल में ब्रान्द्रेइताइन ने भारत-यूरोपियों के आदि निवास-स्थान पर पर्याप्त प्रकाशडाला है। उन्होंने दिखाया है कि भाषाश्रयी प्रमाणों के आधार पर हम आद्य-भारतीय युरोपियों (भारोपियों) के इतिहास को दो स्पष्ट कालों में विभाजित कर सकते हैं :—

५. (ii) १—प्राथमिक काल—जबकि भारतीय युरोपीय जन की वोलियों की कुछ भिन्नता लिये हुए कई समूह में विभाजन नहीं हुआ था।

५. (iii) २—उत्तरकाल—जबकि भारतीय ईरानी-शाखा भारोपीय-पितृकुल से पृथक् हो चुकी थी और भारोपीययों की मुख्य शाखा अलग होकर नये जलवायु वाले किसी नये प्रदेश को चली गयी थी। पहले काल के अन्तर्गत तो भारोपीय में प्रचलित कुछ प्रमुख शब्दों और धातुओं के अर्थ जैसे मूल में प्रचलित थे, वैसे ही भारतीय-ईरानी शाखा के पूर्वजों में प्रचलित वोलियों में भी ज्यों के त्यों रहे। परन्तु दूसरे काल में, इन शब्दों और धातुओं के अर्थ भारतीय ईरानी-वहिर्भूत अन्य शाखाओं में कुछ नये और भिन्न हो गये, जो भारतीय-ईरानी-शाखा की वोलियों में नहीं मिलते। उदाहरणार्थं आद्यभारोपीय में ग्वेर्, ग्वेरौ (gwer, gwerau) का मूलार्थ 'पत्थर' होता था, संस्कृत में उसके रूप 'ग्रावन्' (gräuen) का अर्थ कुछ संकीर्ण होकर, 'सोमरस को निचोड़ने का पत्थर' होता है। परन्तु भारोपीय की अन्य शाखाओं में इसका अर्थ 'चक्की का पत्थर' हो गया। यह अर्थ कालान्तर में विकसित हुआ। आद्य भारोपीय में 'मेल्ग्' (melg) का अर्थ है 'रगड़ना';—संस्कृत में मृज्, मृष् में भी यही अर्थ विद्यमान है। परन्तु भारतीय-ईरानी के अतिरिक्त

अन्य भारोपीय की बोलियों में उसका अर्थ 'दूध दुहना' (to milk) हो गया। आद्य भारोपीय की धातुओं और शब्दों के अर्थों में हुए विभिन्न परिवर्तनों का अत्यन्त सूक्ष्मता से अभ्यास करने के पश्चात् ब्राह्मेन्देश्ताइन एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। वह यह है कि अपनी आद्यावस्था में आदिम भारोपीयजन किसी अपेक्षाकृत शुष्क प्रदेश में निवास करते थे परन्तु थीं कुछ छोटी-छोटी वन्यवनस्पतियाँ जिनमें निम्न-लिखित वृक्ष थे —वंज या वजरांठ (Oak), वेतस (willow), भूर्ज (birech), गोंदयुक्त देवदारु जातीय वृक्ष और एक लचीला वृक्ष। वहाँ फलदार वृक्ष न थे। प्रारम्भ में वे इन जानवरों से परिचित थे: ऋष्य (एक हिरण विशेष), वन्य वराह, वृक, लोवा (लोमड़ी) रीछ, शशक, उदविलाव, मूषक तथा वन्य पशुओं में कुछ अन्य प्राणी। पालतू जानवरों में से गाय स्पष्टतः उन्हें सुमेरों से प्राप्त हुई थी। (सुमेरी 'gud' उच्चारण 'गु'='गु' के अन्तिम व्यंजन का लोप लगभग २७०० ई० पूर्व हो गया था और आद्य भारोपीय में उसका परिवर्तित रूप—ग्वाउस् gwous ले लिया गया था)। उनके अन्य पालतू पशु भेंड़, वकरी, घोड़ा, कुत्ता और सूकर थे···जब वे अपने आदिम वास-स्थान को छोड़कर आगे बढ़े तब उन्हें एक निम्नदलदल का प्रदेश मिला जहाँ उनका परिचय कुछ विस्तृत और नूतन प्रकार के वृक्ष—वनस्पतियों से हुआ। आद्य भारोपीय के प्राचीनतर स्तर पर जाँच से प्राप्त प्राकृतिक लक्षण बहुत अंशों में यूराल पर्वत के दक्षिण एवं पूर्व में स्थित किरगिज के मैदान में घटित होते हैं और उसके पश्चात् के स्तर के शब्दार्थ की वैज्ञानिक दृष्टि से परीक्षा करने पर भारोपियों के नूतन आवास के जो लक्षण उपलब्ध होते हैं. वे पूरे-पूरे कार्पेथियन पर्वतमाला से लेकर बाल्टिक सागर तक विस्तृत समतल प्रदेश पर घटित होते हैं।

५. (iv) ब्रान्देश्ताइन के मतानुसार मध्य-एशिया के भारतीय आर्यों के प्रारंभिक निवास स्थान होने वाला मत ही पुनः कुछ परिष्कृत रूप में सर्वाधिक अनुमान-सिद्ध होता है। इसप्रकार यूराल-पर्वतमाला के दक्षिण में स्थित सुविस्तृत प्रदेश ही आद्य भारतीयार्यों की मातृभूमि सिद्ध हुई प्रतीत होती है। उनकी एक शाखा, भारत-ईरानी कुल की पूर्वज, संभवतः वहीं रही जबकि मुख्य शाखा पश्चिम में आधुनिक पोलैण्ड की ओर प्रसरित होती हुई चली गयी। संभवतः यही स्थान 'विरॉस्' के यूरोप में प्रसरित होने का केन्द्रविन्दु हुआ।'

६. टी० वरो अपनी कृति 'द संस्कृत लैंग्वेज' के पृष्ठ ९वें में इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखते हैं कि :—

'यह बात प्रायः निश्चित है कि मध्य-एशिया, विशेष रूपेण, आक्सस नदी के कांठे से भारतीय एवं ईरानीय आर्य-जन अपने-अपने जनपदों में गये। परन्तु, इस बात का न तो किंचित् साक्ष्य ही है ओर न संभावना ही कि जर्मन, केल्ट, ग्रीक एवं भारोपीय वर्ग के अन्य यूरोपीय सदस्य कभी इस क्षेत्र में विद्यमान थे। इसीलिये यह

मानना पड़ता है कि भारोपीय की मूल-निवासभूमि कहीं न कहीं यूरोप में ही थी। इसके लिये सहज एवं सशक्त तर्क यह है कि यूरोप में ही इस वर्ग की सर्वाधिक भाषाएँ उपलब्ध है और इनमें अत्यन्त प्राचीनकाल से ही भाषागत विभिन्नताएँ पर्याप्त मात्रा में हैं।

७. भारोपीय की निवासभूमि के सम्बन्ध में इतनी चर्चा पर्याप्त है और जब तक इस विषय में अभिनव सामग्री प्राप्त न हो तब तक विवाद को अग्रसारित करने में कोई रस नहीं है। इधर जब से नवीनरूप में भाषाविज्ञान का अध्ययन प्रारम्भ हुआ है तब से भाषा की उत्पत्ति तथा भारोपीय की मूल-निवासभूमि की खोज की चर्चा बन्द है। इसका मुख्य कारण यह है कि ये दोनों खोजें तथ्यपरक की अपेक्षा अनुमानाश्रित अधिक हैं। सच बात तो यह है कि सम्प्रति भाषाविषयक अनेक ऐसे जीवन्त प्रश्न भाषाविदों के सम्मुख हैं कि उनके समाधान से ही उन्हें अवकाश नहीं है।

भारत-इरानी अथवा आर्यवर्ग

८. (i) भारत-इरानी भाषा-भाषी अपने को आर्य कहकर सम्बोधित करते थें। अतएव इस शाखा को आर्यनाम से भी अभिहित किया जाता है। सामान्यतः इस शाखा के लोग ई० पू० २५००—२००० में उत्तरी (इरान) फारस में आकर बस गये होंगे। इसमें सन्देह नहीं कि इरानी एवं भारतीय आर्य अधिक समय तक एक साथ रहे होंगे। भारतीय आर्यों का प्राचीनतम ग्रन्थ 'ऋग्वेद' है जो विभिन्न स्तरों की आर्यभाषाओं का मूलस्रोत है। यद्यपि आज इस प्राचीन (भारत-इरानी) भाषा की कुछ भी सामग्री-उपलब्ध नहीं है किन्तु सम्बन्धित भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से, दो स्तरों पर इसे, भली-भाँति पुनर्निर्मित किया जा सकता है। इस पुनर्निर्माण की विधि निम्नलिखित है :—

८. (ii) १—प्राचीन-भारतीय तथा उसके निकट की सम्बन्धित इरानी भाषा के तुलनात्मक-अध्ययन से उस प्राचीन भारत-इरानी-भाषा का निर्माण किया जा सकता है जिससे कालान्तर में एक ओर इरानी तथा दूसरी ओर प्राचीन-भारतीय आर्यभाषाएँ प्रादुर्भूत हुई हैं।

८. (iii) २—इसीप्रकार एक ओर प्राचीन-भारतीय एवं इरानी तथा दूसरी ओर भारोपीय प्रसूत अन्य भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से उस मूल भारोपीय भाषा का निर्माण किया जा सकता है जिससे इस वर्ग की भाषाएँ प्रादुर्भूत हुई हैं।

९. भारोपीय वर्ग की भारत-इरानी-शाखा में सबसे प्राचीन साहित्य उपलब्ध है। इसकी निम्नलिखित तीन उपशाखाएँ हैं :—

(१) इरानी।

(२) दरद।

(३) भारतीय-आर्यभाषा।

१०. चूंकि इरानी एवं भारतीय-आर्य-भाषा में घनिष्ठ सम्बन्ध है, अतएव भारतीय आर्य-भाषा के वाङ्मय के अध्ययन के लिये इरान-स्थित आर्यों के भारत की ओर स्थानान्तरण से भारत-इरानी-शाखा की दो उपशाखाएँ हो गयीं। इनमें से इरानी उपशाखा के आर्य तो अपने मूलस्थान—इरान में रह गये किन्तु अन्य आर्य जन भारत में आ बसे और ये भारतीय आर्य कहलाये। इस अन्तिम पार्थक्य के पश्चात् एक भारत-इरानी शाखा दो भाषा-क्षेत्रों में विभक्त हो गयी और दोनों विकास के दो भिन्न पथों पर अग्रसर हुई। इनमें 'इरानी' मात्र इरान में ही केन्द्रीभूत न रह कर एक ओर मध्य-एशिया के विस्तृत भाग में प्रसरित होती हुई चीन की सीमा तक पहुँच गयी तो दूसरी ओर वह दक्षिणी रूस के मैदान तक फैल गई। इसका परिणाम यह हुआ कि इरानी कई बोलियों में विभक्त हो गई और आगे चलकर ये बोलियाँ स्वतन्त्र भाषाओं में परिणत हो गयीं। इसके विपरीत भारतीय आर्य भाषा, सापेक्षिक दृष्टि से, एक सुसम्बद्ध भौगोलिक क्षेत्र की भाषा बनकर उत्तरी भारत की भाषाओं को एकता-सूत्र में बाँधे रही।

११. प्राचीन-इरानी-भाषा के रूप 'अवेस्ता' एवं 'पुरानी-फ़ारसी' में मिलते हैं। 'अवेस्ता' ज़रथुस्त्र धर्मावलम्बी पारसीक (=पारसी) लोगों का पवित्र धर्मग्रन्थ है। इसी के नाम पर इसकी भाषा का भी नामकरण हुआ है। इसका आधार इरान के पूर्वी क्षेत्र की बोली है। इसका प्राचीन रूप 'गाथा' में उपलब्ध है जिसकी रचना का श्रेय ऋषि ज़रथुस्त्र (सं० जरठोष्ट्र) को दिया जाता है। विद्वानों के अनुसार ज़रथुस्त्र का समय ई० पू० ६०० है।

१२. (i) 'अवेस्ता' का रचनाकाल वेदों के रचनाकाल के बाद का है किन्तु इसकी भाषा भी काफी पुरानी है। 'अवेस्ता' तथा 'वेद' की भाषा में इतना अधिक साम्य है कि एक के बिना दूसरे का अध्ययन संभव नहीं है। इन दोनों के व्याकरण का ढाँचा समान है और दोनों में स्वनिक (ध्वन्यात्मक) अन्तर भी अत्यल्प ही है। उदाहरणार्थ नीचे दोनों के कतिपय धार्मिक एवं सांस्कृतिक शब्द दिये जाते हैं:—

संस्कृत	अवेस्ता	हिन्दी
सेना	हएना	सेना
हिरण्य	ज़रन्य	सोना
ऋष्टि	अरस्टि	भाला
असुर	अहुर	देव
यज्ञ	यस्न	यज्ञ
सोम	हओम	सोम
मित्र	मिथ्र	सूर्य
यम	यिम	यम

१२. (ii) पुनः नीचे 'अवेस्ता' का एक मन्त्र संस्कृत में रूपान्तरित किया जाता है। इससे दोनों का सादृश्य स्पष्ट हो जायेगा।

अवेस्ता का मन्त्र

हावनीम् आ रतूम् आ
हओमो उपाइत् ज़रथुस्त्रेंम्;
आत्रेंम् पाइरि-य ओंज्दथेंन्तेंम्
गथस्-च स्रावयन्तेम्।
आ-दिम् पेरेसत (ज़रथुस्त्रो),
'को, नरे' अही ?
यिम अजेंम वीस्पहें अङ-हेउश्
अस्तवतों स्रएष्टेम् दादरेंसे ॥

संस्कृतरूप

'सावने आ ऋतौ आ
सोम उपैत (उपागात्) जरठोष्ट्रम्,
अथरं एरिथोस्-दधतम्
गाथाश्च श्रावयन्तम्।
आ तं (अ) पृच्छत् जरठोष्ठ्रः
'को नरो असि ?
यं अहं विश्वस्य असोः (असुमतः)
अस्थन्वतः श्रेष्ठं ददर्श ॥'

"सवनवेला में होम (सोम) जरथुस्त्र के पास आया जो अग्नि को उज्ज्वल कर रहा था और उसको गाथा सुना रहा था। उसने जरथुस्त्र से पूछा 'आप कौन पुरुष हैं, जिन्हें मैं सभी अस्थिधारियों (जीवधारियों या प्राणियों) में श्रेष्ठ देख रहा हूँ।"

१३. 'अवेस्ता' एवं 'संस्कृत' की व्याकरणिक संरचना लगभग समान है। दोनों में तीन लिङ्ग, तीन वचन तथा छः कारक (आठ विभक्ति) हैं। यदि ध्वनि-परिवर्तन के नियमों को समझ लिया जाय तो दोनों ही सहज भाषाएँ प्रतीत होंगी। 'अवेस्ता' एवं 'संस्कृत' के स्वरों में भी कुछ ही भेद है। 'संस्कृत' के ह्रस्व स्वरों के स्थान पर 'अवेस्ता' में दीर्घ स्वर एवं 'संस्कृत' के दीर्घ स्वरों के स्थान पर 'अवेस्ता' में ह्रस्व स्वर दृष्टिगत होते हैं। परन्तु साधारणतया स्वरसाम्य दिखायी देता है जो निम्न-लिखित उदाहरण से सुस्पष्ट हो जायगा :—

संस्कृत	अवेस्ता
मातरः	मातर
इहि	इहि
जीव	जीव्य
उत	उत
दूर	दूर

अवेस्ता की भाषा में व्यञ्जनध्वनियाँ प्राचीनआर्यभाषा (वैदिक संस्कृत) के समान पूर्णतः सुरक्षित नहीं हैं। इनमें मूर्धन्यव्यञ्जनों का सर्वथा अभाव है। तालव्य व्यञ्जन मात्र 'च्' एवं 'ज्' ही हैं।

प्राचीन-फारसी

१४. यह इरान के दक्षिण-पश्चिम प्रदेश की भाषा थी। इस प्रदेश का पुरातन नाम 'पारस' था। इस प्रदेश के अधिवासी हख़ामनीशीय वंश के अभ्युदय के साथ-साथ उनकी मातृभाषा प्राचीन फारसी भी इरान की राज्यभाषा हो गयी। इस वंश के सम्राट दारयवउश (धारयद्वसु, ई० पू० ५२१-४८५) तथा उसके पुत्र जरक्शीस अत्यन्त प्रतापी हुए हैं। दोनों के जो स्तम्भलेख प्राप्त हुए हैं, उन्हीं से प्राचीन-फारसी की अध्ययन-सामग्री उपलब्ध हुई है। प्राचीनकाल में मैसोपोटामिया तथा एशिया-माइनर में जो कीलाक्षर प्रचलित थे, उसी के एक रूप में प्राचीन-फारसी के पुरालेख प्राप्त हुए हैं। जैसे—प्राचीन भारतीयार्यभाषा का विवर्तन पालि, प्राकृत तथा आधुनिकार्यभाषाओं के रूप में हुआ वैसे ही प्राचीन-फारसी ने भी मध्य-इरानी (पहलवी) तथा अर्वाचीन-फारसी को जन्म दिया। 'पहलवी' ईसा

की तीसरी शताब्दी से नवीं शती तक इरान में प्रचलित थी। इसमें इरानी के शब्दों के साथ-साथ सामी (अरबी) के शब्दों का भी प्रयोग होने लगा था और अनेक अरबी शब्द इरानी प्रत्यय लगाकर ग्रहण किए जाने लगे थे। इसप्रकार यह भाषा प्राचीन-फारसी की अपेक्षा अर्वाचीन-फारसी के अधिक निकट आ गयी।

१५. फारसी के सामीकरण या अरबीकरण की प्रथम प्रतिक्रिया इरान के महाकवि फ़िरदौसी में हुई जो महमूद गज़नवी के समय (१००० ई०) में हुआ था। उसने 'शाहनामा' नामक महाकाव्य की रचना की और इसमें इस्लाम के पूर्व के इरान के वीरों की गौरव-गाथा का वखान किया। फ़िरदौसी ने अपने काव्य में, शुद्ध फारसी भाषा के शब्दों के प्रयोग का प्रयत्न किया था। इधर जव से इरान में, नव-जागरण-युग का आरम्भ हुआ है तव से फ़िरदौसी को 'राष्ट्रकवि' का सम्मान दिया गया है। इसका प्रभाव स्पष्टतः भाषा पर भी पड़ा है और 'फारसी जदीद' (आधुनिक फारसी) में तुर्की की भाँति ही अव खाँटी फारसी-शब्दों, प्रत्ययों, एवं मुहावरों का प्रयोग होने लगा है। अफ़गान अथवा पश्तो, बलूची तथा कैस्पियन-सागर की समीपवर्ती कुछ भाषाएँ भी अर्वाचीन-इरानी के अन्तर्गत आती हैं।

दरद

१६. ग्रियर्सन आदि कतिपय भाषा-विज्ञान के पण्डितों ने भारत के उत्तर-पश्चिमी-सीमान्त प्रदेश, पामीर की उपत्यका की भाषाओं तथा कश्मीरी को भारतीय एवं इरानी भाषा के मध्य में स्थान दिया है। पुनः इन भाषाओं को 'दरदीय (dardic) नाम दिया है। इन भाषाओं में इरानी तथा भारतीय—दोनों ही भाषाओं की कुछ विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं। इन भाषाओं के मुख्यतः तीन वर्ग हैं—(१) पश्चिम में 'काफ़िरी', जिसमें साहित्य नहीं है; (२) केन्द्र में 'खोवारी' जिसका एक रूप 'चित्राली' अधिक व्यापक है; (३) उत्तर में शीणा', 'कश्मीरी' और 'कोहिस्तानी'।

भारत में आर्यों का आगमन

१७. अपने इरानी-बान्धवों से पृथक् होकर आर्यजन भारत में कव आये, इसे निश्चितरूपेण कहना कठिन है। संभवतः ईसापूर्व २००० से १००० के मध्य स्थानान्तरण का यह कार्य सम्पन्न हुआ होगा। विद्वानों के अनुसार आर्यों ने—अफ़गानिस्तान से काबुल के दर्रे से होकर भारत में प्रवेश किया। यहाँ बस जाने पर ये भारतीय-आर्य कहलाये तथा इनकी भाषा 'भारतीय-आर्य-भाषा' के नाम से अभिहित की गयी। यहाँ बसने के पश्चात् भारोपीय तथा भारत-इरानी से प्रसूत 'भारतीय-

आर्य-भाषा' ने स्वतन्त्र रूप धारण किया और ऋग्वेदादि-वेदों की रचना हुई। वैदिक आर्यों ने सर्वप्रथम 'पंजाब' (पञ्चनद) को अपनी आवास-भूमि बनाया। ऋग्वैदिक मन्त्रों में वितस्ता (=झेलम), असिक्नि (=चिनाब), परुष्णी (=रावी), विपाश (=व्यास) तथा शुतुद्रि (=सतलज) का बारम्बार नाम इस तथ्य को प्रमाणित करता है। सरस्वती (सतलज और यमुना के मध्य की आधुनिक सुरसुती) के आस-पास का प्रदेश आर्यों के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। आर्यों ने इसी प्रदेश में एक यज्ञपरायण संस्कृति को विकसित किया तथा यहीं अधिकांश वैदिक मन्त्रों की रचना हुई। जलवायु एवं वातावरण की दृष्टि से यह प्रदेश आर्यों के लिये मनोरम एवं मनोनुकूल था। इसे उन्होंने 'देवनिर्मित ब्रह्मावर्त्त' के नाम से अभिहित किया तथा परम्परा से आगत यहाँ के आचार को ही अन्य वर्णों के आदर्श आचार या सदाचार माना—

"सरस्वती दृषद्वत्योर्यौर्देव नद्योमन्तरम्।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्त्तं प्रचक्षते॥
तस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते॥"

(मनुस्मृति २-१७-१८)

१८. कालान्तर में आर्यजन पश्चिम एवं दक्षिण (राजस्थान) की ओर बढ़े। इस यात्रा में उन्हें निश्चितरूपेण प्राकृतिक बाधाओं का सामना करना पड़ा होगा। दक्षिण में तो विन्ध्य पर्वत उनके मार्ग में अवरोधक बनकर खड़ा था परन्तु शक्ति सम्पन्न उच्च संस्कृति के वाहक के रूप में ये शनैः-शनैः कुरुक्षेत्र, मत्स्य पाञ्चाल एवं शूरसेन प्रदेश की ओर प्रसरित हुए। उन्होंने इस विस्तृत प्रदेश का नाम ब्रह्मर्षिदेश' रखा—

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पाञ्चालाः शूरसेनकाः।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्त्तादनन्तरः॥

१९. आर्यजन अपनी इस सांस्कृतिक-यात्रा में आगे बढ़ते हुए सरस्वती के लुप्त होने वाले स्थान 'तीर्थपति-प्रयाग' तक जा पहुँचे। उत्तर में 'हिमालय' से लेकर दक्षिण में 'विन्ध्यपर्वत' तथा पूर्व में 'प्रयाग' तक के प्रदेश का नाम उन्होंने 'मध्यदेश' रखा:—

"हिमवद् विन्ध्ययोर्मध्ये;
यत्प्राग्विनशनादपि।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च;
मध्यदेशः प्रकीर्तितः।"

२० आर्यों का प्रसारवृत्त क्रमशः बढ़ता गया और साथ ही साथ आर्यावर्त के विस्तार-क्षेत्र सीमा भी बढ़ती गयी। मनु के अनुसार अव यह सीमा पूर्वी समुद्र से लेकर पश्चिमी-समुद्र तक एवं हिमालय तथा विन्ध्यपर्वत के मध्य स्थिर हुई :—

"आ समुद्राद् वै पूर्वादा समुद्रात्तु पश्चिमात्,
तयोरेवान्तरं गिर्योः"

२१. आर्यजनों में से कुछ लोग उत्साही थे जो और पूर्व की ओर बढ़ते गये तथा वे मगध (=आधुनिक विहार) तक जा पहुँचे । यहाँ से ये दो उपशाखाओं में विभक्त हो गये। इनमें से तो एक उपशाखा और पूर्व की ओर वढ़कर 'बंगदेश' (=आधुनिम बंगाल) में जा बसी तथा दूसरी उपशाखा दक्षिण की ओर मुड़कर 'उड़ीसा' चली गयी और पुनः उससे पश्चिम की ओर मुड़कर विन्ध्यपर्वत के दूसरे ओर के मार्ग से अरव सागर के आस-पास जा पहुँची।

२२. यहाँ यह प्रश्न सहज में पूछा जा सकता है कि हिन्दी भाषा के उद्गम तथा विकास के अध्ययन के लिये भारोपीय, भारत-इरानी तथा भारतीय आर्यों की पुरातन वैदिक भाषा इसकी परवर्ती भाषाओं (पालि, प्राकृत, अपभ्रंशादि) के अध्ययन की क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर यह है कि आवर्तन-विवर्तन के परिणामस्वरूप ही क्रमशः भारोपीय भाषा—भारतीय-इरानी, वैदिक-संस्कृत, लौकिक-संस्कृत एवं परवर्ती भाषाओं में परिवर्तित होती हुई आधुनिक आर्य-भाषाओं—हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती आदि—में परिणत हो गयी। संक्षेप में भारोपीय की अविच्छिन्न-धारा ही अपने विभिन्न-स्तरों में प्रवाहित होती हुई आधुनिक भाषाओं के रूप में प्रतिष्ठित हुई। अतएव हिन्दी भाषा के इतिहास के अध्येता के लिए आवश्यक है कि इसके उद्गम एवं विकास के अध्ययन के लिए वह इस अविछिन्न धारा के विभिन्न मोड़ों का, विश्लेषणात्मक अध्ययन करे।

२३. ऊपर यह कहा जा चुका है कि भारोपीय पुनर्निर्मित भाषा है । इसीप्रकार भारत-इरानी भाषा की रूपरेखा तैय्यार करने के लिये भी पुनर्निर्माण की सहायता ली गयी है। किन्तु ऋग्वेद की भाषा के साथ हम भाषाध्ययन के ऐतिहासिकयुग में प्रवेश करते हैं क्योंकि यहाँ से आधुनिक युग तक भाषा की अटूट शृङ्खला परिचालित रहती है।

२४. यहाँ एक वात और स्मरणीय है कि भाषा की अटूट परम्परा कथ्य भाषा के रूप में चलती रहती है और साहित्यिक रूप धारण कर लेने पर इसमें स्थिरता आ जाती है तथा इसकी सहजगति में व्यवरोध उत्पन्न हो जाता है। ऐसा होते हुए भी प्रत्येक साहित्यिक भाषा में, कथ्य भाषा का स्वाभाविक रूप

में समावेश रहता है। इसके अतिरिक्त साहित्यिक एवं कथ्य भाषा में आदान-प्रदान की क्रिया निरन्तर चलती रहती है। चूंकि क्षण-क्षण परिवर्तमान कथ्यभाषा विषयक सामाग्री का सर्वत्र अभाव है। अतः भाषाध्ययन के इतिहास को अग्रसर करने के लिए साहित्यिक भाषा में उपलब्ध सामग्री पर निर्भर होना आवश्यक एवं अनिवार्य हो जाता है। इससे भाषा वैज्ञानिक अध्ययन में न तो किसी प्रकार की त्रुटि आती है और न वह दोषपूर्ण ही होता है।

भारतीय आर्य भाषा के विभिन्न काल

२५. समस्त उत्तरापथ में आर्यों की विजय राजनीतिक विजय मात्र न थी। आर्य जन अपने साथ सुविकसित भाषा एवं यज्ञपरायण संस्कृति भी लाये थे। उनके प्रसार के साथ-साथ उनकी भाषा एवं संस्कृति भी प्रसार पाने लगी किन्तु स्थानीय आर्येतर जातियों के प्रभाव से वह मुक्त न रह सकी और उसमें परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी। यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि किसी भी भाषा के परिवर्तन के दो मुख्य कारण होते हैं। इनमें से एक है बाह्य और द्वितीय है आन्तरिक। बाह्यकारणों में धर्म, समाज (जिसमें अन्य जातियों के सम्पर्क भी सम्मिलित हैं), शिष्टवर्गों द्वारा स्थापित संस्थाओं, व्यापारिक व श्रमिक संघों तथा निकायों का प्रमुख योगदान होता है किन्तु परिवर्तन के आन्तरिक कारण किसी भाषा के बोलने वाले स्वयं होते हैं। सच बात तो यह है कि कोई भी पीढ़ी, अपनी पूर्व पीढ़ी से अनुकरण रूप भाषा को ग्रहण करती है और यह अनुकरण कभी भी पूर्ण नहीं होता है। इसके परिणामस्वरूप समय के साथ-साथ भाषा में परिवर्तन आवश्यक हो जाता है। सौभाग्य से भारतीय आर्य भाषा के परिवर्तन तथा विकास का इतिहास 'ऋग्वेद' से आज तक बहुत कुछ सुरक्षित है। अतएव इस भाषा के विकास की प्रत्येक कड़ी को प्रकाश में लाना भाषाविज्ञान के पण्डितों के लिये सरलतया संभव हो सका है।

२६. विकासक्रम के विचार से भारतीय आर्य भाषा के तीन विभाग किये जाते हैं :—

(१) प्राचीन भारतीय आर्य भाषा (वैदिक एवं लौकिक संस्कृत) (२) मध्य भारतीय-आर्य भाषा (पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश); (३) आधुनिक भारतीय-आर्य भाषा (हिन्दी, बंगला, उड़िया, गुजराती, मराठी, असमिया आदि)। नीचे इन तीनों की भाषाओं के सम्बन्ध में संक्षेप में विचार किया जायेगा।

प्राचीन भारतीयार्य भाषा

२७. ऊपर यह कहा जा चुका है कि भारत में आने वाले आर्यों के दल

अपने साथ यज्ञपरायण संस्कृति भी लाये थे। प्राचीन-इरानी-संस्कृति के अध्ययन से विदित होता है कि भारत में प्रवेश करने से पूर्व ही आर्यों में इन्द्र, वरुण, मित्र आदि देवताओं की उपासना प्रचलित थी। भारत में बस जाने पर यज्ञों के विधि-विधान में विकास होता गया। आर्य ऋषि देवों की प्रशंसा में सूक्तों की रचना करते रहे। ये सूक्त परम्परागत रूपेण ऋषि परिवारों में सुरक्षित रखे जाने लगे। बाद में विभिन्न ऋषि-परिवारों के सूक्तों का संग्रह किया गया। यही संग्रह 'ऋग्वेद संहिता' के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

२८. ऋग्वैदिक मन्त्रों को सुरक्षित रखने के लिये प्राचीन ऋषियों ने यथेष्ट उपाय किया और यह उपाय इतना जागरूक है कि इतने दीर्घकाल के अनन्तर भी वेद का एक अक्षर भी स्खलित तथा च्युत नहीं हुआ, जबकि बाद में रचित महाकाव्यों, नाटकों आदि में पर्याप्त पाठभेद उपलब्ध होते हैं। आज भी वैदिक विद्वान् वेदपाठियों के मुख से वैदिक मन्त्रों का सस्वर उच्चारण उसी रूप में सुना जा सकता है जैसा कि प्राचीन युग में उच्चारण किया जाता था।

२९. महर्षियों ने मन्त्रों के पाठ की परम्परा को सुरक्षित रखने के लिये आठ विकृतियों की व्यवस्था की है जिनकी सहायता से वैदिक मन्त्रों का उच्चारण आज तक अविकल रूपेण सुरक्षित है। इन विकृतियों के नाम हैं :—

(१) जटा, (२) माला, (३) शिखा, (४) रेखा, (५) ध्वज, (६) दण्ड, (७) रथ तथा (८) घन।

उस अविज्ञात अत्यन्त प्राचीनकाल से वेदाध्ययन परायण मनीषियों ने श्रुति-परम्परा से 'ऋक्-संहिता' को अविकल रूप में सुरक्षित रखकर भारोपीय-परिवार के प्राचीनतम साहित्य को हम तक पहुँचाया है।

३०. यज्ञों के विकास के साथ-साथ वैदिक वाङ्मय में विशेष वृद्धि होती गयी। वैदिक साहित्य के अन्तर्गत निम्नलिखित विभाग हैं :—

(१) संहिता।
(२) ब्राह्मण।
(३) आरण्यक।
(४) उपनिषद्।

३०. (i) संहिता भाग में ऋक्-संहिता के अतिरिक्त 'यजुः-संहिता', 'साम-संहिता', एवं 'अथर्व-संहिता' हैं। 'यजुः-संहिता' में यज्ञों के कर्मकाण्ड में प्रयुक्त मन्त्र-संकलित हैं। इसके मन्त्र, यज्ञों में प्रयोग के क्रम से रखे गये हैं और पद्य के साथ-साथ गद्य में भी अनेक मन्त्र उपलब्ध होते हैं। 'यजुः-संहिता' कृष्ण एवं शुक्ल—इन दो रूपों में सुरक्षित हैं। कृष्ण-यजुर्वेद में मन्त्र भाग एवं गद्यमय व्याख्यात्मक भाग साथ-साथ संकलित किये गये हैं परन्तु शुक्ल यजुर्वेद-संहिता में मात्र मन्त्र भाग ही

संकलित किये गये हैं। 'सामवेद संहिता' में सोमयागों में गाये जाने वाले सूक्तों को गेय पदों के रूप में सजाया गया है। इसके अधिकांश सूक्त 'ऋग्वेद-संहिता' से गृहीत हैं। अथर्ववेद-संहिता में जनसाधारण में प्रचलित मन्त्र-तन्त्र, टोने-टोटकों का संकलन है। इसकी सामग्री 'ऋग्वेद-संहिता' के कम प्राचीन नहीं है परन्तु चिरकाल तक वेद के रूप में मान्यता प्राप्त न होने के कारण इसकी भाषा का प्राचीनरूप सुरक्षित न रह पाया।

३०. (ii) ब्राह्मण भाग में कर्मकाण्ड की व्याख्या की गयी है और इसी प्रसङ्ग में अनेक उपाख्यान दिये गये हैं। प्रत्येक वेद के अपने-अपने ब्राह्मण-ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों की रचना गद्य में हुई है। 'ऋग्वेद' का प्रधान ब्राह्मण ग्रन्थ 'ऐतरेय ब्राह्मण' है। ब्राह्मण ग्रन्थों में यह सबसे प्राचीन है जिसका रचना-काल—अनुमानतः १००० ई० पू० है। सामवेद के ब्राह्मण-ग्रन्थों में 'ताण्ड्य' अथवा 'पञ्चविंश' ब्राह्मण विशेषतः उल्लेखनीय हैं। 'शतपथ-ब्राह्मण' 'शुक्ल-यजुर्वेद' का ब्राह्मण भाग है। 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' आदि 'कृष्ण-यजुर्वेद' के ब्राह्मण-ग्रन्थ हैं। 'अथर्ववेद' के वेद के रूप में, स्वीकार कर लेने पर इसके साथ भी ब्राह्मण-ग्रन्थ जोड़े गये हैं।

३०. (iii) 'उपनिषद्' ब्राह्मण-ग्रंथों के परिशिष्ट भाग हैं जिनमें वैदिक मनीषियों के आध्यात्मिक एवं पारमार्थिक चिन्तन के दर्शन होते हैं। इनमें आर्यों के ज्ञानकाण्ड का उदय एवं विकास हुआ है। इनकी सरल, प्रवाहमयी भाषा एवं हृदय-ग्राहिणी शैली अत्यन्त प्रभावकारिणी हैं।

३१. भारत में प्रवेश करने वाले आर्यों के विभिन्न दलों की भाषा में कुछ-कुछ भिन्नता अवश्य थी परन्तु उनमें साहित्यिक भाषा का एक सर्वमान्यरूप विकसित होता गया था। इसी साहित्यिक भाषा में 'ऋक्-संहिता' के सूक्तों की रचना हुई। दीर्घकाल तक ये सूक्त श्रुतिपरम्परा से ऋषिपरिवारों में सुरक्षित रखे जाते रहे परन्तु जैसे-जैसे बोलचाल की भाषा से सूक्तों की भाषा की भिन्नता बढ़ती गयी और वह दुर्बोध होने लगी; वैसे-वैसे इसके प्राचीनरूप को सुरक्षित रखने के लिये संहिता के प्रत्येक पद को संधिहीन अवस्था में अलग-अलग कर 'पदपाठ' बनाया गया तथा 'पदपाठ' से संहिता पाठ बनाने के नियम निर्धारित किये गये एवं प्रत्येक वेद की विभिन्न शाखाओं के प्रातिशाख्यों की रचना की गई। प्रातिशाख्यों में अपनी-अपनी शाखा के अनुरूप वर्णविचार, उच्चारणविधि, पदपाठ से संहिता-पाठ एवं संहिता-पाठ से पदपाठ बनाने की विधि आदि विषयों पर, पूर्णतया विचार किया गया। 'पदपाठों' एवं 'प्रातिशाख्यग्रन्थों' से यह स्पष्टतः विदित होता है कि इनकी रचना के समय 'संहिता' का जो रूप था, वही अविकलरूपेण आज हमें उपलब्ध हुआ है।

३२. वस्तुतः वेद भारतीय आर्यों के सर्वप्राचीन रिक्थ हैं जिन्हें श्रुतिपरम्परा से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक प्रेषित किया जाता रहा है। इनमें मन्त्रों को इतनी

सावधानी से स्मरण करना पड़ता रहा है कि मूल में कहीं भी व्यत्यय न होने पावे। ये मन्त्र सर्वथा अपौरुषेय माने जाते हैं जो ऋषियों द्वारा साक्षात्कृत हुए हैं। धार्मिक दृष्टि से इन्हें सर्वोच्च एवं पवित्रतम स्थान प्राप्त रहा है। इन वैदिक मन्त्रों का प्रयोग प्रायशः यज्ञों एवं कर्मकाण्डों में होता रहा है जिनमें एक-एक अक्षर की शुद्धि पर विशेष ध्यान दिया जाता रहा है क्योंकि एक भी अक्षर को अशुद्ध रूप में उच्चरित करना वज्रवद् अनिष्ट का कारण बन जाता रहा है :—

"दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतोवा;
मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति;
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥"

अतएव वैदिक-ऋषि मन्त्रों के उच्चारण में शुद्धता का विशेषरूप से ध्यान रखते थे।

३३. शुद्धता की दृष्टि से ही संहिता-पाठ को पदपाठ में परिवर्तित किया गया जिसमें सन्धि, समास एवं अन्यान्य व्याकरणिक कोटियों को पृथक्-पृथक् रखा गया। इस प्रक्रिया में उच्चारण तथा ध्वनिगुच्छों का पूर्णतः ध्यान रखा जाता था। इन वेदपाठों के कर्त्ता यद्यपि कर्मकाण्डी ऋषि थे परन्तु वे 'शिक्षा' (ध्वनिशास्त्र) एवं 'व्याकरण' में पारङ्गत थे। 'ऐतरेयब्राह्मण' के अनुसार महर्षि शाकल्य ने ही सर्वप्रथम ऋग्वैदिक मन्त्रों का पदपाठ प्रस्तुत किया था। इसप्रकार वैदिक मन्त्रों के पदपाठ रूप नाट्य के, प्रथम सूत्रधार महर्षि शाकल्य ही सिद्ध होते हैं।

३४. उच्चारण में दक्षता एवं विशिष्टता लाने के प्रयास में ही वैदिक महर्षियों ने प्रातिशाख्यों की भी रचना की और इनका पूर्ण साहाय्य ग्रहण किया। यहाँ 'प्रातिशाख्यों' एवं 'शिक्षाग्रन्थों' के सम्बन्ध में पर्याप्त विवाद एवं मतभेद हैं। कतिपय 'शिक्षाग्रन्थों' की प्राचीनता उतनी ही सिद्ध होती है जितनी कि कल्पसूत्रों की। ये कल्पसूत्र भी ब्राह्मण-ग्रन्थों के ही पूरक हैं। वास्तव में ब्राह्मण-ग्रन्थों का सम्बन्ध कर्मकाण्डों से था परन्तु कतिपय शिक्षा-ग्रन्थ तो पन्द्रहवीं शती में भी रचे गये हैं; उदाहरणार्थ 'सिद्धान्त-शिक्षा'। 'प्रातिशाख्यों' का रचना-काल अपेक्षाकृत कम विवादास्पद है। इनका रचना-काल प्रायः ५०० ई० पू० से १५० ई० पूर्व है क्योंकि इनमें सबसे प्राचीन 'ऋक्-प्रातिशाख्य' में महर्षि निरुक्तकार 'यास्क' (५०० ई० पू०) का नाम उल्लिखित है तथा दूसरी ओर महाभाष्यकार पतञ्जलि ने 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' का सादर उल्लेख किया है और पतञ्जलि का समय प्रायः ई० पू० द्वितीय शताब्दी (१५० ई० पू०) सर्वस्वीकृत ही है।

३५. वस्तुतः 'शिक्षा' का वास्तविक अर्थ या व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ तो 'शिक्षण' ही होता है परन्तु इसके पश्चात् इसका अर्थ 'मन्त्रों के उच्चारण की शिक्षा' हो गया-

और पुनः परवर्ती काल में 'संहिता के शुद्ध एवं सस्वर उच्चारण' का बोधक बन गया। षडङ्गों में 'शिक्षा' की भी गणना करके वैदिक ऋषियों में इसकी महत्ता को भी प्रकाशित करने का एक सफल प्रयास किया है। 'प्रातिशाख्यों' से तात्पर्य उन ग्रन्थों से है जो अपने-अपने वेद की शाखाओं से सम्बन्धित हैं। 'प्रातिशाख्यों' का अपर नाम 'पार्षदसूत्र' भी है क्योंकि ये मूलतः परिषदों द्वारा अनुमोदित हुआ करते थे। यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि पहले ऐसी परिषदें होती थीं जिनमें उच्चारणादि के नियम निर्धारित किये जाते थे और तदनुसार लोगों को प्रशिक्षित किया जाता था। इस प्रकार 'प्रातिशाख्य' ऐसे ग्रन्थ हैं जिनका सम्बन्ध वैदिक मन्त्रों के उच्चारणादि से है।

३६. वस्तुतः यहाँ 'शिक्षा' तथा 'प्रातिशाख्यों' के अन्तर को स्पष्टतः हृदयङ्गम करने की आवश्यकता है। 'शिक्षा' का सम्बन्ध साधारणतया ध्वनिगत उच्चारण से है किन्तु 'प्रातिशाख्यों' का सम्बन्ध 'वेदों के कर्मकाण्ड के समकालिक उच्चारण' से है।

३७. यद्यपि वैदिक ऋषियों ने मूलवेद मन्त्रों की शुद्धता की सुरक्षा हेतु 'प्रातिशाख्य-ग्रन्थों' एवं 'शिक्षा-ग्रन्थों' का प्रणयन किया किन्तु वे इन वैदिक मन्त्रों की भाषा को कोई नाम न दे सके। अब इस सम्बन्ध में जो व्याकरणिक तथ्य उपलब्ध है, विशेषतः मध्य-भारतीय-आर्यभाषाओं के युग में, उनसे यह ज्ञात होता है कि इन मन्त्रों की भाषा साहित्यिक रही है किन्तु यह बोल-चाल की भाषा से प्रायः विशेष भिन्न न थी। वेदों में सर्वप्राचीन तो 'ऋग्वेद' ही है जिसके मन्त्रों के अध्ययन से तत्कालीन भाषा का अनुमान होने लगता है। 'ऋग्वेद' के दशम मण्डल में मूल 'र' ध्वनि के स्थान पर 'ल्' ध्वनि भी पर्याप्त मात्रा में मिलती है। जैसे—रभ्, लभ्, रोमः, लोमः आदि। 'अथर्ववेद' में 'ल्' ध्वनि वाले अनेक पद प्राप्त होते हैं। जैसे—ऋग्वेद में 'रप्' अथर्ववेद में 'लप्', ऋ० में अश्रीर, अथर्ववेद में—'अश्लील'। यह संख्या (र्>ल्) आगे की संहिताओं में क्रमशः बढ़ती ही गयी है। जैसे—ऋ० में 'पमसुरे', साम० में 'पमसुले'; वाजसनेयी-संहिता में लिख्, कुलाल्, वाल् आदि। भारत-इरानी एवं ऋग्वैदिक प्राचीन मन्त्रों में—'ल्' ध्वनि का प्रायः अभाव-सा है। क्रमशः 'ल्' ध्वनि का आधिक्य तो बोलचाल की भाषा के कारण हुआ होगा।

३८. (i) कतिपय 'शिक्षाग्रन्थों' तथा 'प्रातिशाख्य-ग्रन्थों' में इन विशिष्ट उच्चारणों का वर्णन उपलब्ध होता है। डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा के अनुसार "इन शिक्षा' तथा 'प्रातिशाख्य' ग्रन्थों का सम्बन्ध विभिन्न स्थानों से होगा, जहाँ कि उच्चारण की भिन्नता विद्यमान होगी।"

नीचे डॉ० वर्मा के ग्रन्थ के दो उद्धरण दिये जा रहे हैं :—

३८. (ii) १—"प्रातिशाख्यों में 'र्' और 'ल्' को दन्त्य कहा गया है

किन्तु 'पाणिनीय' तथा 'आपिशल' शिक्षा में इन्हें मूर्धन्य कहा गया है। इनमें प्रथम का सम्बन्ध पश्चिम तथा द्वितीय का सम्बन्ध पूरब की बोलियों से है।"

३८. (iii) २—"तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य के अनुसार 'यम' पद में बाद के अक्षर में स्वराघात आता है किन्तु 'वाजसनेयी प्रातिशाख्य' के अनुसार प्रथम अक्षर में। इससे ज्ञात होता है कि प्रथम का सम्बन्ध अर्धमागधी बोलनेवालों से तथा द्वितीय का सम्बन्ध अन्य बोलियों के बोलने वालों से रहा है।"

३९. उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि परवर्ती वैदिक-मन्त्र, क्षेत्रीय बोलियों से अत्यधिक प्रभावित रहे। इन बोलीगत तथ्यों का अध्ययन नितरां आवश्यक है क्योंकि संभवतः बोलियों के प्रभाव से ही वैदिक मंत्रों में विशेषताएँ प्रादुर्भूत हुई हैं।

४०. उस युग में उत्तर भारत में भाषिक तथ्यों का उदाहरण ब्राह्मण-ग्रन्थों में उपलब्ध होता है (१००० ई० पू० से ६०० ई० पू०)। 'कौषीतकी ब्राह्मण' में उत्तर पश्चिम के उदीच्याञ्चल की भाषा को 'मानक' बतलाया गया है तथा इस तथ्य का स्पष्टतः अभिधान हुआ है कि 'यही भाषा ग्राह्य है।'

इस अञ्चल की भाषा की शुद्धता के सम्बन्ध में 'शतपथब्राह्मण' में भी उल्लेख प्राप्त होता है जहाँ 'कुरु' तथा 'पाञ्चाल' लोगों को उत्कृष्ट संस्कृतभाषी कहा गया है। 'ताण्ड्यब्राह्मण' अथवा 'पञ्चविंशब्राह्मण' में व्रात्यों के उच्चारण के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है कि ये व्रात्य लोग आर्यक्षेत्र के पूर्व के निवासी थे। इन व्रात्यों के न तो ब्राह्मण आचार्य्य थे और न ही ये वैदिक अग्नि-पूजा के अनुयायी। ब्राह्मण भी इनके प्रति सहिष्णु न थे। इस सम्बन्ध में 'पञ्चविंश ब्राह्मण' का निम्न उद्धरण दृष्टव्य है :—

"ये व्रात्य लोग सरल वाक्यों को भी कठिन बताते हैं और वैदिक धर्म में दीक्षित न होने पर भी वैदिक धर्मावलम्बियों के अनुकर्त्ता हैं।"

ऊपर के उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्रात्य लोग उदीच्य भाषा से भिन्न भाषा बोलते थे। वास्तव में उदीच्य ही अग्निपूजक आर्यों का विशिष्ट स्थान रहा है। यहाँ यह तथ्य उल्लेख्य है कि पूर्व के व्रात्य वैदिक भाषा के कठिन ध्वनिगुच्छों को सरल से सरलतर बनाकर उच्चरित करते थे। फलतः इनकी भाषा उदीच्य से शनैः-शनैः भिन्न होती जा रही थी।

४१. 'शतपथब्राह्मण' में एक उल्लेख प्राप्त होता है जिसमें 'म्लेच्छ भाषा' तथा 'वाक्' (शुद्ध भाषा) की तुलना की गयी है। इस उद्धरण के अनुसार असुरों (व्रात्यों या एक जाति के लोग जो पूर्व में निवास करती थी) को इस कारण पराभूत होना पड़ा क्योंकि वे अशुद्ध भाषा का प्रयोग करते थे, "तेऽसुरा हेलयो हेलयोकुर्वन्तः परावभूव।" 'काण्वशाखा' में इसका पाठ 'हेलवो' प्राप्त होता है जो 'हे अरयः' का

बोलीगतरूप है। यह कथा महाभाष्यकार—पतञ्जलि ने भी उद्धृत किया है। 'अय' का 'ए' में तो मध्यकालीन आर्यभाषा के ध्वनि-परिवर्तन का लक्षण है।

४२. (i) ऊपर जो ब्राह्मण ग्रंथ का उद्धरण आया है, उससे यह सुस्पष्ट हो जाता है कि उस युग में आर्यभाषा के निम्नांकित तीन रूप वर्तमान थे :—(१) उदीच्य बोली या बोली समूह, (२) मध्यदेशीय बोली या बोली समूह तथा (३) प्राच्य या पूर्वी बोली समूह।

४२. (ii) 'उदीच्य-बोली उस युग की 'मानकभाषा' थी जिसका क्षेत्र, आधुनिक भौगोलिक स्थिति के अनुसार उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश (जो अब पाकिस्तान में है) तथा आधुनिक पंजाब का उत्तरी भाग था। इस बोली में प्रायः 'र्' का ही अधिक प्रयोग होता था।

४२. (iii) मध्यदेशीय बोली आज के पूर्वी पंजाब तथा पश्चिमी उत्तर-प्रदेश में प्रचलित थी। यही पुराणों में 'अन्तर्वेद' या 'ब्रह्मर्षिदेश' के नाम से प्रख्यात रहा है। इसमें 'र्' एवं 'ल्' दोनों ध्वनियों का प्रयोग विहित था।

४२. (iv) प्राच्य या पूर्वी बोली समूह आज के पूर्वी उत्तर-प्रदेश, बिहार तथा बंगाल के एक भाग में प्रचलित थी। यह अपभ्रष्ट भाषा थी जिसमें 'ल्' ध्वनि ही प्रयुक्त होती थी।

४३. यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि मध्यदेशीय भाषा के सम्बन्ध में कोई तथ्यपरक बात स्पष्टतः नहीं मिलती किन्तु बाद में जो भाषिक-तथ्य उपलब्ध होते हैं; उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मध्यदेशीयभाषा उदीच्य की श्रेष्ठ भाषा एवं प्राच्य की अपभ्रष्ट भाषा के मध्य की थी।

४४, वैदिक तथा अवैदिक (बोलचाल—) भाषा का अन्तर ब्राह्मण युग के अन्त में सुस्पष्ट हो जाता है। निरुक्तकार यास्क ने (ई० पू० ५००) एकाधिक स्थानों पर इस अन्तर का उल्लेख किया है। महर्षि यास्क प्रणीत 'निरुक्त', जिसमें वैदिक शब्दों का विस्तृत निर्वचन प्रस्तुत किया गया है, की गणना वेदाङ्गों में की गई है। वस्तुतः 'निरुक्त' का मूल अर्थ है—'वेदादि में विभिन्न देवताओं से सम्बद्ध मन्त्रों के प्रतिपद का स्पष्ट व्याख्यान'। किन्तु ब्राह्मणों में इसका प्रयोग विशेषण के रूप में हुआ हैं; यथा—निरुक्तमन्त्र एवं अनिरुक्त मन्त्र। आगे चलकर इसमें अर्थ परिवर्तन हुआ और यह विशेषण से संज्ञा बन गया। जिसका अर्थ हुआ 'निर्वचन'। 'निरुक्त' शब्दों की 'ध्वनि' की अपेक्षा 'अर्थ' पर ही विशेष बल दिया गया है। यास्क ने 'वैदिक भाषा' को 'छन्दस्' तथा 'अवैदिक भाषा' को 'भाषा' के नाम से अभिहित किया है। इन्होंने यह भी लिखा है कि कतिपय अव्यय वैदिकभाषा में द्व्यर्थक हैं किन्तु भाषा में इनका एक ही अर्थ है। उदाहरणार्थ वेद में 'न' अव्यय 'उपमार्थक' एवं 'नकारार्थक' दोनों है किन्तु भाषा में यह मात्र 'नकारार्थक' ही है। इसीप्रकार 'नु' अव्यय वैदिक

में 'निश्चयार्थक' एवं 'पादपूरणार्थक' दोनों है किन्तु भाषा में मात्र 'निश्चयार्थक' ही है। भाषा में भी कतिपय शब्दों के आञ्चलिक प्रयोग का यास्क ने उल्लेख किया है। ऐसे शब्दों के अर्थ एक क्षेत्र में कुछ और होता है तथा दूसरे क्षेत्र में कुछ और ही हो जाता है। उदाहरणार्थ कम्बोज देश में 'शव' का अर्थ 'गति' है किन्तु प्राच्य में इसका प्रयोग 'मृतक' के लिए हुआ है। पुनः उदीच्य में 'दात्र' का प्रयोग 'हँसिया' के लिए हुआ है। किन्तु प्राच्य में यह 'दातिः' के रूप में अभीष्ट है। 'दातिः' संभवतः दो प्रकार की बोलचाल की भाषाओं से निर्मित है। यास्क की धारणा में उनके युग में तीन प्रकार की बोलियों का प्रयोग ब्राह्मणों में—प्राप्त हुआ है। वैदिक शब्दों के निर्वचन में यास्क ने स्थानीय बोलियों का प्रयोग श्रेयस्कर माना है। यदि हम उनके निर्वचन को पृथक् कर दें तो वैदिक मन्त्रों में अपने युग की प्रामाणिक भाषा का यास्क ने प्रयोग किया हैं, यह स्पष्ट हो जाता है। धार्मिक कृत्यों में ब्राह्मणों के अधिनायकत्व का सर्वप्रथम विरोध व्रात्यों ने ही किया परन्तु ब्राह्मण युग के अन्त में प्राच्यांचल में बुद्धिजीवियों ने भी धार्मिकक्रान्ति के रूप में इसका विरोध किया है। जिसके फलस्वरूप दो सम्प्रदाय अस्तित्व में आये। इनमें एक जैनधर्म और दूसरा बौद्धधर्म था। इन दोनों धर्मों के प्रवर्तक दो क्षत्रिय राजकुमार—महावीर (वर्धमान) एवं बुद्ध (सिद्धार्थ)—थे। ब्राह्मणों के अधिनायकत्व एवं उनके कट्टर धर्मपथ का ही इन्होंने विरोध ही नहीं किया अपितु वैदिक भाषा का भी विरोध किया। इन्होंने तद्युगीन प्रचलित दो भाषाओं को ही प्रश्रय दिया। इन्हीं दो भाषाओं के साहित्यिक रूप हमें 'अर्धमागधी' एवं 'पालि' में प्राप्त हैं। इन दोनों धर्मों के ग्रन्थ इन्ही दो साहित्यों में उपलब्ध हैं।

४५. ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि 'अपभ्रंश भाषा' का प्रयोग छठीं एवं पाँचवीं शती ई० पू० में ही प्रारम्भ हो गया था। गौतम बुद्ध ने बोलचाल की भाषा के प्रयोग पर विशेष बल दिया। जब उनके दो शिष्यों ने बुद्धवचन को 'अपभ्रंश' से 'छन्दस् की भाषा' में अनुवाद करने का प्रस्ताव किया तो उन्होंने इसे अस्वीकार कर दिया और कहा कि "अनुजानामिभिक्खवे सकाय निरुत्तिया बुद्धवचनं परियापुणीतुं"। इससे यह सुस्पष्ट हो जाता है कि बुद्ध ने तद्युगीन भाषा को ही वरीयता प्रदान किया। इसका परिणाम यह हुआ है कि क्षेत्रीय भाषाओं में साहित्य का विकास हुआ। फलतः स्थानीय बोलियाँ भी विकसित होकर साहित्यिक बन गयीं और जनसामान्य से इनका सम्पर्क टूटता गया।

४६. यहाँ यह तथ्य उल्लेख्य है कि जहाँ एक ओर बोल-चाल की भाषा विकसित हो रही थी, वहीं ब्राह्मण भी निष्क्रिय होकर नहीं बैठे थे। वे वैदिकभाषा से भिन्न शिष्टजनों की भाषा के आधार पर मध्यदेश में एक भाषा को विकसित कर रहे थे। यह काल ५०० ई० पू० का था। इसी समय इस शिष्टभाषा के आधार पर ही महावैयाकरण पाणिनि ने अपनी अपूर्व एवं अप्रतिम व्याकरणकृति 'अष्टाध्यायी'

की रचना कर भारतीयमनीषा की विश्वविजयिनी ध्वजा फहराई। 'अष्टाध्यायी' में कुल आठ अध्याय हैं जिनमें महामनीषी पाणिनि ने अपने सूत्रों द्वारा 'संस्कृत' को 'मानक-रूप' प्रदान किया है। यह पाणिनीयकृति आज भी उसीप्रकार समादृत एवं सर्वमान्य है जैसे उसयुग में रही है।

४७. यद्यपि पाणिनि के पूर्ववर्ती वैयाकरणों एवं आचार्यों ने भी इस 'शिष्ट भाषा' का विश्लेषण अपनी कृतियों में किया था किन्तु पाणिनि ने इसे अत्यन्त सावधानी से वैदिक भाषा की विभिन्न शैलियों का अध्ययन किया और इनका छन्दस्, मन्त्रः, यजुस् एवं ब्राह्मण के अन्तर्गत व्याख्यान प्रस्तुत किया। 'ऋग्वेद' में जो विशिष्ट भाषिक तत्त्व उपलब्ध हुए, उसे पाणिनि ने 'मन्त्र' के अन्तर्गत तथा इसमें प्रयुक्त छन्दस् को 'यजुस्' के अन्तर्गत व्याख्यायित किया है। पाणिनि ने 'वैदिकभाषा' को लोक में व्यवहृत भाषा को पृथक् करने के लिए एतदर्थ 'अमन्त्र' शब्द का प्रयोग किया है; यथा 'अमन्त्रेलिट्' (अष्टा०)। कर्मकाण्ड की भाषा को पाणिनि ने 'यजुस्' के नाम से तथा वैदिकगद्य को 'ब्राह्मण' के नाम से अभिहित किया है। 'ब्राह्मण' एवं 'संहिता' इन दोनों की भाषाओं को उन्होंने 'छन्दस्' कहा है। वैदिक से भिन्न भाषा के लिए पाणिनि ने 'अनार्ष' शब्द भी का प्रयोग किया है (अष्टा० १।१।६६)।

४८. यद्यपि पाणिनि ने भाषा के अन्तर्गत अनेक सूत्रों को स्थान दिया है किन्तु इससे उनका भाषाविषयक मत सुस्पष्ट नहीं है। कुछ विद्वानों की धारणा है कि "पाणिनि की भाषा 'छन्दस्' तथा 'बोलचाल' के बीच की भाषा थी।" कुछ अन्य आलोचकों की धारणा है कि "पाणिनि की भाषा तद्युगीन प्रचलित बोलचाल की भाषा थी और पाणिनि के भाषा-सूत्र इस तथ्य का स्पष्टतः संकेत करते हैं कि 'छन्दस्' तथा उस युग की बोलचाल की भाषा में क्या अन्तर था ?"

४९. परन्तु, वास्तविकता तो यह है कि 'भाषा' शब्द, जिसका सम्बन्ध 'भाष्' धातु से है, ऋग्वेद में कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुआ है। ऋग्वेद में 'भा' धातु का का प्रयोग मिलता है जिसका अर्थ है प्रकाशित होना'। इसका ग्रीक रूप 'Phemi' है। ऋग्वेद में 'भण्' धातु का प्रयोग अवश्य मिलता है जिसका अर्थ 'बोलना' है। पाणिनि ने अनेक सूत्रों में 'विभाषा' शब्द का प्रयोग किया है जो प्रायः 'विकल्प' अथवा 'निष्ठा' के अर्थ में ही है। किन्तु 'निष्ठा' इसका भूतकालिक कृदन्त रूप है। इसका कृदन्तरूप का सातवें एवं आठवें अध्याय में 'विभाषितम्' के रूप में भाषा के अर्थ में भी हुआ है (७।३।२५, ८।१।५३, ८।१।७४ अष्टा०)। इसके अतिरिक्त 'विभाषित' एवं 'भाषित' का प्रयोग भी क्रमशः सातवें अध्याय में (७।३।४८, ७।३।४७) हुआ है।

५०. इस प्रकार 'भाष्' धातु के विभिन्नरूपों का विश्लेषण पाणिनि के 'भाषा' शब्द को समझने में सहायक होगा। वस्तुतः 'भाषित' का अर्थ 'अभिहित

या कथित' है; 'विभाषित' का अर्थ 'अन्यथा कथित' है और 'विभाषा' का अर्थ है 'विकल्प'। इसी के साथ 'भाष्य' शब्द को भी रखा जा सकता है; जैसे कि 'महाभाष्य' में। वहाँ इसका अर्थ है 'विशेषरूपेण विश्लेषण करना'। इसीरूप में एक 'भष्' धातु भी मिलती है जिसका अर्थ है 'अनवरत भूँकना'। यदि इन सब शब्दों को ध्यान में रखते हुए, हम पाणिनि की भाषा की व्याख्या करें तो 'भाषा' के वास्तविक अर्थ तक पहुँच सकते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि पाणिनि की धारणा में काव्य एवं सूत्रों की भाषा के अतिरिक्त जिसके द्वारा इनकी व्याख्या की जाय उसे 'भाषा' कहेंगे। इसप्रकार परवर्ती उपनिषदों, सूत्रों तथा अन्यान्य धार्मिक-ग्रन्थों की भाषा को 'भाषा' के अन्तर्गत परिगणित किया जा सकता है।

५१. अष्टाध्यायी के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि यद्यपि पाणिनि ने जन-सामान्य की भाषा के लिए कहीं नामकरण नहीं किया है किन्तु यह उल्लेख्य है कि वे क्षेत्रीय भाषाओं की विशेषता से अपरिचित न थे क्योंकि मानक संस्कृत से भिन्न भाषाओं के लिए उन्होंने क्षेत्रीयनामों का स्पष्ट प्रयोग किया है। जैसे—प्राच्यों की भाषा के लिए 'प्राच्या' का प्रयोग (३।४।१८, ४।२।१३९, ७।३।१४, ३।४।१९, ४।१।३० अष्टा०)। इसके अतिरिक्त 'प्राच्य भरतस्' (४।२।११३, २।४।६६, ८।३।७५, ४।२।१०२, ४।२।१३१, ४।६।१६९), कम्बोज (४।१।१७५), वाह्लीक (४।२।११७), सुवास्तुस् (४।२।१७७), काशी (४।२।११६), कच्छ (४।२।१३३), सिन्धतक्षशिला (४।३।९३) आदि प्रयोग भी द्रष्टव्य हैं।

५२. व्यास नदी की उत्तरी तटवर्ती भाषा के लिए 'विपाशः' (४।२।७४), का प्रयोग किया है। इसीप्रकार जातिगत शब्दों के लिए 'प्रत्यभिवादे' (८।२।८३) सूत्र का उल्लेख किया जा सकता है। पुनः 'स्त्रियों की भाषा' के लिए भी एक सूत्र में उल्लेख प्राप्त होता है (४।२।७६)।

५३. इसीप्रकार पाणिनि ने मध्यकालीन आर्यभाषा के पूर्व रूपों का भी अत्यन्त सावधानी से संग्रह-सा किया है; जैसे—निकट ('निकटे वसति' ४।४।७३), मातुल (४।२।३६), लिपि (३।२।२१), 'स्फुरति' के अतिरिक्त 'स्फुलति' (६।१।४७)। इन सबसे पाणिनि की भाषाविषयक धारणा का परिचय स्पष्टतः प्राप्त किया जा सकता है।

५४. सम्प्रति यहाँ 'संस्कृत' के सम्बन्ध में विचारों का—प्रस्तुतीकरण किया जा रहा है। वस्तुतः व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'संस्कृत' शब्द, पाणिनीय व्याकरण के अनुसार, 'सम्' उपसर्ग एवं 'सुट्' आगम पूर्वक 'कृ' धातु से भूतकालिक 'क्त' (त) प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है—संस्कारित, परिष्कृत, व्याकरणसम्बन्धिसर्व-दोषों से रहित। इसप्रकार यहाँ 'संस्कृत' शब्द अपने मूलरूप में केवल विशेषण है;

विशेष्य नहीं। यह तथ्य वैयाकरणों ने स्थान-स्थान पर दर्शाया है; जैसे 'महाभाष्यकार पतञ्जलि' ने ही लिखा है कि "उपनीतः संस्कृतो भवति" अर्थात् "यज्ञोपवीतधारी वटु संस्कृत—शिष्ट होता है।"

५५. परन्तु, भाषा की दृष्टि से इसका (संस्कृत) प्रयोग पौरस्त्य एवं पाश्चात्य दोनों कोटियों के विद्वानों ने 'प्रचीन भारतीयार्य भाषा' के लिए किया है जिसके अन्तर्गत 'वैदिक संस्कृत' (दैवीवाणी या छान्दस् भाषा) एवं लौकिकसंस्कृत (मानुषी वाणी या छान्दस् भाषा से भिन्न संस्कृतों-शिष्टों की संस्कारित भाषा) आती हैं।

दैवीवाणी या छान्दस् भाषा का विशेषण 'संस्कृत' शब्द कैसे बना, इस सम्बन्ध में ऐतिहासिक दृष्टि से यह तथ्य उद्‌घाट्य है कि 'तैत्तिरीय संहिता' के अनुसार—"वाणी पुराकाल में अव्याकृतरूप (प्रकृति-प्रत्ययहीन रूप) में बोली जाती थी और इसका उपदेश प्रतिपद पाठ द्वारा किया जाता। फलतः इसके ज्ञान में अधिक परिश्रम और अत्यधिक समय व्यय करना पड़ता था। अतएव देवों ने अपने राजा इन्द्र से कहा कि 'इस वाणी को व्याकृत करें'......इन्द्र ने उस वाणी को मध्य से तोड़कर व्याकृत अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय आदि संस्कारों से युक्त कर दिया।"

"वाग्वै पुराच्यव्याकृतावदत।
तेदेवा इन्द्रमब्रुवन्, इमां नो वाचं व्याकुर्विति।.........
तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्।"

—तै० सं० ६।४।७

५६. इस प्रकार देवों में प्रकृति प्रत्यय-विभाग द्वारा शब्दोपदेश की प्रक्रिया आरम्भ हो गयी। संभवतः इसी प्रकृति-प्रत्यय-विभाग आदि द्वारा संस्कारित होने के कारण ही 'देववाणी' के लिए 'संस्कृत' विशेषण का प्रयोग हुआ होगा और जैसा कि काव्यादर्शकार दण्डी ने संकेत भी किया है; कालान्तर में 'विशेष्य' का स्थान लेकर 'देववाणी' का पर्याय बन गया होगा।

"संस्कृतं नामदैवीवाक्
अन्वाख्याता महर्षिभिः।"

—काव्यादर्श १।३।३

अर्थात् "महर्षियों द्वारा व्याख्यायित देववाणी का नाम 'संस्कृत' पड़ा।"

५७. आचार्य युधिष्ठिर मीमांसक ने भी अपने 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र के इतिहास' नामक ग्रन्थ में, इसी तथ्य की ओर स्पष्टतः संकेत किया है :—

"प्राचीनकाल में देववाणी अव्याकृत-प्रकृति-प्रत्यय-विभाग आदि से रहित थी। इसका उपदेश प्रतिपद पाठ द्वारा किया जाता था। इसप्रकार उसके ज्ञान में अत्यन्त परिश्रम और अत्यधिक काल-क्षय होता था। अतः देवों ने उस समय के महान् शाब्दिक

आचार्य इन्द्र से प्रार्थना की—आप शब्दोपदेश की कोई ऐसी सरलतम प्रक्रिया बतायें जिससे अल्पपरिश्रम और अल्पकाल में ही शब्दबोध हो जावे। देवों की प्रार्थना पर इन्द्र ने देवभाषा के प्रत्येक शब्द को मध्य से विभक्त कर प्रकृति-प्रत्यय-विभाग द्वारा शब्दोपदेश की प्रक्रिया आरम्भ की। इसी प्रकृति-प्रत्यय-विभाग रूपी संस्कार से संस्कृत होने के कारण देववाणी का दूसरा नाम 'संस्कृत' हुआ।"

५८. 'संस्कारपूता मानुषी वाणी' के लिये 'संस्कृत' नामकरण कैसे किया गया, इस सम्बन्ध में भी यह ध्यातव्य है कि वैदिक यज्ञों एवं कर्मकाण्डों में ऋत्विक् जहाँ एक ओर मन्त्रों के उच्चारण आदि के समय 'छान्दस्‌भाषा' का प्रयोग करते थे, वहीं दूसरी ओर कर्मकाण्डों में व्याख्यानादि अन्यान्यकार्यों के लिये 'मानुषीवाणी' का भी प्रयोग करते थे। इसप्रकार वैदिक ब्राह्मणों के लिये 'दैवीवाणी' (छान्दस् भाषा) और 'मानुषीवाणी' दोनों में निष्णात होना आवश्यक होता था, जैसा कि संकेत मिलता है :—

"तस्माद् ब्राह्मण उभे वाचौ वदति
दैवीं च मानुषीं च।"

५९. इन वैदिकयज्ञों एवं कर्मकाण्डों में जिन मानुषीवाणियों का प्रयोग होता था, उनमें 'उदीच्यभाषा' का प्राधान्य था क्योंकि वेदों की रचना प्राधान्येन उत्तरभारत के पञ्चनद देश (= आधुनिक पंजाब) में ही हुई थी और हो रही थी। उत्तर भारत के शिष्ट लोगों एवं वैदिक ब्राह्मणों ने इस 'उदीच्यभाषा' को 'मानक-भाषा' का रूप देने के लिये एक सम्मिलित प्रयास किया जिसमें 'दैवीवाणी' (छान्दस्-भाषा) के अनुकरण के आधार इसका भी संस्कार किया जा रहा था और इसके क्षेत्र का भी विस्तार किया जा रहा था। फलतः प्रकृति-प्रत्यय-विभाग आदि रूपी संस्कार से संस्कृत होने के कारण 'मानुषीवाणी' (संस्कारपूता मानुषीवाणी) भी 'संस्कृत' कहलायी होगी; जैसा कि महाभाष्यकार ने संकेत किया है 'वाणी संस्कार विभूषिता'।

६०. इसप्रकार जहाँ एक ओर 'छान्दस्‌भाषा' (दैवीवाणी), जिसका प्रयोग मात्र मन्त्रोच्चारण आदि में ही होता रहा, के लिए 'संस्कृत' नाम दिया गया वहीं 'संस्कारपूता मानुषीवाणी', जिसका प्रयोग कर्मकाण्डों, शास्त्रीय व्याख्यानों, पण्डितों एवं शिष्टवर्गों में सामान्यतः होता था, के लिए भी 'संस्कृत' नाम प्रदान किया गया। इसके अतिरिक्त उस समय लोक में बोली जाने वाली जनसामान्य की भाषा को 'भाषा' या 'प्राकृतभाषा' (प्राकृतों की भाषा) कहा गया। अस्तु: यही कारण है कि 'छान्दस भाषा' को 'वैदिकसंस्कृत' तथा 'संस्कारपूता मानुषीवाणी' को 'लौकिकसंस्कृत' कहते हैं।

६१. रामकथा के अमरगायक आदिकवि वाल्मीकि स्पष्टतः 'संस्कृत' का

प्रयोग 'संस्कृता मानुषीवाणी' (लौकिक संस्कृत) के लिये करते हैं (मानुषीमिह संस्कृताम्) तथा इसे 'अर्थवत् मानुषवाक्य की भाषा' मानते हैं (मानुष वाक्यमर्थवत्)। इसके अतिरिक्त 'वैदिकसंस्कृत' के लिये भी 'संस्कृत' शब्द का प्रयोग करते हैं किन्तु इसे मात्र वैदिकब्राह्मणों की ही भाषा मानते हैं (द्विजातिरिव संस्कृताम्)। यह समस्त तथ्य उस समय स्पष्ट हो जाता है जहाँ आदि कवि लंका की अशोकवाटिका में उपस्थित हनुमान और आर्या सीता का वार्तालाप 'लौकिक संस्कृत' (संस्कृता मानुषीवाणी) में ही कराते हैं न कि 'वैदिकसंस्कृत' में क्योंकि वैदिकसंस्कृत का प्रयोग तो एकमात्र रावण जैसे महावैदिक ब्राह्मण ही किया करते थे; ऐसी दशा में यह संभव था कि आर्या सीता विशालकाय एवं पण्डितप्रवर हनुमान् को रावण समझकर भयभीत हो जातीं और वार्तालाप सम्पन्न न हो पाता।

अहं ह्यतितनुश्चैव वानरश्च विशेषतः।
वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम् ॥
यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्।
रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति ॥
वानरस्य विशेषेण कथं स्याद् हि भाषणम्।
अवश्यमेव वक्तव्यं मानुषं वाक्यमर्थवत् ॥

—सुन्दरकाण्ड

[हनुमान् विचार करते हैं कि—(मैं) 'संस्कृता मानुषीवाणी' (लौकिकसंस्कृत) में ही यहाँ बोलूंगा क्योंकि (एक तो) मैं विशालकाय (हूँ) और दूसरे वानर (भी) हूँ। अतएव यदि द्विजातियों (वैदिकब्राह्मणों) के समान 'वैदिकसंस्कृत' में वार्तालाप करूँगा (तो) आर्या सीता मुझे रावण समझकर भयभीत हो जायेंगी, फिर (मुझ) वानर का वार्तालाप (आर्या सीता) के साथ विशेषरूप से संभव नहीं हो सकेगा। (अतएव 'लौकिकसंस्कृत' का आश्रय लेकर) निश्चितरूपेण सार्थक मानुषवाक्य ही बोलना चाहिए।]

६२. आचार्य पाणिनि ने भी 'संस्कृत' का प्रयोग 'वैदिकसंस्कृत' एवं 'लौकिकसंस्कृत', दोनों के लिये किया तथा 'लौकिकसंस्कृत' को तात्कालिक युग के शिष्टवर्गों एवं पण्डितों में सामान्यरूप से बोले जाने का भी संकेत दिया है जिसका स्पष्टीकरण 'दूराद्धूते च' (अष्टा० ८।२।८४), 'प्रत्यभिवादेशूद्रे' (८।२।८३), 'बहुलं छन्दसि' (२।४।३९), 'भाषायां सदवसश्रुवः' (३।२।१०८) आदि सूत्रों में स्पष्ट मिलता है।

६३. वार्तिककार कात्यायन भी महर्षि पाणिनि की भाँति 'संस्कृत' शब्द से 'वैदिक संस्कृत' एवं 'लौकिक संस्कृत' का ही बोध कराते हैं तथा 'लौकिक संस्कृत'

के तत्काल में शिष्टवर्गों एवं पण्डितसमाज में सामान्यरूप से बोले जाने का संकेत करते हैं जैसा कि "लोकतोऽर्थ प्रयुक्ते शब्द प्रयोगे शास्त्रेणधर्मं नियमे' (महा० भा० १ आह्निक) आदि स्थलों से सुस्पष्ट है।

६४. महाभाष्यकार पतञ्जलि भी पाणिनि एवं कात्यायन के मतों का ही समर्थन करते हुए उक्त तथ्यों को यथावत् स्वीकार करते हैं जैसा कि "यथा लोके वेदे चेति प्रयोक्तव्ये यथा लौकिकवैदिकेष्विति प्रयुज्यते" (महा० आ० १) आदि उद्धरण से स्पष्ट है।

६५. इसके अतिरिक्त नाट्यशास्त्रकार आचार्य भरत ने 'संस्कृत' के अन्तर्गत 'वैदिकसंस्कृत' एवं 'लौकिकसंस्कृत' का परिगणन करते हुए 'लौकिकसंस्कृत' के बोलचाल की भाषा होने का स्पष्ट संकेत करते हैं कि नाटकों में प्रायः उत्तमकोटि के पात्र 'संस्कृत' (लौकिकसंस्कृत) में वार्तालाप करें और मध्यम कोटि के शिक्षित-पात्र 'संस्कृत' में तथा अशिक्षितपात्र संस्कृत या आवश्यकतानुसार महाराष्ट्री आदि उच्चकोटि की प्राकृत का ही प्रयोग करें। पुनः निम्नकोटि के पात्र प्राकृत का ही प्रयोग करें। इससे स्पष्ट है कि उत्तमकोटि के पात्र तथा मध्यमकोटि के पात्र प्रायशः 'संस्कृत' का ही प्रयोग करते थे किन्तु वे 'प्राकृत' भी बोल सकते थे। इसीप्रकार निम्नकोटि के पात्र यद्यपि 'पाकृत' ही बोलते थे किन्तु वे 'संस्कृत' अच्छी प्रकार समझते तथा बोल सकते थे अन्यथा उत्तम एवं मध्यकोटि के पात्रों से निम्नकोटि के पात्रों का वार्तालाप कैसे संभव हो सकता था? यही नहीं इससे यह भी प्रमाणित होता है कि सामान्य कोटि के दर्शक भी संस्कृत समझ लेते थे। इन सब प्रमाणों से 'संस्कृत' के अन्तर्गत 'वैदिक एवं लौकिक' दोनों प्रकार की संस्कृतों की परिगणना तथा 'लौकिक-संस्कृत' के तद्युग के पण्डितों एवं शिष्टवर्गों की व्यावहारिक विचारविनिमय के माध्यम होने का स्पष्ट संकेत मिल जाता है।

६६. परवर्ती भर्तृहरि, कैयट, नागेश भट्ट, जयादित्य एवं वामन, भट्टोजि दीक्षित, चन्द्र, महावीर, शाकटायन, कातन्त्र, हेमचन्द्र, वोपदेव आदि समस्त वैयाकरण उपर्युक्त तथ्य का ही समर्थन करते हैं।

६७. यहाँ यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि 'संस्कृतव्याकरण' का 'भाषा विज्ञान' से क्या सम्बन्ध है? क्या 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र' का अध्ययन भाषा वैज्ञानिकों के लिये आवश्यक है? तो इसका स्वाभाविक उत्तर है—हाँ। बात यह है कि पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि आदि की कृतियाँ उस अर्थ में व्याकरण नहीं है जैसा कि यह आज समझा जाता है। वास्तव में ये वैयाकरणों के व्याकरण हैं और तुलनात्मक सामग्री के समावेश के कारण आधुनिक अर्थ में भी भाषाविज्ञान के ग्रन्थ हैं। इस दृष्टि से 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र' के इतिहास का अध्ययन आवश्यक है।

मध्य भारतीयार्यभाषा

६८. वस्तुतः जनपदीय भाषाओं का स्वरूप निरन्तर परिवर्तित एवं परिवर्धित होता रहा। ६०० ई० पू० से १००० ई० तक के १६०० वर्षों तक भारतीयार्यभाषा 'प्राकृतों' तथा तत्पश्चात् 'अपभ्रंश के रूप में विकसित होती हुई आधुनिक भारतीयार्य भाषाओं की जननी बनी। आर्यभाषा के मध्यकालीन स्वरूप के विकास का ठीक-ठीक विवेचन करने के लिये १६०० वर्षों के इस काल को डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी के मतानुसार निम्नपर्वों में विभक्त किया जा सकता है :—

(१) प्रथमपर्व, जिसमें लगभग २०० ई० पू० तक के प्रारंभिक परिवर्तन, जिनका ऊपर उल्लेख हुआ है तथा २०० ई० पू० से २०० ई० तक का विकास अन्तर्भूत है।

(२) २०० ई० से ६०० ई० तक, द्वितीय पर्व।

(३) ६०० ई० से १००० ई० तक तृतीय पर्व अथवा अपभ्रंशकाल।

प्रथम पर्व

६९. प्रथम पर्व में भाषा के विकास की अध्ययन सामग्री 'पालि-साहित्य' तथा 'अशोक के अभिलेखों' में उपलब्ध होती है।

७०. वास्तव में 'पालि' शब्द किसी भाषा को द्योतित नहीं करता प्रत्युत इसका अर्थ होता है 'मूलपाठ' अथवा 'बुद्धवचन', और 'अट्ठकथा' से मूलपाठ की भिन्नता प्रकट करने के लिये इसका प्रयोग होता है; जैसे—'इमानि ताव पाळियं—अट्ठकथायं पन' (ये तो 'पालि' में हैं परन्तु 'अट्ठकथा' में तो) अथवा 'नेव पालियं न अट्ठकथायं आगतं' (न यह 'पालि' में है न 'अट्ठकथा' में)। 'पालि-भाषा' न कहकर केवल 'पालि' शब्द से ही 'थेरवाद' के 'धार्मिक-साहित्य' की भाषा को अभिहित करने की प्रथा आधुनिक काल में चल पड़ी है।

७१. यद्यपि 'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति विभिन्न विद्वानों ने पंक्ति, पल्लि, प्राकृत, प्रालेयक, पाठ, परियाय (पर्याय) आदि से देने का प्रयत्न किया है किन्तु विश्लेषण तथा परीक्षण एवं वस्तुस्थिति के निकष पर कसने पर ये सभी मत खरे नहीं उतरते। वस्तुतः 'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति सीधे-सादे रूप में 'पा' (रक्षा करना) धातु में 'णिच्' प्रत्यय 'लि' के योग से स्पष्टतः मानी जानी चाहिए क्योंकि प्राचीन अभिलेखों में भी 'पालि' की व्युत्पत्ति 'अत्थानपाति रक्खतीति तस्मा पालि' (अर्थों की रक्षा करती है, इसी लिये 'पालि') 'पा' धातु से ही की गई है। इससे 'पालि-

साहित्य' के संकलन एवं लिपिबद्ध किये जाने के इतिहास पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। अतः यही 'पालि' शब्द की संतोषजनक व्युत्पत्ति है।

७२. वस्तुस्थिति यह है कि 'त्रिपिटक' का संग्रह 'पालि' के अतिरिक्त संस्कृत तथा अनेक प्राकृतों में भी हुआ था। साम्प्रतिक शोधों से यह बात प्रमाणित हो रही है कि एक प्रख्यात तिब्बती परम्परा के अनुसार 'मूलसर्वास्तिवाद' के ग्रन्थ संस्कृत में, 'महासांघिक' के प्राकृत में, 'महासम्मतिय' के अपभ्रंश में और 'स्थविर सम्प्रदाय' के पैशाची में थे। ये सब बौद्धधर्म के विभिन्न सम्प्रदाय हैं। आधुनिक गवेषणाओं से यह तिब्बती परम्परा—अधिकांश में सत्यपरक उतर रही है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्धवचनों का संग्रह विभिन्न जनपदों की बोलियों में हुआ था। स्वयं बुद्ध भी यह चाहते थे कि लोग अपनी-अपनी भाषा में उनके उपदेशों को ग्रहण करें। इस प्रसङ्ग में 'चुल्लवग्ग' में एक कथा है कि एक बार दो भिक्षुओं ने बुद्ध से निवेदन किया कि लोग अपनी-अपनी बोली में उनके उपदेशों को ग्रहण कर उन वचनों के मूलरूप को विकृत कर रहे हैं; अतएव उनके उपदेशों को 'छन्दस्' की भाषा में संग्रथित कर दिया जाये, जिससे सर्वत्र एक ही रूप प्रचलित हो। भगवान् बुद्ध ने यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया और आदेश दिया कि 'अनुजानामि भिक्खवे सकाय निरुत्तिया बुद्धवचनं परियापुणितुं'' (भिक्षुओं, अपनी-अपनी भाषा में बुद्धवचन सीखने की अनुज्ञा देता हूँ)। यहाँ विशेषतः ध्यातव्य यह है कि विभिन्न सम्प्रदायों के विभिन्न भाषाओं में ग्रथित ग्रन्थ स्वयं को ही बुद्धवचनों का मूलरूप बताते हैं। ऐसी दशा में 'पालित्रिपिटक' का ही मूलत्रिपिटकत्व संदिग्ध है। जो बुद्धवचन उद्धृत किये हैं, वह 'पालि' में न होकर 'प्राच्या' में हैं। 'भाब्रू-अभिलेख' में ये वचन उद्धृत हुए हैं, ''उपतिस्पसिने लाघुलोवादे मुसावादे अधिगिच्च विनय समुकसे''। इनका 'पालि' में रूप यह होगा, ''उपतिस्सपञ्होराहुलोवादो मुसावादं अधिकिच्च विनय समुकसो''। इससे स्पष्ट है कि अशोक ने 'प्राच्या' में संगृहीत त्रिपिटक से बुद्धवचनों का ज्ञान प्राप्त किया था।

७३. यद्यपि 'पालि' 'मागधी' से मूलतः भिन्न है परन्तु 'पालित्रिपिटक' में 'मागधी' के अनेक रूप विद्यमान हैं; यथा—भिक्खवे, सुवे, पुरिसकारे इत्यादि। इनके अतिरिक्त 'पैशाची' के भी कुछ लक्षण—'पालि' में प्राप्त होते हैं परन्तु नियमित रूप से नहीं। इनका क्या कारण हो सकता है? गायगर महोदय की धारणा में इनका मूलकारण विभिन्न जनभाषाओं का 'पालि' पर प्रभाव ही हो सकता है। परन्तु त्रिपिटक में भी कुछ 'मागधीरूप' मिलते हैं। इनका विवेचन कर प्रो० सिल्वाँ लेवी तथा प्रो० लूडर्स इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि 'पालि' एवं 'संस्कृत' त्रिपिटक मूल मागधी त्रिपिटक के अनुवाद हैं और अनुवादकों की असावधानी एवं छन्दोनिर्वाह के कारण मागधीरूप इनमें रह गये हैं। चीन में ईसा की प्रथम दो शताब्दियों के जो बौद्ध

ग्रन्थों के अनुवाद प्राप्त हुए हैं; वे—'पालि' अथवा 'संस्कृत' के ग्रन्थों से नहीं मिलते। उनमें स्थानों और व्यक्तियों के जो रूप मिलते हैं, उनका ध्वनिपरिवर्तन के नियमों के अनुसार, 'पालि' अथवा 'संस्कृत' से सम्बन्ध न होकर 'प्राचीन मागधी' से ही सादृश्य प्रतीत होता है; यथा—'लो-युन' (चीनी), 'लाघुल' (मागधी) से सादृश्य रखता है, 'राहुल' (पालि) से नहीं। इससे प्रतीत होता है कि चीनी अनुवाद 'मागधी' से किये गये थे। इसप्रकार यह मानने में कोई बाधा नहीं है कि त्रिपिटक का मूलरूप 'मागधी' में रहा होगा और तत्पश्चात् अन्य जनपदों की बोलियों में अनुवाद हुआ होगा। 'मागधी' तो 'प्राच्या' का ही एक रूप थी। यद्यपि 'श' कार का प्रयोग इसकी अपनी विशेषता थी परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि 'श' कार का प्रयोग मात्र जनसाधारण में रहा होगा, राजकीय भाषा में यह न लिया गया होगा। यह भाषा काशी, कोशल, विदेह तथा मगध में व्यवहार की भाषा थी। अतएव बुद्ध भगवान् इसी में अपने उपदेश दिये होंगे। भगवान् बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् उनके वचनों के लिये बौद्ध-सभा हुई। इसमें भाग लेने वाले महाभिक्षुओं में 'महाकस्सप' प्रमुख थे जो मध्यदेश के निवासी थे। अतएव बहुत संभव है कि उन्होंने मध्यदेश की भाषा (प्राचीन शौरसेनी, जो मथुरा से उज्जैन तक प्रचलित थी) में भी बुद्धवचनों का अनुवाद किया हो। मध्यदेश उस समय ब्राह्मण एवं जैन धर्मों का केन्द्र था। अतः मध्यदेश की भाषा में त्रिपिटक का होना और भी आवश्यक था। इसी बीच उत्तर-पश्चिम की भाषा में भी बुद्ध-वचनों का अनुवाद हो गया होगा। राजकुमार महेन्द्र ने संभवतः मध्यदेश की भाषा में अनूदित त्रिपिटक का ही अध्ययन किया होगा क्योंकि उनकी मातृभाषा भी यही थी। इसी त्रिपिटक को वह सिंहल ले गये होंगे। अतएव निःसन्देह 'मध्यदेश की भाषा ही 'पालि' का आधार है।' मागधी से अनूदित होने के कारण उसके अनेक रूप इसमें रह गये और पैशाची अनुवाद से भी कुछ रूप ग्रहण किये गये। सिंहल में प्रतिष्ठित हो जाने पर 'पालि' 'साहित्यिक भाषा' बन गई और इसमें अन्य भाषाओं के रूप भी लिये जाने लगे।

७४. सिंहल के भिक्षुओं का 'पालि' को 'मागधी भाषा' समझना स्वाभाविक ही था क्योंकि बुद्ध ने 'मागधी' में उपदेश दिये थे तथा मगध का ही एक राजकुमार इसे सिंहल में लाया था। 'पालि' का जितना सादृश्य 'प्राचीन शौरसेनी' से है, उतना अन्य किसी बोली से नहीं। मध्य-एशिया में अश्वघोष के नाटकों के जो अंश मिले हैं; उनमें प्रयुक्त प्राचीन शौरसेनी (मध्यदेश की भाषा) 'पालि' से बहुत अधिक साम्य रखती है। ईसा से पूर्व तथा पश्चात् एक-दो शताब्दियों में मथुरा जैन धर्म का प्रधान केन्द्र था। जैन आचार्यों के साथ मध्यदेश की भाषा 'कलिङ्ग' में पहुँची और 'खारवेल' ने इसी भाषा में 'हाथीगुम्फा-अभिलेख' लिखवाया। अतः 'खारवेल' के अभिलेख की भाषा 'पालि' से बहुत अधिक समानता रखती है।

साहित्यिक भाषा बन जाने पर 'पालि' में प्राच्य भाषा तथा पैशाची (उत्तर-पश्चिम की भाषा) के रूपों को भी स्थान मिलने लगा और संस्कृत शब्दों के तत्सम, अर्ध-तत्सम (जिनमें ध्वनि परिवर्तन के नियमानुसार परिवर्तन न कर केवल स्वर सन्निवेशकर दिया गया; यथा रत्न>रतन, इन्द्र>इन्दर आदि) एवं तद्भव रूप प्रयुक्त होने लगे। यही कारण है कि 'पालि' में एक शब्द के दो-दो रूप भी मिलते हैं।

७५. 'संस्कृत' के साथ 'पालि' की तुलना करने पर यह विदित होता है कि 'संस्कृत' के बहुत से शब्दों के मध्य भारतीयार्यभाषा के रूप सुरक्षित हैं और 'पालि' में उन्हीं का कोई प्राचीन रूप बना हुआ है। उदाहरणार्थ, प्राचीन 'शवशान' का ह्रस्वीकृत रूप 'श्वशान' पालि में 'सुसान' के रूप में आया परन्तु किसी प्राचीन बोली में इसका रूप 'श्मशान' हो गया और यही 'संस्कृत' तथा अन्य मध्य भारतीय-आर्यभाषाओं ने ग्रहण किया। इससे स्पष्ट विदित हो जाता है कि प्राचीनकाल से ही आर्यभाषा का विकास विभिन्न बोलियो में हो रहा था। इनमें 'पालि' मध्यदेश में विकसित जनभाषा से उद्भूत हुई और संस्कृत मुख्यतः उदीच्य भाषा पर आधारित रही परन्तु अन्य जनपदो के शिष्ट प्रयोगो को भी ग्रहण करती रही।

अशोक के अभिलेखों की भाषा

७६. ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी के मध्य भाग में मौर्य सम्राट् अशोक ने अपने विशाल साम्राज्य के विभिन्न भागो में धर्म तथा शासन सम्बन्धी लेख चट्टानो, प्रस्तर खण्डो, स्तम्भो, गुफाओ की भित्तियो इत्यादि पर उत्कीर्ण करवाये थे। ये अभिलेख हिमालय से मैसूर तथा बंगाल की खाड़ी से अरब सागर पर्यन्त विभिन्न स्थानो पर पाये गये हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से तो ये महत्त्वपूर्ण हैं ही, भाषा के विकास-क्रम के अध्ययन में भी इनसे कम सहायता नहीं मिलती क्योंकि इनमें मध्य भारतीय आर्यभाषा के रूप मिलते हैं। इन अभिलेखो की एक विशेषता यह है कि जन-साधारण के बोध के लिये लिखे जाने के कारण, विभिन्न जनपदो में इसको स्थानीय बोलियो में प्रस्तुत किया गया है। अतः इनमें मध्य भारतीयार्यभाषा की विभिन्न शाखाओं के अध्ययन की सामग्री सुरक्षित है।

७७. विषय की दृष्टि से अशोक के प्राप्त अभिलेखो की तीन श्रेणियो में रखा जा सकता है। प्रथम श्रेणी में छः शिलालेख आते हैं जिनमें दो शिलालेख, उत्तर-पश्चिम-सीमाप्रान्त में, पेशावर से ४० मील उत्तर-पूर्व 'शाहबाजगढ़ी' में और पंजाब के 'हजारा' जिले में मानसेरा नामक स्थान से एक मील पश्चिम की ओर पहाड़ो पर खुदे हैं। ये दोनो शिलालेख 'खरोष्ठी' लिपि में है जो दाँयें से बाँयें लिखी जाती थी। तीसरा शिलालेख गुजरात में 'गिरनार' (प्राचीन रैवतक) पर्वत

के अञ्चल में उत्कीर्ण है। चौथा देहरादून जिले में, मंसूरी से चकरौता की ओर जाने वाले मार्ग पर १६ मील की दूरी पर 'कालसी' नामक स्थान में है। पाँचवाँ और छठाँ शिलालेख कलिङ्ग (आधुनिक उड़ीसा) में, 'धौली' और 'जौगड' नामक स्थानों में हैं। ये चारों शिलालेख 'ब्राह्मी' लिपि में हैं। इन सभी शिलालेखों में अशोक के धर्म एवं शासन सम्बन्धी सिद्धान्तों का वर्णन है।

७८. दूसरी श्रेणी में नौ लघु शिलालेख हैं। इनमें तीन मैसूर राज्य में, 'सिद्धपुर', 'जतिंगरामेश्वर' और 'ब्रह्मगिरि' में हैं, चौथा शाहाबाद (=भोजपुर) जिले में 'सहसराम' में; पाँचवाँ जबलपुर जिले में 'रूपनाथ' में, छठाँ जयपुर जिले में 'वैराट' में; सातवाँ भी 'वैराट' में ही था परन्तु अब 'कलकत्ता' में 'रायल एशियाटिक सोसाइटी के भवन' में रखा है और आठवाँ निजाम राज्य के अन्तर्गत 'मास्की' नामक गाँव में है। एक लघु शिलालेख मद्रास में भी मिला है। इन अभिलेखों से अशोक की जीवनी पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है।

७९. तीसरी श्रेणी में आठ स्तम्भ लेख, गुहालेख और अन्य लघु अभिलेख आ जाते हैं। स्तम्भलेख—अम्बाला, मेरठ, कौशाम्बी, बिहार के चम्पारन जिले में लोडिया ग्राम के समीप दो तथा रामपुरवा में एक, नेपाल की तराई में, रुम्मिनदेई तथा निग्लीव ग्राम में स्थापित किये थे। अम्बाला और मेरठ के स्तम्भ सम्प्रति दिल्ली में हैं और कौशाम्बी का अभिलेख इलाहाबाद के किले में है। इनके अतिरिक्त सारनाथ और साँची में लघु स्तम्भलेख भी प्राप्त हुए हैं। गया के समीप बराबर की पहाड़ी में तीन गुहालेख उत्कीर्ण हैं।

८०. अशोक के अभिलेखों में शिलालेख विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। यद्यपि अशोक के कालसी, मानसेरा आदि उत्तर एवं उत्तर-पश्चिमी अभिलेखों में तथा पश्चिमी अभिलेखों में भी प्राच्यभाषा के कुछ लक्षण प्रकट होते हैं परन्तु उसके विभिन्न जनपदों में अवस्थित लेखों की भाषा के पर्यालोचन से भारतीय आर्यभाषा की तीन बोलियाँ स्पष्टतया परिलक्षित होती हैं—(१) उत्तर-पश्चिम की बोली, जो शाहबाजगढ़ी के मानसेरा आदि अभिलेखों में मिलती हैं; (२) मध्यदेश की भाषा, जिसमें गिरनार, कालसी इत्यादि मध्य-देश में स्थित अभिलेख प्रस्तुत किये गये और (३) प्राच्यभाषा, जो भाब्रू, रामपुरवा, सारनाथ, धौली, जौगड इत्यादि पूर्वी अभिलेखों में स्पष्ट है। उत्तर-पश्चिम एवं मध्यदेश तथा पश्चिम के अभिलेखों में प्राच्यभाषा के जो लक्षण परिलक्षित होते हैं उनका कारण यह है कि अशोक के ये अभिलेख पहले प्राच्यभाषा में ही तैयार किये गये थे।

८१. इसप्रकार अशोक के अभिलेखों में तीन भारतीय आर्यभाषाओं के रूप सुरक्षित हैं—(१) उत्तर-पश्चिम की जनभाषा, शाहबाजगढ़ी-मानसेरा अभिलेखों में;

(२) दक्षिण-पश्चिम की जनभाषा, गिरनार इत्यादि अभिलेखों में और (३) प्राच्य-भाषा, धौली, जौगड, रामपुरवा, सारनाथ-भाबू इत्यादि अभिलेखों में। कालसी, तोपरा, वैराट इत्यादि मध्यप्रदेश में अवस्थित अभिलेखों में प्राच्यभाषा ने स्थानीय जनभाषा को इतने अधिक अंश में आच्छन्न कर लिया है कि इन अभिलेखों से स्थानीय जनभाषा के स्पष्टस्वरूप का परिचय नहीं मिलता। प्राच्य भाषा का प्रभाव उत्तर-पश्चिम में मानसेरा अभिलेखों में पर्याप्त अभिलक्षित होता है। दक्षिण-पश्चिम के अभिलेखों की भाषा भी प्राच्यभाषा के प्रभाव से मुक्त नहीं है। प्राच्य भाषा के इस प्रभाव का कारण यह है कि अशोक के ये अभिलेख प्रथमत: प्राच्य भाषा में प्रस्तुत किये गये थे तथा इसके पश्चात् विभिन्न जनपदों में उनकी स्थानीय बोलियों में रूपान्तर किया गया। धौली, जौगड में प्रधान शिलालेखों के अतिरिक्त दो लघु लेख भी प्राप्त हुए हैं। इनमें उत्तर-पश्चिम की भाषा का प्रभाव दृष्टिगत होता है। डॉ० मधुकर अनन्त मेहेन्दले का कहना है कि इन अभिलेखों का मूलरूप सम्राट् अशोक ने अपनी राजधानी में तैय्यार नहीं करवाया अपितु उत्तर-पश्चिम में किसी स्थान में इनको स्थानीय जनभाषा में लिखवाकर धौली, जौगड आदि में भेजा होगा। जहाँ ये स्थानीय भाषा में अनूदित हुए और अनुवादकों की कृपा से इनमें उत्तर-पश्चिम की भाषा के कुछ रूप रह गये।

८२. अशोक के अभिलेखों की भाषा में प्राचीन भारतीय आर्यभाषा से जो विभिन्नताएँ प्रकट होती हैं; वे प्रधानतया परिवर्तन की प्रवृत्तियों की परिचायिका हैं। ये प्रवृत्तियाँ आगे चलकर मध्य भारतीय आर्यभाषा के द्वितीय एवं तृतीय पर्व में निरपवादरूपेण प्रचलित हुईं।

अश्वघोष के नाटकों को प्राकृत

८३. अश्वघोष के नाटकों में तीन प्रकार की प्राकृतों का प्रयोग हुआ है—(१) दुष्ट की भाषा, (२) गणिका एवं विदूषक की भाषा और (३) गोभय की भाषा। इन विभिन्न प्राकृतों का स्वरूप अशोक के अभिलेखों में प्रयुक्त प्राकृतों जैसा ही है। साहित्यिक रचना होने के कारण इन पर संस्कृत का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है।

नियप्राकृत

८४. मध्य-एशिया के प्राचीन शान-शान राज्य में 'खरोष्ठी लिपि' में लिखित जो पत्र सर ऑरेलस्टेन की खोजों से प्रकाश में आये हैं, वे ईसा की तीसरी शताब्दी के हैं। इनकी भाषा मूलत: भारत के उत्तर-पश्चिम अञ्चल की भाषा है (जिसका परिचय अशोक के शाहबाजगढ़ी एवं मानसेरा अभिलेखों में मिलता है),

किन्तु पड़ोसी ईरानी, तुषारी, मंगोली आदि भाषाओं से भी प्रभावित हुई हैं। प्राकृत धम्मपद की भाषा का भी यही रूप है। परन्तु, साहित्यिक रचना होने के कारण इसमें अधिक प्राचीन रूप स्थान पा सके हैं।

द्वितीय-पर्व = साहित्यिक प्राकृतें

सामान्य लक्षण

८५. (i) वस्तुतः मध्य भारतीय आर्यभाषा के संक्रान्तिकाल में (ई० पू० २०० से २०० ई० तक) ही प्रायः स्वरमध्यग अघोष स्पर्श व्यञ्जन सघोष होने लगे थे। ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी में उच्चारण की इस प्रवृत्ति में अभिनव परिवर्तन हुए जिन्होंने मध्य भारतीय आर्यभाषा का रूप बहुत कुछ परिवर्तित कर दिया। स्वरमध्यग सघोष स्पर्श व्यञ्जनों के उच्चारण में शैथिल्य आ गया जिससे वे ऊष्म ध्वनि के समान बोले जाने लगे। यह स्थिति बहुत काल तक न बनी रही और कुछ समय पश्चात् शिथिलतापूर्वक उच्चरित ये सघोष व्यञ्जन ध्वनियाँ लुप्त होने लगीं। इस परिवर्तन से भाषा का स्वरूप इतना बदल गया कि वह पिछले पर्व की भाषा से भिन्न प्रतीत होने लगी। मध्य भारतीय आर्यभाषा के द्वितीय पर्व का यह सर्वप्रधान लक्षण है। निम्न उदाहरणों से यह परिवर्तन-क्रम सुस्पष्ट हो जायेगा।

८५. (ii) शुक>*सुग>सुग़>सुअ; मुख>*मुघ>मुघ़>मुह; हित>*हिद>हिद़>हिअ; कथा>*कधा>कधा़>कहा; अपर>*अबर>अब़र>अअर।

८६. सघोष स्पर्श व्यञ्जनों के इस शिथिल ऊष्म उच्चारण को प्रकट करने के लिये लिपि में किसी नवीन चिन्ह का उपयोग नहीं किया गया। इसप्रकार 'सुग़', 'हिद़' इत्यादि रूप 'सुग', 'हिद' आदि रूप में ही प्रायः लिखे जाते रहे। अतः लिखित भाषा में यह परिवर्तन प्रकट न हुआ और उत्तरकालिक प्राकृत वैयाकरणों ने समझ लिया कि 'अघोष स्पर्श व्यञ्जनों के घोषवत् उच्चारण तथा सघोष व्यञ्जनों के लोप की प्रक्रिया समकालीन हैं।' ऊष्मवत् उच्चारण की स्थिति से परिचित न होने के कारण वह भाषा के क्रमिक विकास को न समझ सके। यही कारण है कि उन्होंने भाषा के घोषवत् उच्चारण-युक्त रूप को तथा सघोष व्यञ्जनों के लोप से परिवर्तित रूप को एक कालक्रम में रखकर विभिन्न नामों से अभिहित किया। परिवर्तन की प्रथम स्थिति में विद्यमान भाषा को उन्होंने 'शौरसेनी' तथा अन्तिम स्थिति में वर्तमान भाषा को 'महाराष्ट्री' संज्ञा दी। परन्तु वास्तव में 'शौरसेनी' एवं 'महाराष्ट्री' एक ही भाषा के आगे-पीछे के रूप हैं जिसका विवेचन यथाप्रसंग किया ही जायेगा।

८७. व्यञ्जन ध्वनियों के इस क्रान्तिकारी परिवर्तन के साथ-साथ शब्द एवं धातुरूपों के सरलीकरण की प्रक्रिया भी प्रगतिशील रही। शब्दरूपों की विभिन्नताएँ बहुत कुछ प्रथमपर्व में ही समाप्त हो चुकी थीं। द्वितीय पर्व में अवशिष्ट रूपभेद भी लुप्त हो गये तथा सभी शब्दों के रूप अकारान्त शब्द के समान ही निष्पन्न होने लगे। कारकों की संस्था भी कम हो गई। सम्प्रदान एवं सम्बन्ध कारक के रूप समान हो गये। कर्ता एवं कर्म कारक के बहुवचन का कार्य एक ही रूप से लिया जाने लगा। द्विवचन प्रथमपर्व में ही समाप्त हो चुका था। धातुरूपों में आत्मनेपद के रूप इक्के-दुक्के ही बचे रहे और वह भी अपने मूल अर्थ को छोड़कर। लङ्, लिट् तथा विविध प्रकार के लुङ् रूप समाप्त हो गये। कारक एवं क्रिया का सम्बन्ध प्रकट करने के लिये संज्ञाशब्द के साथ कारकाव्यय एवं कृदन्तरूपों के प्रयोग की प्रवृत्ति चल पड़ी। इस-प्रकार 'रामायदत्तम्' न कहकर 'रामाय कए (कृते) दत्तम्' अथवा 'रामस्स कए दत्तम्' तथा 'रामस्य गृहम्' न कहकर 'रामस्स केरक (कार्यक) घरम्' कहा जाने लगा। यही कारकाव्यय आगे चलकर आधुनिक भारतीय आर्यभाषा में 'अनुसर्ग' या 'परसर्ग' बने। इसप्रकार भारतीयार्यभाषा विश्लेषणात्मक बनने लगी। मध्यकाल के द्वितीय पर्व तक आते-आते प्राचीन भारतीयार्यभाषा की शब्द एवं धातु रूपों की विविधता एवं सम्पन्नता समाप्तप्राय हो गई। परन्तु अब भी भाषा का रूप इस सीमा तक नहीं बदला कि जनसामान्य के लिये संस्कृत सर्वथा दुर्बोध हो जाये। संस्कृत नाटकों में विविध प्राकृतों के प्रयोग की प्रथा से प्रतीत होता है कि संस्कृत जनसामान्य के लिये अभी भी बहुत कुछ बोधगम्य थी।

८८. जिस प्रकार प्राचीन भारतीयार्यभाषा को साधारणतया 'संस्कृत' कह दिया जाता है उसीप्रकार मध्यभारतीयार्यभाषा के लिये 'प्राकृत' शब्द का व्यवहार किया जाता है। 'प्राकृत' शब्द की व्युत्पत्ति 'प्रकृति' (जनसाधारण) से है; अतः 'प्राकृत' का अर्थ हुआ जनसाधारण की भाषा। शिष्टसमाज की भाषा—'संस्कृत' से भेद प्रकट करने के लिये ही जनसाधारण की भाषा को 'प्राकृत' की संज्ञा प्रदान की गई। उत्तरकालीन प्राकृत वैयाकरण 'पालि' से परिचित न थे और अशोक के अभि-लेखों तथा अन्य अभिलेखों की भाषा भी उनके सामने न थी। अतएव उन्होंने इस पर विचार न किया। संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त तथा कुछ काव्यग्रन्थों एवं जैनधर्म के ग्रन्थों में व्यवहृत प्राकृत पर ही इन वैयाकरणों ने विचार किया। अतः 'प्राकृत' शब्द जैन-आगमों की 'आर्षी' अथवा 'अर्द्धमागधी' तथा अन्य साहित्यिक रचनाओं की 'मागधी', 'शौरसेनी', 'महाराष्ट्री' तथा 'पैशाची' बोलियों के अर्थ में रूढ़ हो गया। मध्य भारतीयार्यभाषा के द्वितीयपर्व के अध्ययन की सामग्री इन्हीं साहित्यिक एवं धार्मिक ग्रन्थों में उपलब्ध होती है।

८९. नाट्यशास्त्रकार आचार्य भरत ने शौरसेनी, मागधी, पैशाची आदि

प्राकृतों के नामोल्लेख के साथ-साथ शकारी, आभीरी, चाण्डाली, शाबरी, द्राविड़ी, ओड्री तथा वनौकसी आदि सात विभाषाओं का भी उल्लेख किया है। 'महाराष्ट्री' का नाम्ना उल्लेख यद्यपि नहीं किया किन्तु इसे विद्वानों ने इसी परम्परा में 'शौरसेनी' के विकसित रूप में 'महाराष्ट्री' को स्वीकार करने पर बल दिया है। इन प्राकृतों तथा बोलियों के अतिरिक्त आचार्य भरत ने पाँच भाषिक क्षेत्रों का भी उल्लेख किया है :—

	भाषिक क्षेत्र का भौगोलिक वर्णन	विशिष्ट स्वनिम
१.	गङ्गा तथा समुद्र के बीच	ए (एकारबहुला)
२.	विन्ध्यपर्वत तथा समुद्र के बीच (टीकाकारों के अनुसार द० सौराष्ट्र)	न् (नकारबहुला)
३.	सौराष्ट्र, अवन्ती तथा वेत्रवती (वेतवा) के उत्तर के प्रदेश	च् (चकारबहुला)
४.	हिमालय तथा सिन्धु सौवीर देश	उ (उकारबहुला)
५.	चर्मवती (चम्बल) तथा आबू पर्वत के आस-पास	ट् (टकारबहुला)

९०. 'नाट्यशास्त्र' से अधिक भाषाओं के नाम 'गीतालङ्कार' (तृतीय या चतुर्थ शती) में मिलते हैं जो प्रायः संगीतशास्त्र का ग्रन्थ है। इसे आचार्य भरत द्वारा प्रणीत कहा जाता है किन्तु इस सन्दर्भ में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। इसके महत्त्व की ओर ध्यानाकर्षण सर्वप्रथम डॉ० एस्० एम्० कत्रे ने किया। इसमें ४२ भषाओं के नाम उल्लिखित हैं :—

१. महाराष्ट्री, २. किराती, ३. सौराष्ट्री, ४. मागधी, ५. लाटी, ६. गौडी, ७. कश्मीरी, ८. पौरस्त्या, ९. पश्चिमा भाषा, १०. उत्कला, ११. पांचाली, १२. पैशाची, १३. म्लेच्छी, १४. तूरानी, १५. सोमकी, १६. कोलकी, १७. काञ्ची, १८. मालवी, १९. कशी या काशी संभवा, २०. वेदी, २१. कुशावार्ता, २२. शौरसेनी, २३. भोजी, २४. गुजराती, २५. शेमकी, ९६. भेदी, २७. माखी, २८. कानमुखी, २९. देवकी, ३०. पञ्चपत्तना, ३१. सैंधवी, ३२. कौशिकी, ३३. भद्रा, ३४. भद्रभोजिका, ३५. कुन्तला, ३६. कोशका, ३७. पारा, ३८. यावनी, ३९. कुरकुरी, ४०. मध्यदेशीय, ४१. काम्बोजी, ४२. मलया।

९१. इनमें कुछ नाम भौगोलिक एवं राजनीतिक जनपदों के नाम पर हैं; जैसे—मागधी, पाञ्चाली आदि। परन्तु; कुछ नाम जातियों पर हैं; जैसे—कुरकुरी, सोमकी, किराती, म्लेच्छी आदि। कुछ नदियों एवं पर्वतों के नाम पर हैं; जैसे—पारा, कौशिकी आदि। कुछ विदेशियों के नाम पर हैं; जैसे—तूरानी, यावनी आदि। मध्यदेशीय व शौरसेनी मात्र शौरसेनी के लिये हैं। महाराष्ट्री, शौरसेनी, पैशाची आदि

प्रसिद्ध नाम हैं। इनमें 'पैशाची' का क्षेत्र आधुनिक 'दरद' का क्षेत्र रहा होगा। 'किराती' का क्षेत्र विन्ध्यपर्वत का ही क्षेत्र है; यद्यपि किरात मूलतः 'भूटान' या 'नेपाल' के निवासी रहे। 'सौराष्ट्री' गुजरात की भाषा थी। 'लाटी' का क्षेत्र माही तथा ताप्ती का मध्यवर्ती क्षेत्र रहा होगा। 'गौडी' बंगाल की भाषा थी और यह 'मागधी' का द्वितीय नाम ही है। 'कश्मीरी' कश्मीर की भाषा, 'पोरस्त्या' तथा 'पश्चिमा' संभवतः पूर्वी व पश्चिमी क्षेत्र की भाषाएँ रही होंगी। 'उत्कला' उड़ीसा की भाषा तथा 'पाञ्चाली' गङ्गा-यमुना के दो-आब (फर्रुखाबाद, रुहेलखण्ड आदि)की भाषा थी। 'तूरानी' तुर्कों की भाषा, 'म्लेच्छी' अनार्यों—म्लेच्छों—की भाषा थी। 'मालवी' का क्षेत्र सौराष्ट्र-दशार्णव के मध्य का प्रदेश था। 'काशी' भाषा वर्तमान 'काशीजनपद' (बनारस) की भाषा; 'वेदिका' अवधक्षेत्र की भाषा रही जिसका दूसरा नाम 'कोशला' था। 'भोजी' का क्षेत्र भोजपुर है; 'भोजस्' जाति मगध में रहती थी। 'यवानी' यवनों की भाषा भी।

९२. 'कुवलयमाला' में देशीभाषा की १८ भाषाओं की एक सूची प्रदत्त है जिसके लेखक जैनाचार्य 'उद्योतकर सूरि' हैं (८वीं शती)। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति है। मध्यदेशीय लोग 'तेरे', 'मेरे', 'आओ' आदि बोलते हैं। मध्यदेशीय सौदागर इसका प्रयोग करते रहे हैं। यह संभवतः अन्तर्वेद की भाषा थी जिसका क्षेत्र उत्तर-प्रदेश में गङ्गा-यमुना का दो-आब था। उद्योतकर सूरि ने 'अन्तर्वेद' एवं 'मध्यदेश' को पृथक् माना है। वास्तव में 'अन्तर्वेद' मध्यदेश का एक भाग था और मध्यदेश एवं पश्चिम की ओर कुरु तथा पश्चिम पाञ्चाल जनपद था। यहाँ की भाषा आधुनिक हरियाणा एवं बांगरू की भाषा की पितृभाषा रही होगी।

९३. प्रख्यात भाषाविज्ञानी डॉ० सुनीतिकुमारचटर्जी का मत है कि—शौरसेनी, मागधी, महाराष्ट्री, पैशाची, अर्द्धमागधी आदि मूलतः प्राकृत भाषाएँ नहीं थीं अपितु ये सब नाटक या रंगमञ्च की भाषाएँ थीं। इनके जो संक्षिप्त व्याकरणिक लक्षण उपलब्ध हैं; उनकी तुलना आज के हिन्दी नाटक, उड़िया नाटक अथवा बंगला-नाटक में व्यवहृत बंगला एवं पूर्वी बंगला आदि भाषाओं के समान हैं। निस्सन्देह यह सत्य है कि संस्कृतनाटकों या प्राकृतव्याकरणों में इनके जो रूप उपलब्ध हैं; वे विशुद्ध रूप में साहित्यिक हैं। यही रूप धार्मिक ग्रन्थों में भी उपलब्ध हैं।

९४. प्राकृत वैयाकरणों में सर्वप्रथम नाम 'वररुचि' का आता है जिन्होंने 'प्राकृत' के चार भेद किये हैं—महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी और शौरसेनी। जैनाचार्य हेमचन्द्र (१२वीं शती) ने 'आर्षी', (अर्द्धमागधी) एवं 'चूलिका पैशाची' पर भी विचार किया है। प्राकृत वैयाकरणों ने जिस भाषा का विवेचन किया है वह लोक-भाषा पर आधारित अवश्य थी, परन्तु, वह संस्कृत के आदर्श पर चलकर कालान्तर में

मात्र साहित्यिक रचनाओं की भाषा रह गई थी। इस रूप में प्राकृतों का प्रयोग संस्कृत नाटककार १३वीं शती तक करते रहे। इन प्राकृतों की अनेक भाषाएँ रही होंगी। परन्तु, उनमें कोई साहित्यिक रचना न होने के कारण आज उनका पूर्ण परिचय नहीं मिलता। केवल यत्र-तत्र बिखरे कुछ विशिष्ट शब्दरूपों से इसका अनुमानमात्र किया जा सकता है। यहाँ पर अब प्राकृत वैयाकरणों द्वारा उल्लिखित प्राकृतों की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख किया जायेगा।

शौरसेनी

९५. (i) 'शौरसेनी-प्राकृत' मूलतः 'शूरसेन-प्रदेश' (मथुरा) की भाषा थी। संस्कृत-नाटकों में स्त्रीपात्र और विदूषक इसका प्रयोग करते थे। मध्यदेश की भाषा होने के कारण यह संस्कृत के बहुत निकट रही और इसपर संस्कृत का प्रभाव निरन्तर पड़ता रहा। 'शौरसेनी-प्राकृत' की निजी विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :—

९५. (ii) १—स्वरमध्यग 'द्', 'ध्' (मूल तथा 'त्', 'थ्' के परिवर्तित रूप से)—सुरक्षित हैं। यथा—आगतः>आवदो; कथयतः>कथेदुः; कृतः>कद-किद।

९५. (iii) २—क्ष>क्ख; यथा—कुक्षि>कुक्खि; इक्षु>इक्खु।

९५, (iv) ३—संयुक्तव्यञ्जनों में से एक का तिरोभाव कर पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ करने की प्रवृत्ति 'शौरसेनी' में अधिक नहीं मिलती।

९५. (v) ४—विधि (Optative) के रूप संस्कृत के समान बनते हैं; 'महाराष्ट्री' एवं 'अर्द्धमागधी' के समान इनमें 'एज्ज' प्रत्यय नहीं लगता। यथा—शौ० वट्टे (महा० एवं अ० मा० 'वट्टेज्ज')<वर्तते।

९५. (vi) ५—'य' प्रत्यय का प्रतिरूप शौरसेनी में 'ईअ' हो जाता है। यथा—पुच्छी अदि<पृच्छ्यते; गमी अदि<गम्यते।

मागधी

९६. (i) 'मागधी' मूलतः 'मगध' की भाषा थी। संस्कृतनाटकों में निम्न-श्रेणी के पात्र 'मागधी' बोलते थे। प्राच्यदेश की भाषा होने के कारण यह वर्गविकार इत्यादि में अन्य लोकभाषाओं से बहुत आगे रही। इसकी अपनी प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं।

९६. (ii) (१) 'मागधी' में 'र्' ध्वनि का सर्वथा अभाव है। 'र्' के स्थान पर सर्वत्र 'ल्' पाया जाता है। यथा—राजा>लाजा; पुरुषः>पुलिशे (शौ० 'पुरिसो'); समर>शमल।

९६. (iii) (२) 'स्' 'ष्' के स्थान पर भी 'श्' का प्रयोग 'मागधी' की एकप्रधान विशेषता है। यथा– शुष्क>शुश्क; समर>शमल।

९६. (iv) (३) ज्>य् तथा झ्>य्ह; यथा—जानाति>याणादि; जनपद>यणवद; जायते>यायदे; झतिति>य्हति।

९६. (v) (४) द्य, र्ज, र्य>य्य्; यथा—अद्य>अय्य; आर्य>अय्य; अर्जुन>अय्युव; कार्य>कय्य।

९६. (vi) (५) ण्य्, न्य्, ज्ञ, ञ्ज्>ञ्ञ; यथा—पुण्य>पुञ्ञ; अन्य>अञ्ञ; राज्ञ;>लञ्ञो; अञ्जलि>अञ्ञलि।

९६. (vii) (६) जिन संयुक्त व्यञ्जनों में प्रथम व्यञ्जन ऊष्म होता है, उनमें वर्णविकार के अतिरिक्त समीकरण आदि अन्य कार्य नहीं होते। यथा—शुष्क>शुश्क; हस्त>हश्त।

९६. (viii) (७) च्छ्>श्च्; यथा गच्छ>गश्च; पृच्छ>पुश्च।

९६. (ix) (८) क्ष>श्क; यथा—पक्ष>पश्क; प्रेक्षते>प्रेश्कदि।

९६. (x) (९) 'शौरसेनी' के समान 'मागधी' में भी स्वरमध्यग 'द्' सुरक्षित रहा; यथा—भविष्यति>भविश्शदि।

९६. (xi) (१०) कर्तृकारक एकवचन का प्रत्यय 'अः'>'ए'; यथा—सः>शे इत्यादि।

९७. (i) प्राकृत वैयाकरणों ने 'मागधी' की कुछ विकृतियों तथा विभाषाओं का उल्लेख किया है। 'चाण्डाली' तथा 'शाबरी' मागधी की विकृतियाँ हैं और 'शाकारी' इसकी विभाषा प्रतीत होती है। 'शाकारी' की मागधी विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:—

९७. (ii) (१) 'च्' के स्थान में 'श्च्'; यथा—श्चिष्ठ<चिष्ठ<तिष्ठ।

९७. (iii) (२) सम्बन्धकारक एकवचन में 'अह' प्रत्यय; यथा—चालुदत्ताह>चारुदत्तस्य।

९७. (iv) (३) अधिकरण एकवचन में 'आहिं' प्रत्यय; यथा—पवहणाहिं<प्रवहणे।

अर्धमागधी

९८. 'अर्धमागधी' काशी-कोशल प्रदेश की भाषा थी। जैन आचार्यों ने इसी भाषा में शास्त्रों की रचना की। वह इसे 'आर्षी' कहते थे और 'आदिभाषा'

जानते थे। संस्कृत-नाटकों में भी 'अर्धमागधी' का प्रयोग होता था। मध्य-एशिया में प्राप्त अश्वघोष के संस्कृत-नाटक 'शारिपुत्रप्रकरण' में 'अर्धमागधी' का व्यवहार हुआ है।

९९. 'अर्धमागधी' में 'शौरसेनी' एवं 'मागधी' दोनों के लक्षण मिलते हैं। इसमें 'र्' व 'ल्' दोनों ही ध्वनियाँ विद्यमान हैं। प्रथमा एकवचन का रूप एकारान्त तथा ओकारान्त दोनों रूप में मिलता है। 'श्' तथा 'ष्' के स्थान पर इसमें 'स्' हो गया है तथा 'स्म' के स्थान पर 'सं' मिलता है। यथा —लोकस्मिन्>लोकम्हि>लोयंसि; तस्मिन्>तंसि। 'अर्धमागधी' की एक प्रमुख विशेषता यह है कि स्वरमध्यग लुप्त स्पर्श व्यंजनों का स्थान 'य्' ध्वनि ले लेती है। इसे 'य' श्रुति कहते हैं। उदाहरणार्थ —सागर>सायर; स्थित>ठिय; कृत>कय (हिन्दी 'किया')। कहीं-कहीं स्वरमध्यग सघोषस्पर्श व्यञ्जन भी सुरक्षित हैं; यथा—लोगंसि<लोकस्मिन्। 'स्स्' के स्थान पर यहाँ प्राय 'स्' रह गया है और पूर्ववर्ती स्वर दीर्घ हो गया है। यथा—वास<वस्स <वर्ष। अन्यप्राकृतों की अपेक्षा 'अर्धमागधी' में दन्त्य व्यञ्जनों के मूर्धन्यादेश की प्रवृत्ति बहुत अधिक है। संस्कृत के पूर्वकालिक क्रिया के प्रत्यय 'त्वा' एवं 'त्य' (ल्यप्) 'अर्धमागधी' में 'त्ता' एवं 'च्चा' के रूप में सुरक्षित रहे। 'तुमनन्त' शब्दों का प्रयोग अर्धमागधी में पूर्वकालिक क्रिया के समान किया गया। यथा—काउँ<कर्तुम्।

१००. जैनाचार्यों ने 'महाराष्ट्री' तथा 'शौरसेनी' में भी शास्त्र-रचना की। परन्तु; उनकी भाषा 'अर्धमागधी' से बहुत प्रभावित रही। अतएव 'जैनमहाराष्ट्री' एवं 'जैनशौरसेनी' कहा गया।

महाराष्ट्री

१०१. साहित्यिक-प्राकृतों में 'महाराष्ट्री' प्राकृत सर्वाधिक विकसित है। प्राकृत वैयाकरणों ने इसे 'आदर्श-प्राकृत' माना है और सर्वप्रथम उन्होंने इसी का विवेचन किया; तत्पश्चाद् अन्य प्राकृतों की विशेषताएँ बताई हैं। संस्कृत-नाटकों में प्राकृत-पद्य-रचना प्रायशः 'महाराष्ट्री' में हुई है। 'महाराष्ट्री-प्राकृत' में महाकाव्यों एवं खण्डकाव्यों की रचनाएँ हुई हैं। 'सेतुबन्ध' ('रावणवहो' अथवा 'दशमुखवध') तथा 'गउडवहो' काव्य 'महाराष्ट्री' में ही हैं और हालकृत 'गाथासप्तशती' (गाहासत्तसई) की भाषा भी 'महाराष्ट्री-प्राकृत' ही है।

१०२. (i) 'महाराष्ट्री-प्राकृत' की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि इसमें प्राय: स्वरमध्यग व्यञ्जनों का लोप हो गया है। इसप्रकार स्वरमध्यग क्, त्, प्, ग्, द्, व् पूर्णतः लुप्त हो गये हैं और ख्, थ्, फ्, घ्, ध्, भ् के स्थान पर केवल महाप्राण ध्वनि 'ह्' बच रही है। इसप्रकार प्राकृत>पाउअ; प्रभृति>पाहुन; कथयति>कहेइ रूप—

'महाराष्ट्री-प्राकृत' में मिलते हैं। यह मध्यभारतीयार्यभाषा के द्वितीयपर्व के विकास की चरमावस्था है। 'शौरसेनी' एवं 'महाराष्ट्री' प्राकृत में प्रमुख भिन्नता इसी परिवर्तन में है। अन्यथा 'महाराष्ट्री प्राकृत' शौरसेनी से बहुत अधिक 'साम्य' रखती है। निस्संदेह 'महाराष्ट्री-प्राकृत' आधुनिक 'मराठी' का पूर्व रूप है और 'शौरसेनी' से सादृश्य होने के कारण शौरसेनी के शब्दरूप तथा आधुनिक 'मराठी' के शब्दरूपों के पूर्वरूप भी इसमें विद्यमान हैं। 'शौरसेनी' एवं 'महाराष्ट्री' में स्वरमध्यग व्यञ्जनों के विषय में इस भिन्नता का कारण यह भी हो सकता है कि किसी प्रदेश की भाषा में अन्य प्रदेशों की भाषाओं की अपेक्षा परिवर्तन की गति अधिक तीव्र भी होती है। संभव है कि 'महाराष्ट्री' में 'शौरसेनी' की अपेक्षा परिवर्तन बहुत तीव्र होता रहा हो। परन्तु इनसब समस्याओं का विवेचन कर श्री मनमोहन घोष इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि वास्तव में 'महाराष्ट्री-प्राकृत' शौरसेनी का ही विकसित रूप है। इन दोनों 'प्राकृतों' में पहले स्थानगत भेद न होकर, मात्र कालगत भेद था। इसके बाद 'महाराष्ट्री-प्राकृत' दक्षिण में पहुँची और वहाँ काव्यभाषा बन गई। वहाँ यह स्थानीय भाषा से भी प्रभावित हुई जिसके कारण 'मराठी' के अनेक शब्दरूपों को अपना लिया। दक्षिण से यह भाषा उत्तरभारत में साहित्यिक भाषा के रूप में लौटी और इसको सब प्राकृतों के मध्य आदर का स्थान मिला। इसप्रकार 'महाराष्ट्री', 'शौरसेनी' का ही विकसित रूप है और 'शौरसेनी-प्राकृत' एवं 'शौरसेनी-अपभ्रंश' के बीच की परिचायिका है। 'महाराष्ट्री' की अन्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :—

१०२. (ii) (१) इसमें कहीं-कहीं ऊष्मव्यञ्जनध्वनि के स्थान पर 'ह्' हो गया है; यथा—पाषाण>पाहाण; अनुदिवसम्>अनुदि अहं (यहाँ 'द्' का लोप इस कारण नहीं हुआ है कि 'अनु' और 'दिवसं' पृथक्-पृथक् शब्द हैं; अतः 'द्' स्वरमध्यग नहीं माना गया)।

१०२. (iii) (२) अपादान एकवचन में साधारणतया 'अहि' प्रत्यय लगता है; यथा—दूराहि<दूरात्।

१०२. (iv) (३) अधिकरण एकवचन के रूप 'म्मि' अथवा 'ए' के योग से बनते हैं; यथा—'लोए' अथवा 'लो अम्मि'<लोकस्मिन्।

१०२. (v) (४) 'कृ' धातु के रूप वैदिकभाषा के समान निष्पन्न होते हैं; यथा—कुणइ<कृणोति (वैदिक)।

१०२. (vi) (५) 'आत्मन्' का, 'महाराष्ट्री' में प्रतिरूप 'अप्प' हुआ है (जब कि शौ० में 'अन्त')।

१०२. (vii) (६) क्रिया के कर्मवाच्य का 'य्' प्रत्यय>'इज्ज'; यथा—पृच्छ्यते>पुच्छिज्जइ; गम्यते>गमिज्जइ।

१०२. (viii) (७) पूर्वकालिक क्रिया का रूप 'ऊण' प्रत्यय के योग से बनता है; यथा—पुच्छिऊण <पृष्ट्वा।

पैशाची

१०३. (i) 'पैशाची-प्राकृत' की कोई साहित्यिक-रचना सुरक्षित नहीं रह सकी है। कहा जाता है कि 'गुणाढ्य' की 'बृहत्कथा' (वड्डकहा) मूलतः 'पैशाची' में लिखी गयी थी परन्तु इसका 'पैशाचीपाठ' लुप्त हो गया है। प्राकृत वैयाकरणों ने 'पैशाची' की प्रमुख विशेषताएँ ये बताई हैं :—

१०३. (ii) (१) सघोषव्यञ्जनों के स्थान पर समान अघोष व्यञ्जनों का प्रयोग; यथा—राजा > राच।

१०३. (iii) (२) 'पैशाची' की दूसरी विशेषता यह बताई गयी है कि इसमें स्वरमध्यग स्पर्श व्यञ्जनों का लोप नहीं होता है।

तृतीयपर्व-अपभ्रंश

१०४. मध्यभारतीय आर्यभाषा के विकास के अन्तिमसोपान को 'अपभ्रंश' नाम से अभिहित किया जाता है। 'अपभ्रंश' मध्यभारतीय आर्यभाषा और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं (हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती आदि) के बीच की कड़ी है। प्रत्येक आर्यभाषा को 'अपभ्रंश' की स्थिति पार करनी पड़ी है। 'अपभ्रंश' शब्द विभिन्न अर्थों में महाभाष्यकार पतञ्जलि (ई० पू० द्वितीय शती) के समय से प्रयुक्त मिलता है। इस शब्द के इतिहास पर संक्षेप में विचार करना असंगत न होगा क्योंकि इससे 'अपभ्रंश' के कालनिर्णय में सहायता मिलेगी।

'अपभ्रंश' शब्द का प्रयोग

१०५. महाभाष्यकार पतञ्जलि ने लिखा है कि ''भूयांसोऽपशब्दाः, अल्पीयांसः शब्दा इति। एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः तद् यथा—गौरित्यस्य शब्दस्य—'गावी', 'गोणी', 'गोता', 'गोपोतलिके' त्यादयो बहवोऽपभ्रंशः।' (अपशब्द बहुत हैं; शब्द अल्प हैं। एक-एक शब्द के बहुत से अपभ्रंश है; जैसे 'गो' शब्द के 'गावी', 'गोणी', 'गोता', 'गोपोतालिका' इत्यादि। 'शब्द' से आचार्य पतञ्जलि का तात्पर्य 'पाणिनीय व्याकरण' के सिद्धशब्द से है तथा 'अपभ्रंश' का प्रयोग 'अपशब्द' के समानार्थक रूप में किया है। 'गो' शब्द के जो 'अपभ्रंश' रूप आचार्य ने बताए हैं उनमें 'गावी' 'गोणी', 'गोता' को यदि किसी प्रकार ध्वनि-विकार मान भी लें तो भी 'गोपोतलिका' को किसी भी

प्रकार 'गो' का 'ध्वनि-विकार' नहीं कहा जा सकता। ये शब्द तत्कालीन विभाषाओं के होने चाहिए। इनमें से कुछ शब्द श्वेताम्बर जैनग्रन्थों की अर्धमागधी में भी मिल जाते हैं तथा कुछ को प्राकृत वैयाकरण चण्ड एवं हेमचन्द्र ने 'महाराष्ट्री' के शब्द कहा है। इससे स्पष्ट है कि महाभाष्यकार ने 'अपभ्रंश' का प्रयोग किसी भाषा के अर्थ में नहीं किया है, अपितु, 'अपाणिनीय शब्द' (असाधु शब्द) के अर्थ में किया है।

१०६. ईसा की छठी शताब्दी में प्राकृत वैयाकरण 'चण्ड' ने अपने ग्रंथ 'प्राकृत लक्षणम्' (३।३७) में 'अपभ्रंश' शब्द का प्रयोग 'भाषा' के अर्थ में किया है। इसी शती में वलभीनरेश द्वितीय धरसेन को एक ताम्रपत्र में 'संस्कृतप्राकृतापभ्रंश भाषात्रय-प्रतिवद्ध प्रवन्धरचना निपुणान्तः करण' कहा गया है। आचार्य भामह नेअ पने 'काव्यालङ्कार' में 'संस्कृत' और 'प्राकृत' के साथ ही 'अपभ्रंश' को भी रखा है ('संस्कृत प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इतित्रिधा' काव्यालङ्कार १।२६)। आचार्य दण्डी ने 'काव्यादर्श' में 'अपभ्रंश' को 'आभीरादिगिरः' (आभीरादि की भाषा) कहा है। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि ईसा की छठीं शताब्दी तक 'अपभ्रंश' शब्द किसी भाषा के लिये प्रयुक्त होने लगा था और यह भाषा आभीर आदि जातियों में वोली जाती थी।

१०७. ईसा की नवीं शती में आचार्य रुद्रट ने 'संस्कृत' एवं 'प्राकृत' के साथ 'अपभ्रंश' का उल्लेख करते हुए देशभेद से इसके अनेक भेद कहे हैं जिससे 'अपभ्रंश' के विस्तार का पता चलता है। ईसा की ११वीं शती में प्राकृत वैयाकरण पुरुषोत्तम ने 'अपभ्रंश' को शिष्टवर्ग की भाषा स्वीकार किया और १२वीं शती में आचार्य हेमचन्द्र ने 'अपभ्रंश' का व्याकरण लिखा। इसप्रकार ईसा पूर्व द्वितीय शतीं से 'अपभ्रंश' शब्द का प्रयोग विभिन्न विभिन्न कालों में 'अपशब्द', 'विभाषा' 'लोकभाषा' 'शिष्ट' एवं 'साहित्यिक-भाषा' के अर्थों में किया गया।

अपभ्रंश-काल

१०८. 'अपभ्रंश' के सबसे प्राचीन उदाहरण भरत के 'नाट्यशास्त्र' (३००ई०) में मिलते हैं। भरत ने 'आभीरोक्ति' का उल्लेख किया है और इसको उकारबहुला बताकर इसके कुछ उदाहरण भी दिये हैं; यथा—'मोरुल्लउ', 'नच्चनउ' इत्यादि। दण्डी के इस कथन से कि काव्य में 'आभीरादि की भाषा 'अपभ्रंश' कही जाती है, यह अनुमान लग जाता है कि भरत की उकारबहुला 'आभीरोक्ति' ही 'अपभ्रंश' रही होगी और भरत ने जो उदाहरण इस उकारबहुला 'आभीरोक्ति' के दिये हैं; उनमें णेइ, गिच, जोण्हउं आदि शब्द भी हैं ठेठ अपभ्रंश के। परन्तु, भरत के इन उदाहरणों में प्राकृतप्रभाव इतना अधिक है कि इन्हें विशुद्ध अपभ्रंश के उदाहरण नहीं माना जा सकता है। हाँ, अपभ्रंश की जन्मदात्री प्रवृत्तियां के बीज यहाँ देखे जा सकते हैं।

१०९. महाकवि कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' नाटक के चतुर्थ अंक में 'अपभ्रंश' के कुछ दोहे मिलते हैं किन्तु इनकी प्रामाणिकता के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। याकोबी, एस० पी० पण्डित आदि इनको प्रक्षिप्त मानते हैं; परन्तु डॉ० एन० एन० उपाध्ये एवं ग० वा० तगारे इनको प्रामाणिक मानते हैं। यदि ये पद्य प्रामाणिक मान लिये जायें तो 'अपभ्रंश' का प्रारंभकाल ईसा की पाँचवीं शती में माना जा सकता है किन्तु इन विवादास्पद पद्यों को लेकर कोई निश्चय करना उचित न होगा।

११०. ईसा की छठीं शती में वलभीनरेश धरसेन के ताम्रपत्र के उल्लेख एवं संस्कृतालङ्कारिकों के कथनों से स्पष्ट है कि उस समय तक 'अपभ्रंश' जनभाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी तथा उसमें साहित्य रचना की ओर भी विद्वानों की प्रवृत्ति होने लगी थी। इससे 'अपभ्रंश' का प्रारंभ निश्चयेन ६०० ई० कहा जा सकता है। ईसा की छठीं शती से 'अपभ्रंश' में काव्यरचनाएँ प्राप्त होने लगीं और पन्द्रहवीं-सोलहवीं शती तक होती रहीं। परन्तु, ईसा की बारहवीं-तेरहवीं शती तक 'अपभ्रंश' 'लोकभाषा' न होकर 'साहित्यिकभाषा' बन गयी थी। आचार्य हेमचन्द्र (१२वीं शती) ने 'अपभ्रंश' और 'ग्राम्यभाषा' में भेद किया है। इससे स्पष्ट है कि उनके समय तक 'अपभ्रंश' बोल-चाल की भाषा न रह गयी थी। हेमचन्द्र का 'अपभ्रंशव्याकरण' लिखना ही यह सिद्ध करता है कि उनके समय तक बोल-चाल की भाषा 'अपभ्रंश' को छोड़कर आगे बढ़ चली थी। ईसा की १३वीं शती से तो आधुनिक आर्य-भाषाओं के प्रारम्भिक साहित्यिक ग्रन्थ मिलने लगते हैं। इसप्रकार बारहवीं शताब्दी तक ही अपभ्रंश का काल मानना समुचित होगा। अतः 'अपभ्रंशभाषा' म० भा० आ० भा० का अन्तिमचरण है और ५०० ई० से १२०० ई० तक यह 'लोकभाषा' के पद पर आसीन रही।

अपभ्रंश का विस्तार क्षेत्र

१११. भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में उकारबहुला भाषा का प्रयोग हिमवत्, सिन्धु, सौवीर और इनके आश्रित देशों के लोगों के लिये करने का आदेश दिया है। इससे विदित होता है कि भरत के समय तक, भाषा में, अपभ्रंश की विशेषताएँ भारत के उत्तर-पश्चिम प्रदेशों में प्रकट हुई थीं। ईसा की १०वीं शती में राजशेखर ने अपने ग्रन्थ 'काव्यमीमांसा' में अपभ्रंश का विस्तार क्षेत्र सकल मरुभूमि, टक्क और भादानक बताया है। 'मरुभूमि' से राजशेखर का तात्पर्य राजस्थान से ही रहा होगा। 'टक्क-प्रदेश' की स्थिति विद्वानों ने विपाशा और सिन्धु के बीच मानी है। 'भादानक' की स्थिति के विषय में विद्वानों में मतभेद है। 'टक्क' के साथ इसका उल्लेख होने

से विद्वानों ने अनुमान किया है कि यह भी उसके आस-पास का ही कोई प्रदेश रहा होगा। एन० एल्० दे महाशय 'भादानक' को भागलपुर से ६ मील दक्षिण में स्थित 'भदरिया' स्थान बताते हैं। परन्तु; 'भादानक' की स्थिति पश्चिमोत्तर भारत में ही अधिक उचित जान पड़ती है। इसप्रकार राजशेखर के समय तक 'अपभ्रंश' का विस्तार राजस्थान से पंजाब तक हो चुका था। पंजाब का जो साहित्य आज उपलब्ध है उसका रचना-स्थान राजस्थान, गुजरात, पश्चिमोत्तर भारत, बुन्देलखण्ड, बंगाल और दक्षिण में धान्यरखेट तक विस्तृत प्रतीत होता है। इससे विदित होता है कि ११वीं शती तक अपभ्रंश का प्रसार समस्त उत्तर भारत और दक्षिग में भी हो गया था। 'अपभ्रंश' इस विस्तृतप्रदेश की जनभाषा थी, यह तो निश्चयेन नहीं कहा जा सकता, परन्तु, इन प्रदेशों की भाषाओं पर 'अपभ्रंश' का और 'अपभ्रंश' पर इन प्रदेशों की भाषाओं का प्रभाव अवश्य पड़ा होगा, यह असंदिग्ध है।

अपभ्रंश की विभाषाएँ

११२. अपभ्रंश का जो साहित्य मिलता है, उसमें भाषागत भेद बहुत कम हैं। यह समस्त साहित्य एक ही परिनिष्ठित भाषा का है। परन्तु वैयाकरणों ने और विशेषतः उत्तरवर्ती वैयाकरणों ने 'अपभ्रंश' के, देशभेद से, अनेक भेद बताए हैं। ११वीं शती में नामिसाधु ने 'अपभ्रंश' के तीन भेद बताए हैं—'उपनागर' 'आभीर' और 'ग्राम्य'। परवर्ती वैयाकरणों ने इन्हीं तीन भेदों को 'नागर', 'उपनागर' और 'ब्राचड्' संज्ञा दी। १७वीं शताब्दी में मारकण्डेय ने 'अपभ्रंश' के २७ भेद बताए। वास्तव में एक भाषा की कई विभाषाएँ होना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। स्थानीय प्रभाव के कारण भाषा का रूप विभिन्न स्थानों पर कुछ न कुछ भिन्न होता ही है। अतएव 'अपभ्रंश' के भी देशगत अनेक भेद रहे होंगे। परन्तु 'अपभ्रंश-साहित्य' का विकास राजस्थान, मालवा तथा गुजरात में हुआ। अतएव इस प्रदेश की 'अपभ्रंश' तत्कालीन साहित्यिकभाषा बन गई और बंगाल तथा दक्षिण तक में इस भाषा में साहित्य-रचना हुई। यही कारण है कि 'अपभ्रंश-साहित्य' में एक ही परिनिष्ठित अपभ्रंश मिलती है, परन्तु उसमें स्थानीय रूपों की झलक कुछ न कुछ मिल ही जाती है।

अपभ्रंश और आभीर

११३. 'अपभ्रंश' के साथ 'आभीर जाति' का सम्बन्ध जोड़ा जाता है। अतः 'अपभ्रंश' के विकास एवं प्रसार को समझने के लिये इस जाति के इतिहास पर दृष्टिपात करना बहुत सहायक होगा।

११४. 'आभीरजाति' का सर्वप्रथम उल्लेख 'महाभारत' में मिलता है। 'महाभारत' में एक स्थान पर उनको सिन्धु के पश्चिम में रहने वाली जाति कहा गया है, दूसरे स्थान में उनको द्रोण के 'सुपर्णव्यूह' में योद्धाओं की पंक्ति में रखा गया है; तीसरे स्थल पर उनके द्वारा पञ्चनद में द्वारका से कृष्ण की विधवाओं को लेकर लौटते हुए अर्जुन पर आक्रमण करते हुए बताया गया है और चौथे स्थल पर उनका उल्लेख राजसूययज्ञ में हुआ है। जहाँ वे क्षूद्र बताए गये हैं। महाभारत के इन उल्लेखों से इतना स्पष्ट है कि आभीरजाति ईसवीय सन् के आस-पास की शती में पश्चिमोत्तर भारत में बस गई थी।

११५. काठियावाड़ में 'सुन्द' नामक स्थान में रुद्रदामन का एक अभिलेख मिला है। इसका समय प्रायः १९१ ई० माना जाता है। इसमें आभीर सेनापति रुद्रभूति के दान का उल्लेख है। एन्थोवेन के नासिक अभिलेख (३०० ई०) में ईश्वरसेन नामक आभीरनरेश की ओर संकेत किया गया है। समुद्रगुप्त के प्रयाग-स्तम्भलेख में (३६० ई०) आभीरों का आधिपत्य गुप्तसाम्राज्य की सीमा पर मालवा, गुजरात, राजस्थान आदि में बताया गया है। इन अभिलेखों से आभीरों के प्रसार एवं सीमा-विस्तार का पता चलता है। धीरे-धीरे यह जाति मध्यभारत एवं पूर्वी प्रदेशों में भी फैल गई और इसका प्रभुत्व भी बढ़ता गया। इसमें उच्चवर्ग के लोग क्षत्रिय-वैश्यवर्ग में मिला लिये गये और शेष वर्ग को शूद्रों में स्थान मिला। 'अपभ्रंश' के साथ गुर्जर जाति का भी सम्बन्ध जोड़ा जाता है। भोज ने गुर्जरों के लिये लिखा है कि वे 'अपभ्रंश' से ही तुष्ट होते हैं। 'गुर्जरों' का सम्बन्ध इतिहासवेत्ता 'आभीर' से जोड़ते हैं। संभवतः 'गुर्जर' भी 'आभीरजाति' की कोई शाखा रही होगी।

११६. गुर्जर, आभीर आदि जातियों के संपर्क से भाषा में नवीन परिवर्तन आना स्वाभाविक ही था। इन जातियों के प्रसार के साथ-साथ अपभ्रंश का प्रसार भी बढ़ने लगा। म०भा०आ० भाषा 'प्राकृत' की स्थिति त्यागकर 'अपभ्रंश' की ओर बढ़ी।

अपभ्रंश एवं प्राकृत

११७. अपभ्रंश की प्राकृत से भिन्न अपनी विशेषताएँ ये बताई जा सकती हैं :—

(i) (१) शब्दरूपों में अत्यधिक सरलता—लिङ्ग भेद मिटाकर अपभ्रंश ने शब्दरूपों को बहुत सरल कर दिया। अपभ्रंश में नपुंसक लिङ्ग के अलग शब्द रूप नहीं हैं और स्त्रीलिंग के भी बहुत कम। अतः पुंलिङ्ग रूपों का प्राधान्य स्थापित हो गया। शब्दरूप की दृष्टि से अपभ्रंश में तीन कारक समूह रह गये—कर्तृ-कर्म-संबोधन समूह, करण-अधिकरण-समूह तथा सम्प्रदान-अपादान-सम्बन्ध-समूह। इनमें भी द्वितीय एवं
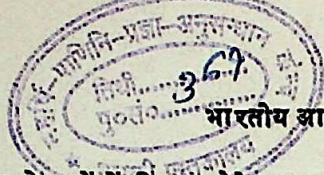
तृतीय समूह के रूपों में मिश्रण होने लगा। इन परिवर्तनों के कारण शब्दरूप बहुत सरल एवं अल्प हो गये।

११७. (ii) (२) धातुरूपों में सरलता—अपभ्रंश ने तिङन्तरूपों का प्रयोग सीमित कर कृदन्तरूपों का व्यवहार बढ़ाया। इससे कालरचना का जाटिल्य एवं दौरूध्य समाप्त हो गया।

११७. (iii) (३) परसर्गों का प्रयोग—विभक्तियों के घिस जाने तथा लुप्त विभक्तिपदों के कारण वाक्य में अस्पष्टता आने लगी। इसको दूर करने के लिये अपभ्रंश ने परसर्गों का प्रयोग किया।

११७. (iv) (४) शब्दकोष का विस्तार—अपभ्रंश ने देशजशब्दों एवं धातुओं को अधिकाधिक अपनाया तथा तद्भव शब्दों के भी प्रचलित रूपों का प्रयोग किया। इससे 'अपभ्रंश' प्राकृतादि से बहुत भिन्न प्रतीत होने लगी।

११८. 'अपभ्रंश' में हमें उन प्रवृत्तियों का भी प्रारंभीकरण मिल जाता है जिनसे आगे चलकर 'हिन्दी' विकसित हुई। शब्द एवं धातुरूपों में नये-नये प्रयोग कर 'अपभ्रंश' ने हिन्दी तथा अन्य आधुनिक आर्यभाषाओं के विकास की आधार भूमि उपस्थित कर दी। 'अपभ्रंश' का साहित्यिक क्षेत्र भी प्रधानतया-मध्यदेश ही है, जो 'हिन्दी' का जन्मस्थान है। अतएव कुछ विद्वानों ने 'अपभ्रंश' को 'पुरानी-हिन्दी' कहना चाहा है। हिन्दी के विकास की पीठिका होने के कारण 'अपभ्रंश' के लिये साधारणतया 'पुरानीं-हिन्दी' शब्द का प्रयोग उचित ही जान पड़ता है।

संक्रान्तिकाल तथा आधुनिक भारतीयार्य भाषाओं का उदय

११९. अपभ्रंशकाल की समाप्ति और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के स्वरूपग्रहण के बीच का काल भारतीय आर्यभाषा के विकास क्रम में बहुत अस्पष्ट काल है। निश्चितरूपेण इसे निर्धारण कर सकने का अभीतक कोई असंदिग्ध साधन उपलब्ध नहीं है कि कथ्यभाषा के रूप में अपभ्रंश कब तक बनी रही और कब आ० भा०आ० भाषाएँ अपनी पृथक्-पृथक् विशेषताओं से पूर्ण होकर अस्तित्व में आईं। वस्तुतः कथ्यभाषाओं को बहुत बाद में साहित्यिकभाषा के रूप में व्यवहृत होने का सौभाग्य प्राप्त होता है और ऐसा हो जाने पर भी प्राचीनरूपों का उसमें सर्वथा परिहार नहीं होता; समस्त भारतीयवाङ्मय इसका प्रमाण है। अतः कथ्यभाषा के रूप में अपभ्रंश की स्थिति न होने पर भी बहुत समय तक अपभ्रंश में साहित्य रचना होती रही और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की प्राचीन रचनाओं में भी अपभ्रंशरूपों का व्यवहार होता रहा। परन्तु आचार्य हेमचन्द्र का 'अपभ्रंश व्याकरण' (१२वीं शताब्दी) लिखना

यह सिद्ध कर देता है कि उनके समय तक 'अपभ्रंश' साहित्यारूढ़ भाषा हो चुकी थी और कथ्यभाषा का स्वरूप इससे विकास की अगली सीढ़ी की ओर अग्रसर हो चुका था। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने ग्रन्थ 'काव्यानुशासन' में 'ग्राम्यापभ्रंश' का उल्लेख किया है। संभवतः इससे आचार्य हेमचन्द्र का तात्पर्य कथ्यभाषा से ही रहा हो। आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में ईसा की १६वीं शताब्दी से रचनाएँ उपलब्ध होने लगती हैं। भाषा का जो स्वरूप इन प्रारंभिक रचनाओं में मिलता है, वह अपभ्रंश की विशेषताओं से मुक्त एवं आ० भा० आ० भाषाओं की विशेषताओं से युक्त है। परन्तु, भाषा के इस स्वरूप का साहित्यरचना के लिये स्वीकृत होना प्रकट करता है कि भाषा का यह स्वरूप इन साहित्यिक रचनाओं के समय से बहुत पूर्व ही अस्तित्व प्राप्त कर चुका था और लोक में प्रतिष्ठित हो चुका था; अन्यथा, साहित्यिक स्थान इसे न मिला होता। इस दृष्टि से विचार करने पर आ० भा० आ० भाषाओं की स्वरूप प्राप्ति का समय इन रचनाओं से एक शती पूर्व अनुमानित किया जा सकता है। इस प्रकार १५वीं शती तक आ० आ० भा० भाषाएँ आधुनिककाल में पदार्पण कर चुकी थीं और आचार्य हेमचन्द्र के पश्चात् १३वीं शती के प्रारम्भ से ही आ० भा० आ० भाषाओं के अभ्युदय के समय १५वीं शती के पूर्व तक का काल संक्रान्तिकाल था जिसमें भारतीय आर्यभाषा धीरे-धीरे अपभ्रंश की स्थिति को त्यागकर आधुनिककाल की विशेषताओं से युक्त होती जा रही थी।

१२०. संक्रान्तिकालीन भाषा के अध्ययन के लिये अभी तक बहुत कम सामग्री उपलब्ध हो सकी है और जिन थोड़ी सी कृतियों में इस काल की कथ्यभाषा के अध्ययन की सामग्री मिलती है, उन पर साहित्यिक अपभ्रंश (शौरसेनी-अपभ्रंश) का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में अभिलक्षित होता है, जिससे उनको तत्कालीन अभिजित कथ्य-भाषा की रचनाएँ नहीं कहा जा सकता। तथापि, इन ग्रन्थों में संक्रान्तिकाल की अस्थिरता की प्राचीनता के साथ नवीनता की ओर उन्मुख होने के लक्षणों के दर्शन हो ही जाते हैं। भारतीय-इतिहास के इस काल में भी मध्यदेश के राजाओं का प्रभुत्व अखिल उत्तरापथ में बना रहा। अतः उनकी राजसभाओं में आदृत मध्यदेशीय अपभ्रंश, (शौरसेनी-अपभ्रंश) अन्य प्रान्तों में भी संस्कृत वर्ग की भाषा के रूप में समादर प्राप्त करती रही तथा इसकी छाया प्राच्यदेशों एवं दक्षिण में महाराष्ट्र की ओर भी इस काल में देशीभाषा में रचित साहित्य पर पर्याप्तरूपेण पड़ती रही। इसीलिये इन रचनाओं में भाषा के प्रान्तीय स्वरूप का पूर्णतः निखार नहीं मिलता, केवल विशेष प्रवृत्तियों के ही दर्शन होते हैं।

१२१. वस्तुतः सूक्ष्म अध्ययन करने पर 'संदेशरासक' ('संनेहपरासय'—अब्दुल-रहमान), 'प्राकृतपैंगलम्' एवं 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' के कुछ पद्यों में उत्तर-पश्चिम की; —'उक्तिव्यक्ति प्रकरणम्' में कोशल प्रदेश (आधुनिक अवधी क्षेत्र) की तथा 'प्राकृत

पैंगलम्' के कुछ पद्यों, 'वर्णरत्नाकर' 'कीतिलता' तथा चर्यापदों' में प्राच्यप्रदेश की और—'ज्ञानेश्वरी' संतज्ञानेश्वर की कृति में महाराष्ट्रप्रदेश की संक्रान्तिकालीन भाषा की प्रवृत्तियों का परिचय मिलता है।

१२२. ईसा की १५वीं शती तक भारतीय आर्यभाषा आधुनिककाल में पदार्पण कर चुकी थी। पैशाची, शौरसेनी, महाराष्ट्री एवं मागधी अपभ्रंश भाषाओं ने क्रमशः आधुनिक सिन्धी, पंजाबी, हिन्दी (ब्रजभाषा, खड़ी बोली इत्यादि), राजस्थानी, गुजराती, मराठी, पूर्वी हिन्दी (अवधी इत्यादि), बिहारी, बंगला, उड़िया भाषाओं को जन्म दिया। प्राचीन भारतीय आर्यभाषा में परिवर्तन एवं ह्रास की जो क्रिया मध्य-काल के प्रारम्भ (लगभग ६०० ई० पू०) में चल पड़ी थी, वह आधुनिक भाषाओं के रूप में पूर्ण हुई। प्रारंभ से ही हम देखते आये हैं कि परिवर्तन की गति आर्यावर्त के पूर्वी भाग में सर्वाधिक तीव्र रही है। इसके विपरीत उत्तर-पश्चिमी प्रदेश में परिवर्तन की गति बहुत शिथिल रही है और वहाँ भाषा का स्वरूप बहुत धीरे-धीरे बदला है। मध्यदेश में जहाँ नवीन परिवर्तनों को प्रश्रय मिला; वहाँ प्राचीनरूप भी भाषा में सुरक्षित रहे। यही तथ्य आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में भी परिलक्षित होता है। सिंधी-पंजाबी में आर्यभाषा का मध्यकालीन स्वरूप बहुत सुरक्षित है। परन्तु, प्राच्यभाषा बिहारी-बंगला में मध्यकालीन आर्यभाषा का स्वरूप बहुत परिवर्तन हो गया है; गुजराती प्राचीनव्याकरण को बहुत अपनाये हुए है और हिन्दी भी वर्णों के उच्चारण आदि में संस्कृत से अधिक दूर नहीं है।

१२३. मध्यभारतीय आर्यभाषा के प्रारंभकाल से ही प्रकृति-प्रत्यय का ज्ञान धुंधला होने लगा था जिससे स्वरों के मात्राकाल में अनेक परिवर्तन हुए। नवीन आर्यभाषा की प्राचीन आर्यभाषा से तुलना करने पर स्पष्ट विदित होता है कि व्युत्पत्ति के लोप हो जाने से नवीन आर्यभाषा में स्वरों के मात्राकाल में बहुत परिवर्तन हो गया है। बलात्मक स्वराधात के परिणामस्वरूप प्रायः नवीन भारतीय आर्यभाषाओं में स्वरों का लोप देखा जाता है। शब्द की उपधा में बलात्मक स्वराधात होने पर अन्तिम दीर्घस्वर ह्रस्व हो जाता है; यथा—कीरत् <कीर्ति; रास् > राशि। शब्द के आदि स्वर का लोप भी बलात्मक स्वराघात का परिणाम है; यथा—अभ्यन्तर > हिं 'भीतर', मराठी 'भीतरी'; अरघट्ट > हिं रहट, (प्रा० अरहट्ट)।

१२४. (i) स्वरों एवं व्यंजनों के उच्चारण में भी किन्हीं आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में नवीनता लक्षित होती है। बंगला में 'अ' लुंठित निम्न-मध्यपश्च स्वर है। मराठी में 'च', 'ज्' का उच्चारण 'त्स्', 'द्ज्' हो गया है। पश्चिमी हिन्दी एवं राजस्थानी में 'ऐ', 'औ' अग्र एवं पश्च-निम्न-मध्य-ध्वनियाँ हैं। आधुनिक आर्य-भाषाओं में परिवर्तन की गति निम्नलिखित रूप में रही है :—

१२४. (ii) (१) प्राकृत के समीकृत संयुक्तव्यंजनों 'क्क', 'क्ख', 'ग्ग' 'ग्घ' इत्यादि में से मात्र एक व्यञ्जन ध्वनि लेकर पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर को दीर्घ करना पंजावी-सिन्धी के अतिरिक्त प्रायः सभी नवीन भारतीय आर्यभाषाओं में दिखाई देता है; यथा—कर्म>प्रा० 'कम्म'>हि० 'काम' (पं० 'कम्म'); अद्य>प्रा० 'अज्ज'>हि० 'आज' (पं० 'अज्ज'); अष्ट>प्रा० 'अट्ठ'>हि० 'आठ' (पं० 'अट्ठ')।

१२४. (iii) (२) नासिक्यव्यंजन+व्यंजन में नासिक्यव्यञ्जनध्वनि क्षीण होते-होते लुप्त हो गयी और पूर्ववर्तीस्वर सानुनासिक हो गया। सिंधी-पंजावी इस परिवर्तन से भी प्रायः मुक्त हैं। यथा—दन्त दाँत (हिन्दी), पंजावी 'दन्द'; कण्टक> प्रा० कण्टअ>हि, काँटा (सिन्धी 'कंडो', पंजावी 'कंडा'); कम्प—हिन्दी 'काँप' (सिन्धी-पंजावी 'कम्ब')।

१२४. (iv) (३) अग्रपश्चात् स्वर ध्वनि युक्त 'ड', 'ढ' अधिकांश नवीन भारतीय आर्यभाषाओं में ताडित 'ड़', 'ढ़' अथवा कम्पित 'र्', 'र्ह' में परिणत हो गये हैं; यथा—दण्ड>प्रा० दण्ड>हि० 'दाँड़', 'डाँड़ आदि।

१२४. (v) (४) पदान्त अथवा पदमध्यवर्ती 'इ'(ई)+'अ' एवं 'उ'(ऊ)+ 'अ' क्रमशः 'ई' तथा 'उ'(ऊ)में परिणत हो गये हैं; यथा—घृत>प्रा० 'घिअ'>आ० भा० 'घी'; मृत्तिका>प्रा० 'मट्टिआ>आ० भा० माट्टी (हि० 'माटी'); वत्सरूप> प्रा० 'वच्छरूअ'>भो० पु० 'बछरू', वं० 'वाछुर', हि० 'बछड़ा'।

१२४. (vi) (५) ध्वनि-परिवर्तन के साथ-साथ आधुनिक आर्यभाषाओं में लिङ्ग-परिवर्तन भी द्रष्टव्य है। संस्कृत, पालि तथा प्राकृत में तीन लिङ्ग—पुंलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसक लिङ्ग थे; किन्तु आधुनिक भाषाओं में पदान्तस्वरध्वनि में विकार उत्पन्न हो जाने के कारण अथवा उनका लोप हो जाने के कारण केवल दो लिङ्ग—पुंल्लिङ्ग एवं स्त्रीलिङ्ग रह गये। आधुनिक आर्यभाषाओं में गुजराती एवं मराठी में आज भी नपुंसक लिङ्ग का अस्तित्व कुछ न कुछ वर्तमान है। सिंहली में प्राणिवाची एवं अप्राणिवाची शब्दों को लेकर प्राणवान् एवं प्राणहीन दो ही लिङ्ग हैं। अन्य आर्यभाषाओं में जहाँ दो ही लिङ्ग-पुंलिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग मिलते हैं वहाँ भी संस्कृत के पुंल्लिङ्ग एवं स्त्रीलिङ्ग का अनुगमन नहीं किया गया है। ध्वनिविपर्यय अथवा अज्ञान के फलस्वरूप संस्कृत के अनेक पुंल्लिङ्ग एवं नपुंसक लिङ्ग शब्द आधुनिक भाषाओं में स्त्रीलिङ्ग में परिवर्तित हो गये हैं। यथा—

	संस्कृत	आधुनिकभाषा
पुं०	अग्नि	स्त्री०*अग्निका, स्त्री० आग (हिन्दी) आगि (प्राचीन बंगला एवं भोजपुरी), अग्ग (पंजाबी)।

पुं०	इक्षु", उक्षु	स्त्री० ईख, ऊख (हिन्दी), ऊस (गुजराती), पु० ऊस (मराठी), इक्ख (पंजाबी)।
पुं०	देह	स्त्री० देह (हिन्दी, पंजाबी, गुजराती) पुं० देह (मराठी)।
नपुं०	दधि	स्त्री० दही (बिहारी), ड्ही (सिन्धी), पुं० दही (हिन्दी), दहीं (पंजाबी), नपुं० दहीं (मराठी, गुजराती)।

१२४. (vii) (६) पदान्त में ध्वनिपरिवर्तन के परिणामस्वरूप शब्द के रूप के कतिपय चिह्न, जो अपभ्रंश में शेष थे, उनका भी आधुनिकभाषाओं में लोप हो गया। एक-दो छोड़कर संस्कृत की विभक्तियाँ भी लुप्त हो गयीं। इसीप्रकार कई कारकों का भी लोप हो गया और उनके अर्थ को सुस्पष्ट करने के लिये अनुसर्गों अथवा परसर्गों का प्रयोग होने लगा। यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो आधुनिक भाषाओं में मात्र दो ही कारक रह गये हैं—(१) कर्ता अथवा (Direct) कारक, (२) तिर्यक् अथवा (Oblique) कारक। इनमें संस्कृत के प्रथमा एवं द्वितीया विभक्ति युक्त पद प्रधानकारक (Direct) तथा षष्ठी एवं सप्तमी विभक्तियुक्त पद अप्रधानकारक (Oblique) के अन्तर्गत आयेंगे। आधुनिक आर्यभाषाओं में वस्तुतः अप्रधानकारक (Oblique) में ही अनुसर्ग अथवा परसर्ग का प्रयोग होता है।

१२५. सिन्धी, मराठी तथा पश्चिमी हिन्दी को छोड़कर अन्य आधुनिक-भाषाओं में कर्तृकारक के एकवचन तथा बहुवचन के रूप एक ही हो गये हैं जिसका एक परिणाम यह हुआ कि इन भाषाओं में बहुवचनवाचक शब्द अथवा षष्ठी विभक्ति से प्रसूत अनुसर्ग या परसर्ग के योग से बहुवचन के रूप बनाये जाते हैं। यथा—बंगला 'लोकेरा' <लोक-कार्य; उड़िया 'पुरुष-माने' <पुरुष-माणक; असमिया 'बीर' <बहुल; हेंन्त <सन्त; मैथिली 'लोकनि', भोजपुरी 'लोगनि' <लोकानाम्; घोड़वन <घोटकानाम् इत्यादि।

१२६. सिन्धी, मराठी तथा पश्चिमी हिन्दी में कर्तृकारक बहुवचन के कई रूप आज भी उपलब्ध हैं; यथा—

एक वचन	बहुवचन
सिन्धी 'पिउ' (<पिता)	पिउर (<पितरः)
'डेह' (<देश)	डेह (<देशाः)
मराठी 'माल' (<माला)	माला (<मालाः)
'रात' (<रात्रि)	राती (<रात्रयः)
सूत (<सूत्रम्)	सूतें (<सूत्राणि)
प० हिन्दी बात (<वार्ता),	बातइं< (<वार्ताः) बातें

१२७. पश्चिमी हिन्दी में अकारान्त संज्ञा के चार रूप ऐसे उपलब्ध हैं जिसका प्राचीन कारकरूपों से सम्बन्ध है। ये हैं—प्रथमा-एकवचन, तृतीया-बहुवचन, सप्तमी-एकवचन तथा षष्ठी-बहुवचन के रूप। इनमें तृतीया। बहुवचन का रूप तो कर्ता के बहुवचन में प्रयुक्त होता है। आधुनिक हिन्दी के कर्ता के बहुवचन का रूप 'घोड़े' वस्तुतः संस्कृत के तृतीया बहुवचन के रूप से निष्पन्न हुआ है। यथा—वै० सं० घोटकेभिः = हिन्दी-कर्तृ बहुवचन 'घोडहिं' > 'घोड़े'।

१२८. (i) 'घोड़े' शब्द तिर्यंक् अथवा अप्रधानकारकों के एकवचन में भी प्रयुक्त होता है किन्तु इसकी निष्पत्ति संस्कृत के अधिकरण के एकवचन के रूप से हुई है।

१२८. (ii) इसीप्रकार आधुनिक हिन्दी के तिर्यंक् बहुवचन के रूप 'घोड़ों' की उत्पत्ति संस्कृत के षष्ठी बहुवचन के रूप से ('घोटकानाम्' से) हुई है। हिन्दी की ग्रामीण बोलियों में 'घोड़न' अथवा 'घोड़ाँ' रूप भी मिलते हैं।

१२८. (iii) व्यञ्जनान्त शब्दों के रूप तो हिन्दी में और भी सरल और अल्प मात्रा में हो गये हैं; यथा—सं० प्रथमा ए० व० 'पुत्र' > हिन्दी 'पूत'; सं० प्र० बहु० 'पुत्राः' > हिन्दी 'पूत'; सं० ए० व० 'पुत्रे' > पूत; सं० षष्ठी एक० 'पुत्राणाम्' > हिन्दी 'पूतों'।

भीतरी तथा बाहरी उपशाखा

१२९. सन् १८८० ई० में आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के अध्ययन के आधार पर डॉ० ए० एफ० आर० हार्नले ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि भारत में आर्यों के कम से कम दो आक्रमण हुए। पूर्वागत आक्रमणकारी आर्य पंजाब में बस गये थे। इसके बाद आर्यों का दूसरा आक्रमण हुआ। मध्य-एशिया से चलकर आर्यों के इस दूसरे समूह ने काबुलनदी के मार्ग से गिलगित एवं चित्राल होते हुए मध्यदेश में प्रवेश किया। मध्यदेश की सीमा उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्य पर्वत, पश्चिम में सरहिन्द तथा पूरब गंगा-यमुना के संगम तक थी। इस दूसरे आक्रमण का परिणाम यह हुआ कि पूर्वागत आर्यों को तीन दिशाओं—पूर्व, दक्षिण तथा पश्चिम में फैलने के लिये बाध्य होना पड़ा। इन नवागत आर्यों ने ही वस्तुतः सरस्वती, यमुना तथा गङ्गा के तट पर यज्ञपरायण संस्कृति को पल्लवित किया। उन्हें मध्यदेश अथवा केन्द्र में होने के कारण 'केन्द्रीय' या 'भीतरी' (आभ्यन्तरीय) आर्य के नाम से अभिहित किया गया और चतुर्दिक प्रथित पूर्वागत आर्यों को 'बाहरी' कहा गया।

१३०. डॉ० हार्नले के उपर्युक्त सिद्धान्त का डॉ० ग्रियर्सन ने अपने भाषा-सम्बन्धी अन्वेषणों के आधार पर प्रथमतः 'लिंग्विस्टिक सर्वे' भाग १, खण्ड १, पृ० ११६ में तथा बाद में 'बुलेटिन ऑव द स्कूल ऑव ओरियंटल स्टडीज, लण्डन

इंस्टिट्यूशन', भाग १, खण्ड ३, १६२०, पृ० ३२ में समर्थन किया है। डॉ० ग्रियर्सन का दूसरा निबन्ध पहले की अपेक्षा विस्तृत और बड़ा है। इसमें आपने विविध आधुनिक भाषाओं से उदाहरण देकर अपने सिद्धान्त का समर्थन किया है। यद्यपि आर्यों के आक्रमण आदि के सम्बन्ध में ग्रियर्सन का हार्नले से मौलिक मतभेद है तथापि जहाँ तक भीतरी और बाहरी भाषाओं से सम्बन्ध है; दोनों विद्वानों का मत एक है। डॉ० ग्रियर्सन ने 'लिंग्विस्टिक सर्वे' भाग १, खण्ड १, पृ० १२० में आधुनिक आर्यभाषाओं का निम्नलिखित वर्गीकरण दिया है :—

[क] बाहरी उपशाखा

प्रथम—उत्तरी-पश्चिमी समुदाय

१. लहंदा अथवा पश्चिमी पंजाबी
२. सिन्धी

द्वितीय—दक्षिणी समुदाय

३. मराठी

तृतीय—पूर्वी समुदाय

४. उड़िया
५. बिहारी
६. बंगला
७. असमिया

[ख] मध्य उपशाखा

चतुर्थ—बीच का समुदाय

८. पूर्वी हिन्दी

[ग] भीतरी उपशाखा

पञ्चम—केन्द्रीय अथवा भीतरी समुदाय

९. पश्चिमी हिन्दी
१०. पंजाबी
११. गुजराती
१२. भीली
१३. खानदेशी
१४. राजस्थानी

षष्ठ—पहाड़ी समुदाय

१५. पूर्वी पहाड़ी अथवा नेपाली
१६. मध्य अथवा केन्द्रीय पहाड़ी
१७, पश्चिमी पहाड़ी

१३१. वास्तव में मध्यदेश को ही दृष्टि में रखकर ग्रियर्सन ने आधुनिक आर्यभाषाओं एवं बोलियों का विभाजन दो मुख्य उपशाखाओं में किया है। इनमें से एक उपशाखा की भाषा उस वृत्त के चौथाई भाग में प्रचलित है जो पाकिस्तान में स्थित हजारा जिले से प्रारम्भ होकर पश्चिमी पंजाब, सिन्ध, महाराष्ट्र, मध्यभारत, उड़ीसा, विहार, बंगाल तथा असम प्रदेश को स्पर्श करता है। गुजरात की भाषा को ग्रियर्सन ने केन्द्रीय अथवा भीतरी उपशाखा के अन्तर्गत ही रखा है क्योंकि वस्तुतः मध्यदेशस्थ माथुरों ने इस प्रदेश पर आधिपत्य किया था। इसप्रकार भौगोलिक दृष्टि से वाहर स्थित होते हुए भी गुजरात, भाषा की दृष्टि से भीतरी समूह के अन्तर्गत है।

१३२. वाहरी तथा भीतरी उपशाखा सम्वन्धी ऊपरी वर्गीकरण का आधार डॉ० ग्रियर्सन की धारणा में प्रायः इन दोनों उपशाखाओं में प्रचलित भाषाओं के व्याकरण की भिन्नता है।

१३३. प्रख्यात भाषाविज्ञानी डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने ग्रियर्सन के इस वर्गीकरण की आलोचना अपनी पुस्तक 'द ओरिजन एण्ड डेवलपमेण्ट ऑव बंगाली लैंग्वेज' के परिशिष्ट 'ए' के पृष्ठ १५०-१५६ में की है और इस आलोचना के साथ डॉ० चटर्जी ने भाषाजों की विकास-परम्परा को ध्यान में रखते हुए आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का निम्नलिखित वर्गीकरण किया है :—

[क] उदीच्य (उत्तरी)
- १. सिन्धी
- २. लहंदा
- ३. पूर्वी पंजावी

[ख] प्रतीच्य (पश्चिमी)
- ४. गुजराती
- ५. राजस्थानी

[ग] मध्यदेशीय
- ६. पश्चिमी हिन्दी

[घ] प्राच्य (पूर्वी)
- ७. (i) कोशली या पूर्वी हिन्दी, (ii) मागधी प्रसूत
- ८. विहारी
- ९. उड़िया
- १०. बंगला
- ११. असमिया

[ङ] दाक्षिणात्य (दक्षिणी)

१२. मराठी

१३४. कश्मीर की कश्मीरी भाषा की उत्पत्ति डॉ० चटर्जी 'दरदीयभाषा' से मानते हैं। इसीप्रकार पहाड़ी भाषाओं—पूर्वी पहाड़ी ('खसकुरा' अथवा 'नेपाली') मध्य पहाड़ी ('गढ़वाली' तथा 'कुमायूँनी') तथा पश्चिमी पहाड़ी (चमेआली, मण्डेआली, कुल्लूई, किउँठाली, सिरमौरी आदि) की उत्पत्ति वे 'खस' अथवा 'दरदीय' भाषा से मानते हैं। प्राकृत युग में राजस्थानी से ये पहाड़ी भाषाएँ अत्यधिक प्रभावित हुई हैं।

१३५. अब्राहम ग्रियर्सन का आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के सम्बन्ध में यह अन्तिम प्रलेख है जिसमें उन्होंने बाहरी और भीतरी उपशाखा की भाषाओं का वर्गीकरण एक नव्यप्रकार से किया है। यह इसप्रकार है :—

[क] मध्यदेश की भाषा

१. हिन्दी

[ख] मध्यवर्ती भाषाएँ

(अ) मध्यदेश की भाषा की निकटवर्ती तथा उससे सम्बन्धित—

२. पंजाबी

३. राजस्थानी

४. गुजराती

५. पूर्वी पहाड़ी (खसकुरा या नेपाली)

६. मध्य पहाड़ी

७. पश्चिमी पहाड़ी

(ब) अधिकांशतः बाहरी उपशाखा की भाषा से सम्बन्धित—

८. पूर्वी हिन्दी

[ग] बाहरी उपशाखा की भाषाएँ—

(अ) उत्तरी-पश्चिमी समूह

९. लहंदा

१०. सिन्धी

(ब) दक्षिणी भाषाएँ—

११. मराठी

(स) पूर्वी समूह—

१२. बिहारी

१३. उड़िया

१४. बंगला
१५. असमिया

१३६. इसप्रकार इस वर्गीकरण में उन्होंने सर्वप्रथम मध्यदेश की भाषा "हिन्दी' को, तदनन्तर मध्यदेश की निकटवर्तिनी भाषाओं—पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, पूर्वी पहाड़ी, मध्य पहाड़ी तथा पश्चिमी पहाड़ी को रखा है। एतत्पश्चात् पूर्वी 'हिन्दी' को बाहरी उपशाखा से सम्बन्धित बताया है। लहंदा, सिन्धी, मराठी तथा पूर्वी समूह की भाषाओं—बिहारी, उड़िया, बंगला, असमिया को भी इनके बाद रखा है। यहाँ यह उल्लेख्य है कि डॉ० चटर्जी के वर्गीकरण के उपरान्त भी ग्रियर्सन ने उनके वर्गीकरण को स्वीकार नहीं किया प्रत्युत अपने ही भीतरी एवं बाहरी वर्गीकरण से ही सम्पृक्त रहे। एक अन्य तथ्य यह भी है कि डॉ० चटर्जी के वर्गीकरण में भी प्राच्य अथवा पूर्वी भाषाएँ—कोशली हिन्दी या अवधी तथा मागधी प्रसूत—बिहारी, उड़िया, बंगला, असमिया आदि पृथक् ही हैं। ग्रियर्सन ने अपने इस अन्यतम प्रलेख में पूर्वी हिन्दी को यद्यपि बिहार तथा पश्चिमी हिन्दी के बीच का माना है किन्तु पूर्वी हिन्दी का झुकाव अधिकांशतः बाहरी उपशाखा की भाषा 'बिहारी' से माना है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि प्राचीन प्राकृत वैयाकरणों ने इसे 'अर्धमागधी' कहा न कि 'अर्धशौरसेनी'। इसप्रकार वे भी इससे सहमत रहे होंगे कि अर्धमागधी का झुकाव अधिकांशतः—'मागधी' की ओर ही है 'शौरसेनी' की ओर नहीं।

१३७. ग्रियर्सन ने स्पष्टतः इस मत का प्रतिपादन किया है कि 'पूर्वी हिन्दी'—'हिन्दी' नहीं हैं; मात्र 'पश्चिमी हिन्दी' को ही उन्होंने 'हिन्दी' स्वीकार किया है जिसकी सीमा कानपुर तक है। ग्रियर्सन की धारणा में इसका आधार वाक्यगत क्रिया का साम्य है न कि शब्द समूह का साम्य क्योंकि वाक्य में—'क्रिया' (आख्यात) ही साध्य होती है। अतएव अब तक जो लोग 'पूर्वी हिन्दी' को भी 'पश्चिमी हिन्दी' के साथ हिन्दी मानते रहे हैं, उन्हें ग्रियर्सन के इस वक्तव्य से थोड़ा धक्का लगेगा किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से ग्रियर्सन अपने-आप में सही हैं और इस बात को हमें स्वीकार कर लेना चाहिए। ब्रिटेन की परिनिष्ठित अंग्रेजी कुछ लोगों—ईटन-हैरो आक्सफर्ड, कैम्ब्रिज—की भाषा जब संसार के लिये प्रमाणस्वरूप हो सकती है तो सरहिन्द से लेकर कानपुर तक के विस्तृत क्षेत्र की भाषा को ही 'हिन्दी' स्वीकार करने में क्या आपत्ति हो सकती है? यहाँ एक बात और विचारणीय है कि आज हिन्दी के अन्तर्गत राजस्थान, उ० प्र०, म० प्र० तथा बिहार की गणना की जाती है। प्राचीनकाल में इस क्षेत्र की साहित्यिक भाषा 'ब्रजभाषा' भी पश्चिमी हिन्दी की एक प्रमुख भाषा रही है, जो इस क्षेत्र में स्वीकृत रही है। आज भी इन क्षेत्रों के लोगों ने 'हिन्दी' को अपनी शिक्षा-दीक्षा की भाषा स्वीकार कर रखा है

और यह स्वीकृति निरन्तर बनी रहेगी क्योंकि 'हिन्दी' का इन क्षेत्रों की भाषाओं से कोई वैमनस्य नहीं है। आज बाहरी उपशाखा की बिहार क्षेत्र की भाषाओं—मैथिली, अङ्गिका, वज्जीका, मगही और भोजपुरी में साहित्यिक रचना हो रही है। इसीप्रकार छत्तीसगढ़ी को भी साहित्य लेखन के लिये प्रयोग में लाया जा रहा है। परन्तु इन आंचलिक भाषाओं और हिन्दी में किसीप्रकार की प्रतिद्वन्दिता नहीं है प्रत्युत अपने साहित्य द्वारा ये हिन्दी के भाव-प्रकाश हेतु नये-नये शब्द दे रही हैं। वास्तव में 'हिन्दी' को विशाल भाषा बनाने के लिए इन भाषाओं के भावप्रवण शब्दों की आवश्यकता ही है। मैं आशा करता हूँ कि हिन्दी के लेखक एवं विचारक इन आंचलिक भाषाओं के साथ सामञ्जस्य स्थापित करेंगे, तभी 'हिन्दी' वास्तव में 'राष्ट्रभाषा' होगी।

१३८. इधर कुछ लोग हिन्दी का क्षेत्र बढ़ाने की दृष्टि से बिहारी भाषाओं को हिन्दीभाषा की उपभाषाएँ सिद्ध करने के प्रयत्न में व्यस्त हैं। वास्तविक स्थिति यह है कि ग्रियर्सन ने अतिपरिश्रम और पूर्ण विचार के उपरान्त अपना वर्गीकरण किया था। प्रथमतः हार्नले ने भोजपुरी को पूर्वी हिन्दी के अन्तर्गत रखा था किन्तु ग्रियर्सन के वर्गीकरण को उन्होंने भी मान लिया और मैथिली, मगही एवं भोजपुरी को बिहारी के अन्तर्गत ही रखना उचित और समीचीन समझा। पुनः अन्य किसी भाषाविज्ञानी ने इस वर्गीकरण में हस्तक्षेप करना उचित नहीं समझा।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि आज से लगभग सौ वर्ष पूर्व बिहारी भाषा के सम्बन्ध में ग्रियर्सन ने एक लेख लिखा था जिसका उल्लेख ग्रियर्सन के जीवनचरित में भाषा-विवाद के अन्तर्गत हो चुका है। उसे पाठकों का ध्यानाकर्षण करने के लिए पुनः यहाँ दोहराया जा रहा है। ग्रियर्सन ने राजनैतिक दृष्टि से नहीं अपितु शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से प्रेरित होकर १८८० ई० के कलकत्ता रिव्यू में 'ए प्ली फॉर पीपुलटंग' शीर्षक लेख लिखा था। इस लेख में ग्रियर्सन ने स्थानीय बोलियों का महत्त्व दर्शाया था। उनका कथन था कि हिन्दी न तो बिहार प्रान्त की भाषा है और न कभी भविष्य में हो सकती है। अतएव सौविध्य दृष्टि से यहाँ तीनों—मैथिली, मगही और भोजपुरी—में से किसी एक स्थानीय बोली को सरकारी न्यायालयों तथा स्कूली शिक्षा का माध्यम बना देना चाहिए। पुनश्च इन तीनों बोलियों को पूर्वी हिन्दी या हिन्दुई न कहकर 'बिहारी' नाम से अभिहित करना चाहिए।

१३९. भारतीयों को एक विदेशी प्रशासक द्वारा भाषागत अनैक्य की बात उठाना रुचिकर न लगा। तत्कालीन विद्वत्समाज ने इसे शासकों की राजनीतिक चाल समझी। अतः 'कलकत्ता रिव्यू पत्रिका के भाषामंच' से अनेक विद्वानों ने ग्रियर्सन के लेख पर अपना विरोध प्रकट किया। बाबू राधिकाप्रसन्न मुखर्जी ने एक के बाद एक-दो लेख लिख डाले।...उन्होंने यह कहा कि शिक्षा और सभ्यता के विकास तथा

प्रसार के साथ विहार में प्रचलित विभिन्न बोलियों की निजी विशेषताएँ शनैः-शनैः विलीन होकर हिन्दी के समीपतर आती जायेंगी।

डॉ० ग्रियर्सन ने बाबू राधिकाप्रसन्न मुखर्जी द्वारा प्रस्तुत तर्कों का 'बाँकीपुर' से (२७ जुलाई को) 'कलकत्ता रिव्यू १८८१' के माध्यम से हिन्दी तथा विहारी भाषाओं का तुलनात्मक रूप देकर खण्डन किया। उन्होंने कहा......जैसे कैम्ब्रियन जमींदार किसी विदेशी से फ्रेन्च में वार्तालाप करेगा तथा अपने परिवार में अंग्रेजी-भाषा का उपयोग करेगा वैसे ही विहारी जमींदार परदेशीय से हिन्दी तथा अपने प्रान्त-वासी से बिहारी बोली में बात करेगा। पुनश्च वैसे हिन्दी की ठेठ अमिश्रित या गँवारी और खड़ी स्टैण्डर्ड अथवा परिनिहित या नागरीभाषा ज्ञानभेद के आधार पर दो रूपों में मिलती है, वैसे ही विहार का दुःसाधवर्ग ठेठ (स्थानीय) और उच्चतर वर्ग खड़ी-बोली का उपयोग करता है। उनके अनुसार विद्वद्वर्ग की यह सन्धारणा निराधार है कि शिक्षितवर्ग ने हिन्दी को साहित्यिक एवं राजनैतिक स्तर पर स्वीकार कर लिया है।......इसके अतिरिक्त डॉ० ग्रियर्सन ने यह भी स्पष्ट किया कि उर्दू और हिन्दी दोनों भाषाओं में तो केवल शब्दकोश एवं लिपि का अन्तर है परन्तु पश्चिमी और पूर्वी हिन्दी में उद्भवस्थल, उच्चारण, व्याकरण, धातुरूप, क्रिया कृदन्तरूप तथा वाक्यरचना आदि सभी दृष्टियों से पर्याप्त भेद है। ये दोनों कभी सामान्य भाषा के स्तर पर आ नहीं सकेगी। इस सन्दर्भ में डॉ० हार्नले के व्याकरण का हवाला देते हुए उन्होंने यहाँ तक कह डाला कि जो कर्मचारी विहार प्रान्त के समस्त वर्गों के सामीप्य सम्बन्ध का आकांक्षी है, उसे शासित तथा शासक के मध्य हिन्दी साधक नहीं, बाधक प्रतीत होगी। फलतः भारत का कोई भी हितैषी यह कभी नहीं चाहेगा।

१४०. किन्तु देश का मनीषिवर्ग फिर भी डॉ० ग्रियर्सन के तर्कों में सद्-भावना नहीं देख पाया। बाबू श्यामाचरण गांगुली ने सन् १८८१ के कलकत्ता रिव्यू में प्रकाशित 'हिन्दी-हिन्दुस्तानी एण्ड द विहार डाइलेक्ट्स' शीर्षक लेख में बाबू राधिका-प्रसन्न मुखर्जी के वक्तव्य की सराहना करते हुए डॉ० ग्रियर्सन की उर्दू-हिन्दी में अन्तर उत्पन्न करने तथा पूर्वी हिन्दी को विहारी नाम देने पर, भर्त्सना की। उन्होंने कहा कि भोजपुरी, मैथिली या मागधी तीनों में से कोई भी बोली न्यायालयों की भाषा स्वीकार नहीं हो सकती। तात्पर्य यह कि विहारी बोलियों के अस्तित्व की घोषणा एवं स्थापना के अपराध में ग्रियर्सन पर चारों ओर से प्रहार होने लगे। परिणामतः उसी वर्ष के अगले अंक में उन्होंने अपने कथन की पुष्टि में एक लेख पुनः भेजा। इस बार परिशिष्ट में भी कतिपय विहारियों के वक्तव्य संलग्न थे। उल्लिखित प्रहारों से अपनी रक्षा करने के निमित्त उन्होंने जो तर्क प्रस्तुत किये वे संक्षेप में इसप्रकार हैं—

१४०. (i) (१) विहारी नाम डॉ० ग्रियर्सन ने नहीं अपितु 'इंगलिश मैन'

पत्र के सम्पादक ने सन् १८८१ ई० के वसन्त अंक के सम्पादकीय में सुझाया था। यही नाम डॉ० हार्नले ने पूर्वी हिन्दी की उपेक्षा अधिक उपयुक्त माना है। 'विहारी' नाम किसी साहित्यिक बोली का नहीं बल्कि उन बोलियों को दिया गया है जो बिहार प्रदेश में प्रचलित हैं तथा जिनमें स्थान-भेद से जनसाधारण अपने भावो को सदियों से वाणी देता आ रहा है। उन्होंने स्वीकार किया कि इनका सांस्कृतिक पक्ष नगण्य है और कोई परिनिष्ठित रूप भी उपलब्ध नहीं फिर भी उनके स्थानीय अस्तित्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

१४०. (ii) (२) डॉ० हार्नले का हवाला देते हुए डॉ० ग्रियर्सन ने मैथिली को वंगला की उपभाषा मानने से भी इनकार किया। उक्त कथन के समर्थन में वे चेट के "हिन्दी कोश" का उल्लेख करना नहीं भूले हैं।

१४०. (iii) (३) डॉ० ग्रियर्सन यह तो स्वीकार करते हैं कि बहुत सी भाषाएँ देश के लिए घातक होती हैं, किन्तु इस कारण किसी देश में प्रचलित बहु-भाषाओं के अस्तित्व का निषेध भी तो नहीं किया जा सकता। स्वयं उन्हीं के शब्दों में "कोई जाति या राष्ट्र संसद के अधिनियम के सहारे भाषा नहीं वदल सकता"। अतः सर्वप्रथम विहारी बोलियों के अस्तित्व को स्वीकार किया जाय और जब पंजाबी, गुजराती, मराठी, सिन्धी आदि 'हिन्दुस्तानों', को अंग बन जाय तब यह देखा जाय कि अद्यावधि असफल हिन्दुस्तानी के पाँव विहार में जमे या नहीं। इस अवधि में स्पष्ट हो जायेगा कि न्यायालय, स्कूल या सरकार की आत्मप्रवंचक नीति के बावजूद भी विहारी-बोलियाँ बनी हैं और भविष्य में भी बनी रहेंगी। उन्होंने सीधे आक्षेप करते हुए बाबू श्यामा चरणगांगुली से जिज्ञासा प्रकट की कि यदि वे हिन्दुस्तानी को "इम्पीरियल लैंग्वेज आफ इंडिया" बनाकर भी प्रान्तीय भाषाओं को सर्वथा बहिष्कृत करने के पक्ष में नहीं हैं तो बेचारी 'विहारी' भाषाओं ने ही क्या अपराध किया है।

१४१. परिशिष्ट में ग्रियर्सन ने सरकारी तथा गैर सरकारी दोनों वर्गों से अपने वक्तव्य के पक्ष में कतिपय अन्य नागरिकों के मत भी उद्धृत किये जो संक्षेप में इसप्रकार हैं :—

१४१. (i) (१) २६ नवम्वर १८८१ के 'विहार हेरल्ड' में किसी बिहार-निवासी ने 'उर्दू गाइड' में ग्रियर्सन पर किये गये आक्षेपों का उत्तर देते हुए कहा कि सरकारी काम-काज की भाषा न तो उर्दू होनी चाहिए और न हिन्दी। क्योंकि दोनों भाषायें बिहार की वर्तमान बोलियों की उपेक्षा करके चलेंगी।

१४१. (ii) (२) मुंगेर जिले के किसी शिक्षित जमींदार ने २१ फरवरी, सन् १८८२ के समाचार-पत्र में लिखा कि प्रत्येक बिहारीवासी अपनी मातृभाषा में बोलता है। वस्तुतः तिरहुत, मगह और भोजपुर आदि सब प्रदेश में भावाभिव्यक्ति के लिए स्थानीय बोली का व्यवहार करते हैं जो उर्दू से नितान्त भिन्न है।

१४१. (iii) (३) ग्रियर्सन द्वारा प्रस्तुत तीसरा उद्धरण शाहाबाद के मैथिली भाषी किसी सहायक मजिस्ट्रेट का था, जिसके अनुसार, चाहे वर्ग उच्च हो अथवा निम्न, वक्ता पुरुष हो अथवा स्त्री, प्रत्येक अपने प्रान्त की बोली—यानि भोजपुरी, तिरहुती या मगही—में बात करता है। बिहारी भाषाओं के समर्थकों ने यह भी कहा कि बचपन से उर्दू-फ़ारसी का निरन्तर अध्ययन करने वाली कायस्थ जाति तक दैनिक व्यवहार में अपने परिवार, बन्धु-बान्धवों और भृत्य-वर्ग के साथ मातृभाषा का उपयोग करती है। यही नहीं विवाहादि के निमन्त्रण भी अपवाद छोड़कर स्थानीय बोली में छापे जाते हैं। अन्त में, ग्रियर्सन ने तीन मागध पंडितों से इस विषय में जो प्रश्न किया वह भी उल्लेखनीय है। इन पंडितों से जब पूछा गया कि वे किस बोली में पत्र-व्यवहार करते हैं तब उत्तर मिला कि 'आगे हम सभनी मगही बोली में आपुस में चिट्ठी लिखहि और हिन्दी कबहीं केहू ना लिखि।' इस प्रकार उन्होंने सरकारी पदाधिकारी, जमींदार और अंग्रेजी भाषा न जानने वाले अनेक बिहारियों के कथनांश द्वारा सिद्ध कर दिया कि व्यक्तिगत क्षेत्र में सदा बिहार की ही किसी न किसी बोली का उपयोग किया जाता है।

१४२. ग्रियर्सन ने आज से सौ वर्ष पूर्व बिहारी भाषाओं को बिहार में प्रतिष्ठापित करने का प्रयत्न किया था तथा बिहार की भाषाओं में से किसी एक भाषा को प्रशासन की भाषा बनाने की वकालत की थी। ग्रियर्सन के निधन के भी बयालिस वर्ष व्यतीत हो गये। तब से बिहार की भाषाओं के सम्बन्ध में जो घटनायें घटित हुईं उनका लेखा-जोखा लेना आवश्यक है।

१४३. ग्रियर्सन का यह स्वप्न कि बिहार की कोई एक बोली प्रशासन के लिए स्वीकृत हो जायेगी, सम्पन्न नहीं हुआ; किन्तु ग्रियर्सन की यह भविष्यवाणी, कि बिहार की भाषा न तो उर्दू है और न हिन्दी; और बिहार में हिन्दी की जड़ कभी नहीं जम पायेगी, यह सर्वथा सत्य सिद्ध हुई। यों तो शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार के साथ अनेक माध्यमिक विद्यालय बिहार में खोले गये और लोगों ने उच्च शिक्षा के माध्यम के रूप में हिन्दी को ग्रहण किया, किन्तु अंग्रेजी तथा हिन्दी में उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति अपने घरों में केवल स्थानीय बोलियों—मैथिली, मगही, भोजपुरी—में बातें करते हैं। बिहारी भाषा बोलने वाले प्रायः परस्पर वार्तालाप में अपनी मातृ-भाषाओं के द्वारा ही अपने भावों का प्रकाशन करते है किन्तु जब उनके सामने कोई अन्य बोली बोलने वाला उपस्थित होता है तो उससे हिन्दी में बातें करते हैं। इधर महात्मा गाँधी के असहयोग आन्दोलन के कारण बिहारी बोलियों को अत्यधिक प्रोत्साहन मिला। ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध जो सभायें होतीं थीं, उसमें नेता लोग बड़ी सबल लोकभाषा में भाषण देते थे। इधर भारत का जब नवीन संविधान स्वीकृत हुआ तथा लोकसभा एवं विधान सभा का चुनाव होने लगा तबसे प्रायः लोगों ने अपनी

मातृभाषाओं का ही प्रयोग किया। इधर सरकार (बिहार) की ओर जब से मैथिली मगही एवं भोजपुरी एकेडमी की स्थापना हुई तब से दृश्य बिलकुल बदल गया। अब इन बोलियों के संवर्धन एवं उन्नति के लिए इनमें पुस्तकों का प्रकाशन होने लगा। पहले मैथिली का क्षेत्र बहुत विस्तृत था किन्तु उसमें दो नवीन बोलियाँ प्रादुर्भूत हो गयीं, इनमें एक है—अंगिका, और दूसरी है वज्जिका। इन बोलियों ने अपना अलग स्थान निर्धारित कर लिया है तथा इनमें साहित्य रचना होने लगी है।

१४४. यहाँ यह उल्लेखनीय है कि बिहार में राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति प्रेम है। किन्तु अपनी मातृभाषा के प्रति बिहार के लोगों का अतिशय प्रेम है। इधर तीस वर्षों के भीतर भोजपुरी में अनेक मासिक तथा पाक्षिक पत्रिकायें प्रकाशित हो रही हैं। इसके साथ ही साथ साहित्य की विविध विधाओं, कहानी, उपन्यास निबन्ध, कविता, खण्डकाव्य एवं महाकाव्यों की रचना भी होने लगी है। लोग खुलकर साहित्य रचना के लिए अपनी मातृभाषाओं का प्रयोग करने लगे हैं। उन्हें इस बात का बिलकुल पता नहीं है कि ग्रियर्सन ने आज से सौ वर्ष पूर्व बिहार में इन बोलियों को प्रतिष्ठापित करने का प्रयत्न किया था, किन्तु आज की भाषिक स्थिति ऐसी है जिसमें स्वयं इन बोलियों की प्रतिष्ठापना हो रही है।

१४५. अब यहाँ पूर्वी उत्तरप्रदेश के विश्वविद्यालयों की भाषिक स्थिति पर विचार किया जाता है। इनमें वरीयता की दृष्टि से इलाहाबाद तथा लखनऊ के विश्वविद्यालय आते हैं। इसके बाद काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी विद्यापीठ एवं संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय तथा गोरखपुर विश्वविद्यालय भोजपुरी क्षेत्र में आते हैं। इनमें छात्र परस्पर वार्तालाप में आंचलिक भाषा का प्रयोग करते है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अवधी क्षेत्र के छात्र अवधी भाषा में तथा अन्य क्षेत्रों से आगत छात्र अपनी मातृभाषा का व्यवहार करते हैं। यही हाल लखनऊ तथा अवध विश्वविद्यालय का भी है। पहले इलाहाबाद विश्वविद्यालय के छात्र या तो अंग्रेजी में या हिन्दी में अपने भावप्रकट करते थे किन्तु स्वतंत्रता के बाद भाषिक स्थिति बिलकुल बदल गयी है और छात्र प्रायः अपनी मातृभाषा का प्रयोग करते हैं।

१४६. उत्तरी पूर्वी प्रदेश की भाषिक स्थिति पर विचार करने के पश्चात् अब बिहार की स्थिति पर पुनर्विचार किया जाता है। ग्रियर्सन ने यह आशा प्रकट की थी कि कोई एक बिहारी बोली (बिहार की कोई एक बोली) प्रशासन की भाषा हो जायेगी किन्तु यह आशा सम्प्रति दुराशा में परिणत हो चुकी है। 'मैथिली' एवं 'मगही' दोनों की व्याकरणिक जटिलताएँ प्रसिद्ध हैं। ऐसी स्थिति में यहाँ की तीसरी बोली भोजपुरी का व्याकरण अपेक्षाकृत सरल एवं सुबोध है। इसप्रकार सुझाव के रूप में 'भोजपुरी' को प्रशासनिक भाषा बनाना उपयुक्त होगा किन्तु कोई

भाषा सरल होने से ही बहुसंख्यकों द्वारा स्वीकार्य नहीं हो सकती। मैथिली में १४वीं शताब्दी से ही गद्य रचना हो रही है और यह गद्य महालेखन का कार्य भी बहुत पहले से ही आरम्भ हो चुका था ओर सम्प्रति भी मैथिली विद्वान् निरन्तर मैथिली में ही साहित्य सृजन का कार्य करते जा रहे हैं। ऐसी दशा में 'भोजपुरी' बिहार की एकमात्र प्रशासनिक भाषा कैसे हो सकेगी ? इधर भोजपुरी में अत्यधिक मात्रा में गद्य लिखा जा रहा है, यही नहीं साहित्य की विविध विधाओं पर भी अत्यन्त मनोयोग पूर्वक साहित्य सृजन का कार्य सम्पन्न हो रहा है किन्तु इन पर प्राचीनता की मुहर नहीं है। मगही के गद्य तो और भी नव्य हैं। ऐसी स्थिति में बिहार की कोई एक प्रशासनिक भाषा का प्रश्न नहीं उठता और प्रशासन की भाषा राष्ट्रभाषा हिन्दी ही रहेगी। हाँ, बिहार की सम्पूर्ण जनता यदि किसी एक भाषा को प्रशासनिक भाषा मान लेती है तो यह सर्वथा समुचित हो सकता है। किन्तु इस सम्बन्ध में कोई अन्तिम निर्णय नहीं दिया जा सकता और अभी यथास्थिति को बनाए रखना ही कल्याणकर है।

१४७. दूसरा विकल्प यह है 'मैथिली' 'मगही' और भोजपुरी तीनों को प्रशासन में स्वीकार किया जाय तथा अपने-अपने क्षेत्र में इनका प्रयोग किया जाय। तब मैथिली के अन्तर्गत 'अंगिका' और 'वज्जिका' का प्रश्न उठेगा। पुनश्च इसके साथ ही यह भी कठिनाई सामने आयेगी कि क्या उन दोनों क्षेत्रों के लोग 'श्रोतिय मानक मैथिली' को अपनी भाषा स्वीकार कर लेंगे। अथच अपने क्षेत्र में इसका प्रचार एवं प्रसार करेंगे। इस सम्बन्ध में भी निश्चित रूपेण कुछ नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसका सम्बन्ध वहाँ की जनता से है और भाषाविज्ञानी या कोई लोक सभा अथवा विधान सभा का सदस्य भाषा के सम्बन्ध में किसी को मजबूर नहीं कर सकता। तब यह स्थिति होगी कि 'अंगिका' और 'वज्जिका' के क्षेत्र में भी क्षेत्रीय भाषाओं का प्रयोग करना पड़ेगा, जैसा कि ग्रियर्सन ने लिखा है कि "किसी देश के लिये बहुत-सी भाषाओं का प्रचलन घातक है किन्तु जहाँ बहुत-सी भाषाएँ प्रचलित हैं, उनकी उपेक्षा कैसे की जा सकती है।" तब इसका विकल्प क्या है ? मेरी सम्मति में ऐसी स्थिति में हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में यथा स्थिति में रखना ही श्रेयस्कर होगा। लेकिन बिहार में राष्ट्रभाषा को सही रूप में लोगों को सिखाना होगा। यह कार्य एक ओर राष्ट्रभाषा हिन्दी तथा द्वितीय और हिन्दी के साथ इन बिहारी—मैथिली, मगही भोजपुरी—भाषाओं के व्याकरण का तुलनात्मक अध्ययन करना होगा। पुनश्च प्रशिक्षण-विद्यालयों में विभिन्न क्षेत्रों में अध्यापकों को यह प्रशिक्षण देना होगा कि वह हिन्दी भाषा को किस रूप में पढ़ावें। बिहारी भाषा-भाषियों को विशेषरूप से 'ने', 'कर्तरि' 'कर्मणि' तथा 'भावे' के रूप का बोध करना होगा। इसके साथ ही विशेषतः लिंगानुशासन का विशेषरूप से अध्ययन

कराना होगा। क्योंकि बिहारी भाषाओं में इसके प्रयोग के विषय में अत्यन्त शिथिलता है। इसप्रकार से प्रशिक्षित अध्यापक छात्रों को प्रशिक्षित करने में सहायता कर सकेंगे और तब शुद्ध हिन्दी का प्रयोग यहाँ भी होने लगेगा। यह कार्य अत्यन्त धैर्य से साथ करना होगा क्योंकि अभी बिहार में हिन्दी शिक्षण मातृभाषा के रूप में हो रहा है जबकि उसे राष्ट्रभाषा के रूप में करने की आवश्यकता है।

१४८. बिहारी भाषाओं की उत्पत्ति—बिहारी भाषाओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यद्यपि आज से सौ वर्ष पूर्व डॉ० ग्रियर्सन यह लिख चुके हैं कि इसकी उत्पत्ति 'मागधी' से हुई है। इसमें मैथिली 'मागही' एवं बंगला की उत्पत्ति पूर्वी मागधी से हुई है किन्तु 'भोजपुरी' की उत्पत्ति पश्चिमी 'मागधी' से। इसी बात को डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने भी स्वीकार किया है परन्तु बीच-बीच में उसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में, पूर्ण तथ्य ज्ञात न होने से, सन्देह व्यक्त किया जा रहा है। 'भोजपुरी पत्रिका' में इधर कई लेख भी प्रकाशित हुए हैं जिसमें पश्चिमी मागधी से भोजपुरी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में स्पष्टतः सन्देह व्यक्त किया गया है। इसमें एक ओर तो कतिपय मैथिल विद्वान् हैं जो भोजपुरी को पूर्वी हिन्दी से सम्बद्ध बताकर बिहारी के क्षेत्र से इसका बहिष्कृत कर देना चाहते हैं, दूसरी ओर कतिपय स्वयं भोजपुरी विद्वान् हैं जो भोजपुरी की उत्पत्ति 'अर्द्धमागधी' से सिद्ध करना चाहते हैं तथा स्वयं बिहारी क्षेत्र से, भोजपुरी को पृथक करने के पक्षधर हैं। ये विद्वान् इस हीनभावना से ग्रस्त हैं कि 'मागधी अपभ्रंश' से 'भोजपुरी' का सम्बन्ध जोड़ना नितान्त लज्जाजनक है क्योंकि 'मागधी प्राकृत' का प्रयोग संस्कृत नाटकों में निकृष्ट पात्रों द्वारा निरन्तर होता रहा है और शिष्टरूप में मागधी-क्षेत्र में भी 'शौरसेनी' का ही प्रयोग होता रहा है। सच बात तो यह है कि 'शौरसेनी-प्राकृत' तथा 'शौरसेनी-अपभ्रंश' का प्रयोग किसी युग में पंजाब से बंगाल तक प्रचलित था। इसके अतिरिक्त दक्षिण के राजपूत दरबारों में भी शौरसेनी-कवियों की प्रतिष्ठा रही है। छठीं शताब्दी का 'प्राकृतपैंगलम्' बंगाल में ही लिखा गया किन्तु इसके अधिकांश पद 'शौरसेनी' में हैं। 'दोहाकोश' की भाषा अवश्यमेव 'मागधी' है किन्तु वह भी शौरसेनी के प्रभाव से अछूती नहीं है। अभी तक बंगाल में 'ध्रुपद' ब्रजभाषा में गाई जाती है। परन्तु, विद्वानों को यह भी सोचना चाहिए कि एक युग में 'मागधी' का प्रभाव 'शौरसेनी' से कम नहीं था। अशोक के सभी अभिलेख संभवतः पहले 'मागधी' में ही पाटलिपुत्र में लिखे गये थे और इनका अनुवाद बाद में उत्तर-पश्चिम तथा पश्चिम की भाषा में हुआ था। हेनरिख लूडर तथा सिल्वाँ लेवी का स्पष्ट मत है कि मूलत्रिपिटक का एक रूप 'मागधी' में उपलब्ध था जिसे मध्यदेश की भाषा में परिवर्तित किया गया। 'पालि' में 'मागधी' के अनेक शब्द आज भी प्राप्त हैं।

१४९. अशोक के 'भाब्रू' अभिलेख से स्पष्टतः विदित है कि उसने त्रिपिटक

का अध्ययन 'मागधी' वाले रूप से ही किया था। इसप्रकार एक ऐसा युग था, जब 'मागधी' मौर्य-साम्राज्य की भाषा थी और उत्तर-पश्चिम तक इसका प्रचार-प्रसार था। कालान्तर में 'शौरसेनी' द्वारा यह अपदस्थ हुई परन्तु अभी भी इसका प्रसार बिहार, बंगाल, असम, उड़ीसा तथा पूर्वी उत्तरप्रदेश में है। इसके अन्तर्गत ही वाराणसी का प्रख्यात नगर है और उधर गोरखपुर संभाग के अधिकांश जनपदों में इसका प्रचार-प्रसार हैं। अतएव इसमें लज्जा और हीनभावना का कोई प्रश्न नहीं है। परन्तु; जैसा कि ग्रियर्सन ने लिखा है कि बिहारी भाषाओं की उत्पत्ति 'मागधी' से होने पर भी यहाँ के लोग पश्चिमाभिमुखी हैं—ब्राह्मण, कायस्थ, वैश्य, विशेषतः अग्रवाल तथा क्षत्रिय जातियाँ यहाँ पश्चिम से आयी हैं, अतएव भाषा के लिये भी 'पछाँह की ओर देखना' स्वाभाविक हो गया है। किन्तु तथ्य सर्वथा इसके विपरीत है और इसमें किञ्चिदपि सन्देह नहीं है कि 'मैथिली', 'मगही' एवं 'भोजपुरी' की उत्पत्ति 'मागधी अपभ्रंश' से ही हुई है।

एक तथ्य और उल्लेख्य है कि वास्तव में 'अर्धमागधी पर भी 'मागधी' का ही अधिक प्रभाव है, शौरसेनी का नहीं। पुनश्च, प्राचीन संस्कृत एवं प्राकृत के वैयाकरणां की सत्यनिष्ठा को यह श्रेय है कि उन्होंने इसे 'अर्धमागधी' कहा, 'अर्धशौरसेनी' नहीं। अतः अन्तिम रूप से यह स्वीकार लेना समीचीन होगा कि बिहारी की उत्पत्ति 'मागधी' से हुई है, 'अर्धमागधी' या 'शौरसेनी-अपभ्रंश' से नहीं। यहाँ डॉ० ग्रियर्सन एवं डॉ० चटर्जी का मत प्रमाणस्वरूप है तथा अभी तक इन दोनों भाषाविज्ञानियों के समान कोई ऐसा महाभाषाविज्ञानी नहीं हुआ जो इस तथ्य का सतर्क खण्डन कर सके।

१५०. यहाँ संक्षेप में उन तथ्यों का भी उल्लेख होगा जो उत्तरी भारत की भाषा-स्थिति पर पूर्णतः प्रकाश डालने वाले हैं। वास्तव में पश्चिमोत्तर से लेकर बिहार तक की भाषा के निम्नलिखित वर्ग बनाते हैं :—

(क) वर्ग
(१) पंजाबी, (२) हिन्दुस्तानी, (३) बाँगरू।

(ख) वर्ग
(१) ब्रजभाषा, (२) कन्नौजी (३) बुन्देली

(ग) वर्ग
(१) अवधी, (२) बघेली, (३) छत्तीसगढ़ी।

(घ) वर्ग
(१) मैथिली, (२) मगही, (३) भोजपुरी।

ऊपर के वर्ग उच्चारण, व्याकरणिक संरचना (संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण,

परसर्ग, क्रियापद) एवं साम्य के आधार पर निर्धारित किये गये हैं, जो इस लेख के अन्त में प्रदत्त हैं।

१५१. (i) यहां प्रत्येक वर्ग के सम्बन्ध में अतिसंक्षेप में विचार किया जाता है। सर्वप्रथम (क) वर्ग की भाषाओं पर विचार किया जाता है। पंजावी (यहाँ पूर्वी पंजावी से तात्पर्य है), हिन्दोस्तानी तथा बाँगरू के व्याकरण की संरचना बहुत कुछ समान है। यहाँ पंजावी को पूर्वी पंजावी कहकर इसलिए अभिहित किया गया है कि पश्चिमी पंजावी लहँदा (लंहडा दी वोली) है। यह बाहरी वृत्त की भाषा है और वास्तविक पंजावी यही है। पूर्वी पंजावी भीतरी वृत्त की भाषा है और इसके व्याकरण का ढाँचा हिन्दोस्तानी तथा बाँगरू के समान है।

१५१. (ii) पंजावी, हिन्दोस्तानी तथा बाँगरू के एक वचन कर्त्ता तथा तिर्यक के रूप मुण्डा-मुण्डे, घोड़ा-घोड़े तथा छोरा-छोरे हैं। केवल पंजावी में घोड़े का के स्थान पर घोड़े-दा या मुण्डे-दा रूप हो जाता है। ने तथा नै परसर्ग का प्रयोग तीनों में होता है। यह वास्तव में पश्चिमी हिन्दी की एक विशेषता है। यहाँ पंजावी तथा बाँगरू में ने या नै परसर्ग का अतिरेक है; यथा—मैं-नें जाना है; मैं-ने खाना या खाणा है। पंजावी, हिन्दोस्तानी तथा बाँगरू के अन्य परसर्ग भी प्रायः समान हैं।

१५१. (iii) पंजावी में वस्तुतः अनुतान या टोन है जिसका हिन्दुस्तानी तथा बाँगरू में अभाव है, यथा—घोड़ा>कोड़ा; भाई>पाई।

१५१. (iv) तीनों के सर्वनाम भी प्रायः समान हैं। वर्तमान, भूत, तथा भविष्यत् कालों के रूप भी समान हैं। भविष्यत् के रूपो में गा का प्रयोग अनुलक्षणीय है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से पूर्वी पंजावी का सम्बन्ध टक्क अपभ्रंश से है किन्तु इस पर शौरसेनी का भी प्रभाव है। शेष दो हिन्दोस्तानी तथा बाँगरू की उत्पत्ति शौरसेनी अपभ्रंश से हुई है। हिन्दोस्तानी जिसे ग्रियर्सन से वर्नाक्यूलर हिन्दोस्तानी कहा है, पश्चिमी रुहेलखण्ड तथा दोआव की जनभाषा है। वह वर्तमान उच्च हिन्दी तथा उच्च उर्दू का मूल है।

१५२. (i) ख-वर्ग की भाषा के अन्तर्गत व्रजभाखा कनोजी तथा वुन्देली या वुन्देलखण्डी का समावेश है। इस वर्ग की भाषाओं में व्रजभाखा प्रमुख है। यह शौरसेनी अपभ्रंश की पुत्री है और कृष्ण की लीला-भूमि व्रजमंडल की भाषा है। इसका केन्द्र मथुरा है। किन्तु व्रजभाखा का विस्तार आगरा, धौलपुर, भरतपुर तथा अलीगढ़, ग्वालियर आदि तक है। खड़ीवोली हिन्दोस्तानी के साहित्य में प्रवेश के पूर्व व्रजभाखा का अत्यधिक महत्व था। सूरदास तथा अष्टछाप के अन्य कवियों के अतिरिक्त यह उत्तरी भारत की काव्यभाषा थी। विहार के मैथिली, मगही, भोजपुरी क्षेत्र के कवि भी कविता के लिए इसका प्रयोग करते थे। प्राचीन ग्रंथों की टीका के

लिए इसमें गद्य का प्रयोग हो चला था किन्तु सम्प्रति खड़ीबोली ने इसका स्थान ले लिया है।

१५२. (ii) ब्रजभाखा, कन्नौजी तथा बुन्देली के कर्ताकारक के एकवचन तथा तिर्यक् में घोड़ा, घोड़े रूप मिलते हैं। इसमें कहीं-कहीं घोड़ो या घोड़ी रूप भी प्रयुक्त हुए हैं। वास्तविक स्थिति यह है कि बुन्देली में घोड़ो रूप का ही प्रयोग होता है।

१५२. (iii) 'का' परसर्ग तीनों भाषाओं में वर्तमान है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है पश्चिमी हिन्दी की सभी बोलियों में इसका प्रयोग मिलता है। इन तीनों बोलियों में अन्य सर्वनामों के भी किञ्चित परिवर्तित रूप में मिलते हैं।

१५२. (iv) वर्तमान काल उत्तम पुरुष में ब्रजभाखा, कन्नौजी तथा बुन्देली में, हौ, हूँ, हो रूप मिलते हैं। किन्तु अन्य पुरुष भूतकाल में हतो, हती का प्रयोग होता है। ब्रजभाखा में ह-भविष्यत् का ही प्रयोग होता है, यथा—चलिहौ, चलिहै इसकी उत्पत्ति संस्कृत चलिष्यति से हुई है। कालान्तर में ष्य–, —ह में परिवर्तित हो गया है। कन्नौजी में भी—ह, भविष्यत् का रूप प्रयुक्त होता है। किन्तु कहीं-कहीं यहाँ ग—भविष्यत् का रूप भी उपलब्ध हो जाता है। बुन्देली में ह,—भविष्यत् के रूप का अभाव है और सर्वत्र ग—भविष्यत् ही मिलता है।

१५२. (v) ब्रजभाखा, कनोजी तथा बुन्देलखण्डी, तीनों, शौरसेनी अपभ्रंश से प्रसूत हैं। यहाँ की भूमि तथा भाषा वैदिक युग से पवित्र मानी गई है। यह आर्य-सभ्यता का केन्द्र-स्थल है।

१५३. (i) तीसरे वर्ग की भाषाओं में अवधी, बघेली तथा छत्तीसगढ़ी का नामोल्लेख है। इनमें से अवधी का क्षेत्र फैजाबाद तथा लखनऊ कमिश्नरियाँ हैं और इसके अन्तर्गत फैजाबाद, गोंडा, बहराइच, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, लखनऊ, रायबरेली, सीतापुर तथा लखीमपुर-खीरी सम्भाग आते हैं। हरदोई का सम्भाग कन्नौजी के क्षेत्र में है। इसके अतिरिक्त इलाहाबाद, फतेहपुर और यमुना के इस पार तथा मिर्जापुर के कुछ भाग में भी अवधी भाषा-भाषी हैं।

१५३. (ii) अवधी की उत्पत्ति अर्धमागधी अपभ्रंश से हुई है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें पश्चिमी हिन्दी के ने परसर्ग का प्रयोग नहीं होता, इसमें मैं सर्वनाम का भी प्रायः अभाव है। और कर्ता कारक एक वचन का रूप 'हम' मिलता है।

१५३. (iii) क्रियारूप में 'बाटे' स्त्रीलिंग बाटी तथा हौ, हवौं आदि का प्रयोग होता है जो मागधी अपभ्रंश से आया है। मध्यमपुरुष एकवचन भविष्यत् का रूप यहाँ

देखव, सुनब, खाब आदि होता है किन्तु अन्य-पुरुष में ह—भविष्यत् का रूप यथा मारिहैं, जइहैं आदि शौरसेनी अपभ्रंश से आया है।

१५३. (iv) यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि विहारी भाषाओं—मैथिली, मगही, भोजपुरी में ब-भविष्यत् का रूप ही उत्तम पुरुष तथा मध्यम पुरुष में व्यवहृत होता है। किन्तु—

१५३. (v) अन्य पुरुष में ह—भविष्यत् का रूप जैसे मारिहैं, देखिहैं आदि शौरसेनी से आ गया है। ऐसा प्रायः होता है कि कभी-कभी पड़ोसी भाषाओं के रूप भी ग्रहण कर लिये जाते हैं।

१५३. (vi) ब्रजभाखा की तरह, अवधी भी साहित्य-सम्पन्न भाषा है। इसमें मंझन, कुतबन, जायसी जैसे सूफी कवियों ने कविता की है। गोस्वामी तुलसीदास ने अपना प्रसिद्ध रामचरितमानस इसी में प्रणयन किया है। अवधी कवियों की एक लम्वी परम्परा है और इसमें आज भी काव्य-रचना हो रही है।

१५३. (vii) वास्तव में अवधी, बघेली, तथा छत्तीसगढ़ी का क्षेत्र पश्चिमी हिन्दी तथा विहारी के वीच है। यही अर्द्धमागधी अपभ्रंश का क्षेत्र है। बुद्ध के समय में यह कोसल के नाम से प्रसिद्ध था। छत्तीसगढ़ क्षेत्र को प्राचीन संस्कृत-साहित्य में दक्षिण कोशल कहा गया है। अवधी का मुख्य नगर अयोध्या है जिसे वाद में अवध कहा गया।

१५३. (viii) अवधी के भी दो रूप, पश्चिमी तथा पूर्वी मिलते हैं। पश्चिमी अवधी पर पश्चिमी हिन्दी का प्रभाव है किन्तु पूर्वी अवधी विहारी से प्रभावित है। दोनों पूर्वी हिन्दी के अन्तर्गत हैं जिसकी उत्पत्ति अर्द्धमागधी अपभ्रंश से हुई है।

१५४. (i) अब यहाँ 'घ' वर्ग की भाषाओं—मैथिली, मगही, भोजपुरी के सम्बन्ध में विचार किया जाता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि बिहार की भाषाओं—मैथिली, मगही तथा भोजपुरी—से हिन्दी का क्या साम्य और वैषम्य है तथा अर्धमागधी अपभ्रंश से प्रसूत पूर्वी हिन्दी—अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी—की विहारी से किस रूप में समता तथा भिन्नता है, इस विषय पर सन् १९५३ ई० में विहार राष्ट्र भाषा से प्रकाशित अपनी पुस्तक 'भोजपुरी भाषा और साहित्य' में पृष्ठ १०२ से २२७ तक में विचार कर चुका हूँ। उसे यहाँ उद्धृत करना अनावश्यक होगा। विद्वानों को विहारी भाषा के सम्बन्ध में कोई लेख लिखते समय उसका अवश्य अवलोकन करना चाहिए। प्रमाणस्वरूप केवल हिन्दी साहित्य के विशेषज्ञों का नहीं, अपितु हिन्दी तथा भारतीय भाषाओं के पंडितों के मत का उल्लेख करना चाहिए और

पुष्कल मात्रा में तथ्य देकर अपने मन्तव्य को सिद्ध करना चाहिए। केवल कतिपय रूढ़ धाराओं के आधार पर भाषा-विषयक लेख नहीं लिखा जा सकता।

१५४. (ii) यहाँ अति संक्षेप में मैं अपना विचार प्रकट कर रहा हूँ। भोजपुरी, मैथिली और मगही की भाँति ही मागधी अपभ्रंश से प्रसूत है। मागधी अपभ्रंश का मुख्य लक्षण यह है कि इसके अतीत काल में—इल्ल—उल्ल—प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं; यथा—गइल, भइल

बनारसी० गयल, भयल
मैथिली० गेल, भेल (विद्यापति)
बँगला० गेलो, भेलो, आदि।

१५४. (iii) एक ओर विहारी—मैथिली, मगही, भोजपुरी के उच्चारण, परसर्ग, कृदन्तीय रूपों, क्रियार्थक संज्ञा में परस्पर समानता है तो दूसरी ओर पूर्वी-हिन्दी से इन्हीं व्याकरगिक रूपों में बहुत अन्तर है। भोजपुरी में केवल अन्य पुरुष, भविष्यत्काल में 'ह' भविष्यत् के रूप का प्रयोग होता है जो पूर्वी हिन्दी से होते हुए शौरसेनी से आया है। इसके अन्य रूप 'ब' भविष्यत् के हैं, केवल एक उदाहरण के बल पर भोजपुरी को अर्धमागधी से प्रसूत, पूर्वी हिन्दी से, इसका सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता।

१५४, (iv) यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि इलाहाबाद की पूर्वी अवधी में 'अस्तिवाचक क्रिया' के लिए 'बाट्' (बाटेउं) का प्रयोग मिलता है जो मागधी अपभ्रंश से प्रसूत भोजपुरी से अवधी में आया है। इसका मूल 'वर्तते' है। 'ट' वाले रूप पूर्वी अपभ्रंश (मागधी) से आये हैं, यथा—
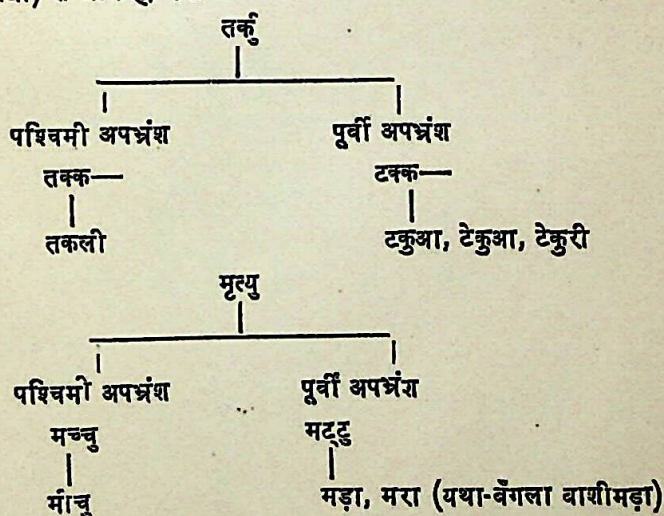
अन्त में आधुनिक आर्यभाषाओं की उत्पत्ति के सम्वन्ध में डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी की पुस्तक से एक चार्ट दिया जाता है। इसके साथ ही पंजाव से लेकर बिहार तक की भाषाओं की एक सारिणी प्रस्तुत कर इस लेख को समाप्त कर दिया जाता है।

उपसंहार

१५४. (v) बिहारी भाषाओं—मैथिली, अंगिका, वज्जिका, मगही तथा भोजपुरी की उत्पत्ति पश्चिमी मागधी से हुई है। ये पाँचों बिहारी भाषाएँ, परस्पर बोधगम्य हैं। उत्पत्ति की दृष्टि से भोजपुरी का सम्वन्ध पूर्वी हिन्दी से नहीं है जो अर्द्धमागधी अपभ्रंश से उत्पन्न है, इसका सम्वन्ध पश्चिमी मागधी से है। बिहारी भाषाओं का अपना स्थान है और उत्पत्ति की दृष्टि से ये सर्वथा स्वतन्त्र हैं। बिहारी का राष्ट्रभाषा हिन्दी से घनिष्ठ सम्वन्ध है। इस क्षेत्र के अनेक विद्वानों ने हिन्दी के विकास तथा प्रचार-प्रसार में योगदान दिया है। अपनी मातृभाषा के प्रति अतिशय प्रेम होने के बावजूद भी बिहारीभाषियों का राष्ट्रभाषा के प्रति अनुराग अक्षुण्ण रहेगा।

———

पंजाबी		हिन्दुस्तानी		बाँगरू	
[१-] संज्ञा :—		[१] – संज्ञा :—		[१--] संज्ञा :—	
[क] लिंग		[क] लिंग		[क] लिंग	
पुंल्लिग	स्त्रीलिंग	पुंल्लिग	स्त्रीलिंग	पुंल्लिग	स्त्रीलिंग
मुण्डा (लड़का)	धी (लड़की)	लड़का	लड़की	छोरा	छोरी (लड़की)
वाणीआ (वनिया)	माउँ (माँ)	घोड़ा	घोड़ी		
मनुक्ख (मनुष्य)	विध्वा (विधवा)	मनुष्य	स्त्री	माणस (मनुष्य)	वटयर (स्त्री)
[ख] वचन		[ख] वचन		[ख] वचन	
एक वचन	वहुवचन	एकवचन	वहुवचन	एकवचन	वहुवचन
मुण्डा (लड़का)	मुण्डे	लड़का	लड़के	घोड़ा	घोड़े
वाणीआ (वनिया)	वाणीएँ	घोड़ा	घोड़े	छोरा	छोर्‌याँ
मनुक्ख (मनुष्य)	मनुक्ख	मनुष्य	मनुष्य	माणस	मणसाँ
		स्त्री	स्त्रियाँ	वाब्बू	वाब्बू
		लड़की	लड़कियाँ		

पंजाबी

[ग] :— मूल/तिर्यक् :—

एक वचन		बहुवचन	
मूल	तिर्यक्	मूल	तिर्यक्
मुण्डा	मुण्डे	मुण्डे	मुण्डिआँ
वाणीआ	बाणीएँ	बाणीएँ	वाणीआँ
मनुक्ख	मनुक्ख	मनुक्ख	मनुक्खाँ

[२]—कारक/परसर्ग   परसर्ग—

कर्त्ता—(ई) तुसीं लोकी नै (बहुधा लुप्त)
कर्म— — नूँ
करण—— ते, तों, थों, थीं, दों
सम्प्रदाय—— नूँ
अपादान–(ओं) (घरों घरसे)–ते, तों, थों
सम्बन्ध—दा, दे, दी थीं. दों
अधिकरण–(ए) धरे, छावें पुर (पर)
सम्बोधन–ओ मुण्डिआ।

[३] विशेषण :—

पंजाबी	
निक्का मुण्डा	निक्की कुड़ी
निक्के मुण्डे	निक्किए कुड़ीए

हिन्दुस्तानी

[ग] :—मूल/तिर्यक् :—

मूल	तिर्यक्
लड़का (एक व०)	लड़के
लड़के (")	लड़कों
मनुष्य (")	मनुष्य
स्त्री (")	स्त्रियों

[२] :—कारक/परसर्ग :—

कारक	परसर्ग
कर्त्ता	ने
कर्म	को
करण	से
सम्प्रदान	को, के लिए
अपादान	से
सम्बन्ध	का, के, की
अधिकरण	में, पर
सम्बोधन	हे, रे

हिन्दुस्तानी	
अच्छा लड़का	अच्छे लड़के
अच्छी लड़की	अच्छी लड़कियाँ

बाँगरू

[ग]:—मूल तिर्यक् :—

मूल	तिर्यक्
घोड़ा	घोड़े
बाव्वू	वाव्वू
घोड़े (बहु व०)	घोड़ाँ
छोर्याँ (॥)	छोर्याँ

[२] : कारक/परसर्ग :—

कारक	परसर्ग:
कर्त्ता—	ने, नै
कर्म—	ने, नै और ती, ते, तैं
करण—	सिते
सम्प्रदान—	ने, नै और ती, ते, तैं।
अपादान—	ती, ते, तै
सम्बन्ध—	का, के, कै।
अधिकरण—	में, मैं
म्बोधन	हे, रे,

बाँगरू

×

[४] :— [पंजाबी] सर्वनाम

कर्त्ता रूप	मैं	तू	वह	यह	जो	वह	कौन	क्या	कोई	कुछ	×
एकवचन	हौं, मैं	तूं	उह, ओह	इह, एह अह, आह	जो, जिण जिहड़ा	सो, तिहड़ा	कौण, किहड़ा	की, किआ	कोई, काई	कुछ, किछ	×
बहुवचन	असीं	तुसीं	ओह	एह, अह आह	जो	सो	कौण	(अव्यवहृत)	×	×	×

सर्वनाम × [हिन्दुस्तानी]

कर्त्ता रूप	मैं	तू	वह	यह	जो	वह	कौन	क्या	कोई	कुछ	×	×
एकवचन	मैं	तूं	वह, वोह वुह	यह, येह यिह	जो	सो	कौन	क्या	कोई	कुछ	×	×
बहुवचन	हम	तुम	वह, वोह वुह	यह, येह यिहं	जे	ते	कौन	×	×	×	×	×

सर्वनाम [बांगरू]

कर्त्ता रूप	मैं	तू	यह	वह	जो	कौन	क्या	×
एकवचन	मैं	थूं, तूं, तौं	यौ, योह्, यि	ओह्, वोह्	जो, जौन	कौन	के, या कै	×
बहुवचन	हम, हमें	थम, तम्हें	ये, यैं	वै, ओह्	×	×	×	×

[५] क्रियायें : [क] सहायक क्रिया तथा अस्तित्वसूचक क्रिया मैं भेजूंगा आदि...

[पंजाबी]

पुरुष	वर्तमान काल एक वचन पुं०	वर्तमान काल एक वचन स्त्री०	वर्तमान काल बहु वचन पुं०	वर्तमान काल बहु वचन स्त्री०	भूत काल एक वचन पुं०	भूत काल एक वचन स्त्री०	भूत काल बहु वचन पुं०	भूत काल बहु वचन स्त्री०	भविष्यत् काल एक वचन पुं०	भविष्यत् काल एक वचन स्त्री०	भविष्यत् काल बहु वचन पुं०	भविष्यत् काल बहु वचन स्त्री०
उत्तम पुरुष	हाँ, हाँगा, हैं	हाँ, हाँगी, हैं	हाँ, हाँगे, हैंगे	हाँ, हाँगीआँ	साँ, साँगा, है-साँ,	साँ, साँगी, है-साँ	साँ साँगे, है-से	साँ, सागीआँ हैसीआँ	धल्लाँगा	धल्लाँगी	धल्लियेंगे	धल्लियेगीआँ
मध्यम पुरुष	हैं, हैंगा, एँ	हैं, हैंगी, एँ	हो, हों होगे हैगेओ	हो, होगीआँ	है-सो	है-सो	है-से, सौ,	है-सीआँ सीओ	धल्लेंगा	धल्लेंगी	धल्लोगे	धल्लोगीआँ
अन्य पुरुष	है, हैगा, हैसु, हई ई	है, हैगी, हैसु, हई, ई	हन, हनने, हैंगे, हैन	हन, हनगीआँ हैगीआँ, हैन	है-सी, साई	है-सी, साई	सन, सनगे, सैन, सान	सन, सन-गीआँ, हैसन	धल्लेगा	धल्लेगी	धल्लणगे	धल्लणगीआँ

[—हिन्दुस्तानी—] क— सहायक क्रिया तथा अस्तित्व सूचक क्रिया :—

	वर्तमान काल—मैं हूँ आदि					भूत काल—मैं था आदि					भविष्यत्काल—मैं भेजूंगा आदि			
	एक वचन		बहु वचन			एक वचन		बहु वचन			एक वचन		बहु वचन	
	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०		पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०		पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०
उ० पु०	हूँ	हूँ	है	हैं	उ० पु०	था	थी	था	थीं	उ० पु०	भेजूंगा	भेजूंगी	भेजेंगे	भेजेंगी
म० पु०	है	है	हो	हो	म० पु०	था	थी	थे	थीं	म० पु०	भेजेगा	भेजेगी	भेजोगे	भेजोगी
अ० पु०	है	है	हैं	हैं	अ० पु०	था	थी	थे	थीं	अ० पु०	भेजेगा	भेजेगी	भेजेंगे	भेजेंगी

वर्तमान काल बाँगरू का—सहायक क्रिया तथा अस्तित्व सूचक क्रिया :—

	एक वचन	बहु वचन	बाँगरु का भूतकाल हिन्दुस्तानी की तरह है जैसे :— मन्ने मार्‌या—मैंने मारा।	बाँगरू का भविष्यत काल हिन्दुस्तानी की तरह है जैसे :— माराँगा—मैं मारूँगा।
उ० पु०	सूं साँ	सै, से सां		
म० पु०	सी, से	सो		
अ० पु०	सैं से	सै से		

[५]:—क्रियायें :—[ख] [कर्तृवाच्य क्रिया] धातु घल्ल, (भेज्)

[पंजाबी] :—

—×—

संज्ञार्थक क्रिया—धल्लणा, धल्लण (भेंजना)।
वर्तमानकालिक कृदन्त—धल्लदा (भेंजता)।
भूतकालिक कृदन्त—घल्लिआ (भेजा)।
कृर्तृवाची संज्ञा—घल्लण वाला (भेंजने वाला)।
क्रियार्थक संज्ञा—धल्लियाँ (भेजना)।
पूर्वकालिक कृदन्त—घल्ल, घल्लि, धल्लके।

[हिन्दुस्तानी] :—धातु 'भेज्'—

संज्ञार्थक क्रिया—भेजना।
वर्तमानकालिक कृदन्त—भेंजता।
भूतकालिक कृदन्त—भेंजा।
कर्तृवाची संज्ञा—भेंजने वाला, नेन्हारा।
क्रियार्थक संज्ञा—भेंजना।
पूर्वकालिक कृदन्त—भेंजकर या भेंजके या भेंज करके।

[बाँगरू] कृर्तृवाच्य क्रिया।

क्रियार्थक संज्ञा—मारण या मारणा।
वर्तमानकालिक कृदन्त—मारदा।
भूतकालिक कृदन्त—मार्या, पु० (तिर्यक्) मारे, स्त्री० मारी।
कर्तृवाची संज्ञा—
क्रियार्थक संज्ञा—मारणा।
पूर्वकालिक कृदन्त—आण कै, आकर।

ब्रजभाषा :—	कन्नौजी :—	बुन्देली
[१ :—] संज्ञा :—	१ :—संज्ञा :— क :— लिंग : —	१ :—संज्ञा :— क :— लिंग
[क] :—लिंग :—	पुल्लिग स्त्रीलिंग	पुल्लिग स्त्रीलिंग
पुल्लिग स्त्रीलिग	घोड़ा नारी	घोघो, घुड़वा बेटी, बिटिया
घोड़ा नारी	घर बात	मोड़ा (लड़का) बिलइवा
घर बात	लरिका लरिकी—	काका चिरैवा
मानुष माइ		तेलनी (तेलिन)
[ख] : वचन :—	ख :— वचन :—	ख :— वचन :—
एकवचन बहुवचन	एकवचन बहुवचन	एकवचन बहुवचन
घोड़ा घोड़े, घोड़ै, घोड़ैं	घोड़ा घोड़ा, घोड़ें	घोड़ा घोड़े
नारी नारी, नारियाँ	घर घर	घर घरं
बात वातैं	नारी नारीं	हिन्ना (हरिण) हिन्नी
	बात बातैं	साँड़ साँड़न
[ग] :—मूल तिर्यक् :—	ग :—मूल तिर्यक् :—	ग :—मूल तिर्यक्
एकवचन बहुवचन	एकवचन बहुवचन	एकवचन
मूल तिर्यक मूल तिर्यक	मूल तिर्यक् मूल तिर्यक्	मूल तिर्यक्
घोड़ा घोड़ा, घोड़े, घौड़ै घोड़े घोड़ौं, घोड़ा	घोड़ा घोड़े घोड़े घोड़न	

ब्रजभाषा	कन्नौजी	बुन्देली
घर घर घर घरौं, घरनि	घर घर, घरु नारी नारिन	लोरो (छोटा लड़का) लोरे
नारी नारी नारी नारियाँ, नारियनि	नारी नारी	चाकर चाकर
	बात बात	दद्दा दद्दा
[२ :—] कारक परसर्ग	२ :—कारक परसर्ग :—	२ :—कारक परसर्ग
कर्त्ता—नैं, नैं	कर्त्ता—ने	कर्त्ता—ने, नें
कर्म—कुँ, कूँ, कौं, कैं, के	कर्म—को, कौं	कर्म—को, खों
करण—सों, सूँ, तें, ते	करण– से, सेती, सन, तें, ते, करि, कर, के	करण—से सें, सों
सम्प्रदान–कुँ, कूं, कौं, कैं, के	सम्प्रदान—को, कौं	सम्प्रदान—को, खों, लाने, या लै (के लिए)
अपादान—सों, सूँ, तें, ते	अपादान–से, सेती, सन, तें, ते, करि, कर, के	अपादान—से, सें, सों
सम्बन्ध—कौ, के, की	सम्बन्ध—का, के, की	सम्बन्ध—का, के, की
अधिकरण—में, मैं, पै, लौं--	अधिकरण—में, मैं, माँ, मों, पर, लो—	अधिकरण—मैं, में
[३ :—] विशेषण :—	३ :—विशेषण :—	३ :—विशेषण :—
भलौ, भलो, भला (अच्छा)	भलो लरिका | भली लरिकी	
थोड़े दिना पाछे (थोड़े दिन पीछे)	छोटो लरिका | छोटी लरिकी	सबरो, सबरे, सबरी (सब)

[४] :— [ब्रजभाषा] [सर्वनाम]

कर्त्तारूप	मैं	तू	वह	यह	जो	वह	कौन	क्या	कुछ	कोई	×
एकवचन	मैं, हौं, हों	तू, तै, तैं	वो, वह, वुह्	यह, यिह	जो, जौन	सो, तौन	को, कौ, कौन	कहा, का	कछु	कोई, कोय कोइ	×
बहुवचन	हम	तुम	वे, वै	ये, यै	जो	सो, ते	को, कौ	×	×	×	×

[कनौजी] [सर्वनाम]

कर्त्तारूप	मैं	तू	वह	यह	जो	वह	क्या	कोई	कुछ	×	×	×
एकवचन	मैं	तू	वहु, वुहि	यहु, यिहु	जौन, जौनु	तौन, तौनु	कहा, का	कोऊ, कोई कौनौ	कछु कुछो	×	×	×
बहुवचन	हम	तुम	वे, वै, वे	जे, जै	जौन, जो	सो, को	×	×	×	×	×	×

[बुन्देली] [सर्वनाम]

कर्त्तारूप	मैं	तू	वह	यह	जो	क्या	कोई	कुछ	×	×
एकवचन	मैं, मे, मैं	तूं, तैं	वो, ऊ, वा (स्त्री)	ये, जो, जा (स्त्री)	जो, जा (स्त्री)	का, कायँ	कोऊ, काऊ	कछु	×	×
बहुवचन	हम	तुम	वे	जे	जें	×	×	×	×	×

[५] क्रियायें : [क] सहायक क्रिया तथा अस्तित्वसूचक क्रिया [ब्रजभाषा]

	वर्तमान काल—मैं हूँ आदि				भूतकाल —मैं था आदि				भविष्यत् काल—मैं मारूँगा आदि			
	एकवचन		बहुवचन		एकवचन		बहुवचन		एकवचन		बहुवचन	
	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०
उत्तम पुरुष	हौं	हौं	हैं	हैं	हौ, हो हुतौ	ही	हे, हैं हुते	हीं, हुतीं	मारिहौ मारैहौं	मारौगो मारूँगो	मारिहैं, मारैहैं	मारैंगे
मध्यम पुरुष	है	हैं	हौ	हौ	,,	,,	,,	,,	मारिहै, मारैहै	मारैगी	मारिहौ, मारैहौ	मारौगें
अन्य पुरुष	हैं	है	हैं	हैं	,,	,,	,,	,,	मारिहैं, मारैहै	मारैगो	मारिहैं, मारैहैं	मारैंगे

[कनौजी]

	वर्तमान काल—मैं हूँ आदि		भूतकाल—मैं था आदि				भविष्यत काल—मैं मारूंगा आदि	
	एकवचन	बहुवचन	एकवचन		बहुवचन		एकवचन	बहुवचन
	पुं० स्त्री०	पुं० स्त्री०	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०	पुं० स्त्री०	पुं० स्त्री०
उत्तम पु०	हूँ	हैं, हैं, गों	थो, हतो	थी, हती	थे, हते	थीं हतीं	मारोंगो, मारिहौं; मारिहों मारिह	मारिहैं, मारेंगे
मध्यम पु०	है, है गो	हो, हो, गें	”	”	”	”	मारिहै, मारेगो	मारिहौ, मारोगे
अन्य पु०	है, हैं, गो	हैं, हैं, गें	”	”	”	”	मारिहैं, मारेगो	मारिहैं, मारेंगे

[बुन्देली]

	वर्तमानकाल—मैं हूँ आदि				भूतकाल—मैं था आदि				भविष्यत काल—मैं मारूँगा आदि			
	एक वचन		बहुवचन		एक वचन		बहुवचन		एक वचन		बहुवचन	
	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०	पुंल्लिग	स्त्रीलिंग	पुंल्लिग	स्त्रीलिंग	पुंल्लिग	स्त्री लिंग	पुंल्लिग	स्त्री लिंग
उत्तम पु०	हों, आऊँ, आँव	पुंल्लिग की तरह	हैं, आँय्	पुंल्लिग की तरह	हतो, तो	हती, ती	हते, ते	हतीं, तीं	मारूँ-गो	मारूँ-गी	मारें-गे	मारें-गीं
मध्यम पु०	है, आय्	,,	हो आव्	,,	हतो, तो	हती, ती	हते, ते	हतीं, तीं	मारे-गा	मारे-गी	मारो-गे	मारो-गी
अन्य पु०	है, आय्	,,	हैं, आँय्	,,	हतो, तो	हती, ती	हते, ते	हतीं, तीं	मारे-गा	मारे-गी	मारें-गे	मारें-गीं

[५]:—ख—[कर्तृवाचक क्रिया] व्रजभाषा—धातु :—'मार'

—×— —×—

संज्ञार्थक क्रिया—मारन, मारनी, मारनौं, मारिवौ

वर्तमानकालिक कृदन्त—मारतु, मारत—

भूतकालिक कृदन्त—मार्यौ—

कर्तृवाची संज्ञा—मारनहारा—

क्रियार्थक संज्ञा—मारनौ

पूर्वकालिक कृदन्त—मारि, मारि-कै, मारि-करि—

ख :—कर्तृवाच्य क्रिया— कन्नौजी—धातु 'मार्'

—×— —×—

संज्ञार्थक क्रिया—मारन, मारनु, मारनो, मारिबो

वर्तमान कृदन्त—मारत, मारतु

भूतकालिक कृदन्त—मारो

कर्तृवाची संज्ञा—

क्रियार्थक संज्ञा—मारन

पूर्वकालिक कृदन्त—मार के, मारि के

ख :—कर्तृवाची क्रिया— बुन्देली—धातु 'मार्'

—×— —×—

संज्ञार्थक क्रिया—मारन

वर्तमान कृदन्त—मारत

भूत कृदन्त—मारो

कर्त्तृवाची संज्ञा—मार-के, मार-कें

क्रियार्थक संज्ञा—मारन, मारबो

अवधी		बघेली		छत्तीसगढ़ी	
१ :—संज्ञा :—	क :— लिंग :—	१ :—संज्ञा :—	क :— लिंग	१ :—संज्ञा :—	क :— लिंग
—	—×— —×—	—	—+— —×—	—	—×— —×—
पुल्लिंग	स्त्रीलिंग	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग
घोड़, घोड़वा, घोड़ौना	नारी, नरिया	ध्वार (धोड़ा)	सुवर	मनुख	मुंदरी
	नरीवा	आदमी	सजा	बइला	पनही
घर	मुनरी (अँगूठी)	डोका (लड़का)	माया	गर (गर्दन)	पतुरिया
बेटवा	गटई (गला)				
ख :—	वचन :—	ख :—	वचन :—	[ख] : वचन :—	
एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
घोड़वा	धोड़वे (धोड़वन)	ध्वार	ध्वाड़े, ध्वाड़ैं		
घर	धरन	गधाल (लड़का)	गद्याल, गद्यालन	मनुख	मनुख-मन
नारी	नारिन	सूवर	सूवरन	बइला	बइलन

अवधी	बघेली	छत्तीसगढ़ी
[ग] :—मूल/तिर्यक् :—	ग :—मूल/तिर्यक्	ग :—मूल/तिर्यक् :— —×—
एकवचन बहुवचन	ध्वाड़ ध्वाड़	मूल तिर्यक्
मूल तिर्यक् मूल तिर्यक्		मनुख मनखे
धोड़वा धोड़वा धोड़वे धोड़पन	बाप बाप	ददा (बाप) ददा
घर घर घरन घरन		देस देस
[२] :— कारक/परसर्ग	२ :—कारक/परसर्ग	२ :—कारक/परसर्ग :—
कर्त्ता— —		
कर्म— का, काँ, क	कर्मकारक— का, कहँ	कर्म— का, ला
करण— से, सेनी, सैन		करण— ले, से
सम्प्रदान— वरे	अपादान— से, ते, तार	सम्प्रदान— ला, बर
अपादान— से, सेनी, सैन	सम्वन्ध— कर	अपादान— ले, से
सम्वन्ध— केर, कर, के, कै		सम्वन्ध— के
अधिकरण— पर	अधिकरण— म	अधिकरण— माँ
[३] :— विशेषण :— —×—	३ :—विशेषण :— —×—	३ :—विशेषण :—
बड़ा काल । भल मनई	बहुत दिन । छोटकौना लरिका	छोंटका वाबू । छोटकी नोनी
नीक कपड़ा	निकहा कपड़ा । अच्छा भोजन	दूर देस । सुधर कपड़ा

[४] :— [सर्वनाम] [अवधी]

कर्त्तारूप	मैं	तू	आप	यह	वह	जो	वह	कौन	क्या	कोई	कुछ	×
एकवचन	मैं	तैं, तूं	आपु	ई, यू	ऊ, वै	जे, जवन	से, तवन	के, कवन	का, काव	केहू, केऊ कौनो	कुछ	×
बहुवचन	हम	तुम	आप	इन, ए	ओन्, उन ओ	जे	ते	के	"	"	×	×

[बघेली]

कर्त्तारूप	मैं	तू	आप	यह	वह	जो	वह	कौन	क्य:	कोई	कुछ	×
एकवचन	मँय्	तँय	अपना	या	वह	जऊन	तऊन	कऊन	काह्	कौनो	कुछ	×
बहुवचन	हम्ह	तुम्ह	×	ए, एन्ह	ओ, उन्ह	जेन्ह	तेन्ह	केन्ह	×	×	कुछ	×

[छत्तीसगढ़ी]

कर्त्ता रूप	मैं	तू	आप	यह	वह	जो	वह	कौन	क्या	कोई	कुछ
एकवचन	में, मैं	तें, तैं	तु, तुह	ये, इया	वो	जे, जोन जउन	ते, तोन तउन	कोन, कउन	का, काये	कोनो कउनो	कुछ्छ
बहुवचन	हम, हम-मन	तुम, तुम-मन	तुह-मन	इन्,ये-मन	उन, वो-मन	जिन, जे-मन	तिनु ते-मन	कोन-मन	का-का	कोनो कोनो	कुछ्छ, कुछ्छ

[५] :— क्रियायें :— [क] सहायक तथा अस्तित्ववाची क्रियायें :— [अवधी]
—×— —×—

	वर्तमान काल—मैं हूँ आदि				भूतकाल—मैं था आदि								भविष्यत् काल—मैं देखूगा आदि	
	प्रथम रूप				द्वितीय रूप									
	एक वचन		बहु वचन		एक वचन		बहु वचन		एक वचन		बहु वचन		एक वचन	बहु वचन
	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०		
उत्तम पु०	बाट्- येंउ	बाटिउं	बाटीं	बाटिन्	अहेउं	अहिउं	अही	अहिन	रहेऊँ	रहिउँ	रहे, रहा	रहीं	देखवूं	देखव
मध्यम पु०	बाटे, बाटस	बाटिस्	बाट्यो	बाटिव्	अहे, अहस्	अहिस्	अह्यो अहे	अहिव्	रहे, रहिस	रहिस	रहेउ, रहा	रहीं	देखवे, देखवेस्	देखवो
अन्य पु०	बाटै	बाटई	बाटें	बाटी	आ, अहै है	अहई	अहीं अहैं	अहैं	रहिस, रहै	रही	रहेन, रहिन	रही	देखे, देखिहै	देखिहैं

[बघेली]

—×—

	वर्तमान काल—मैं हूँ आदि		भूतकाल—मैं था आदि				भविष्यत् काल—मैं हूँगा आदि	
			प्रथम रूप		द्वितीय रूप			
	एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन	एक वचन	बहु वचन
उत्तम पु०	हूँ, गाँ	है	रहेउँ, रह्ये	रहेन्	×	तें	होव्येउँ	होव्, होवै
मध्यम पु०	है	हौ, अहैन	रहा, रहे	रहेन्	ते	तें	होइहेस	होवा
अन्य पु०	है, आ	हैं, अहेन, अहें, आँ	रहा	रहेन्	ते, तो, ता	तें	होइ	होंयिहै

[छत्तीसगढ़ी]

—×—

	वर्तमान काल—मैं हूँ—आदि				भूतकाल—मैं था आदि		भविष्यत् काल—मैं देखूंगा आदि			
	भद्दा रूप		अच्छा रूप				भद्दा रूप		अच्छा रूप	
	एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पु०	हवौं	हवन	हउँ, आव्	हन्	रहेंव, रह्यउँ	रहेन्	देखहूँ	देखबो	देखिहौं	देखिहन देखब
मध्यम पु०	हवस	हवौ	हस्	हौ	रहे, रहस्, रहेस्	रहेव्	देखबे	देखहू	देखिबे	देखिहौ
अन्य पु०	हवै	हवैं	है, अय्	हैं	रहिस्, रहै, रह्यय्	रहिन्, रहैं, रहँय्	देखही	देखहीं	देखिहै, देखी	देखिहैं

[३] :— [ख] :— कर्त्तृवाची क्रियायें :—

—×—

[अवधी] धातु 'देख' :—

—×—

क्रियार्थक संज्ञा—देखब
वर्तमान कृदन्त—देखत, देखित, देखता।
भूतकाल कृदन्त—देखा।
संज्ञार्थक क्रिया—देखब
पूर्वकालिक कृदन्त—देख-कैं-के

[बघेली] धातु 'देख' :—

—×—

क्रियार्थक संज्ञा—देखब
वर्तमान कृदन्त—देखत
भूतकाल कृदन्त—देख
पूर्वकालिक क्रिया—देख-कै

[छत्तीसगढ़ी] धातु 'देख'

—×—

क्रियार्थक संज्ञा—देख
संज्ञार्थक क्रिया—देखन, देखब
वर्तमान कृदन्त—देखते
भूतकाल कृदन्त—देखै
पूर्वकालिक क्रिया—देख्-के—

मैथिली

१. संज्ञा—

(क) लिंग— (ख) वचन

पुंलिंग	स्त्रीलिंग	एकवचन	बहुवचन	(ग) मूल/तिर्यक्
घोरा; घोरवा, घोरीवा ।	नेनी (लड़की)	नेना	नेना-सभ	अनुपलब्ध
माली, मलिया, मलीवा ।	सम्पत्ति	नेना	नेना-लोकनि	
नेना	सेवा (सेबा)			

२. कारक/परसर्ग—

कारक	चिन्ह	परसर्ग
कर्त्ता—		कें
कर्म		
करण—एँ	(सवहिएँ)	सँ, सौं
सम्प्रदान		
अपादान—		सँ, सौं
सम्बन्ध—	अक् या क्	केर्, कर्
अधिकरण—		मेँ, माँ

३. विशेषण—

सुन्दर नेना/सुन्दरि नेनी
वड़ा घर/वड़ि नेनी

[४] सर्वनाम

कर्त्ता रूप	मैं	तू	यह	वह	जो	कोन	वह
एकवचन	में, हम	तों तोंह	इ, ई	ओ	जे	के	से
बहुवचन	हम	तोंह सभ	ई या इ-सभ	ओ-सभ	जे-सभ	के-सभ	से-सभ

कर्त्ता रूप	कोई	कुछ					
एकवचन	कैव्	किछु					
बहुवचन	—	—					

५. क्रियायें—

(क) सहायक क्रियायें और अस्तिवाची क्रियायें—
वर्तमान काल, मैं हूँ आदि ।

पुरुष	प्रथम रूप	द्वितीय रूप	तृतीय रूप	चतुर्थ रूप
उत्तम	छी, छिऐ	छिऐन्हि	छी, छिऐ	छिऐन्हि
मध्यम	छह्	छहून्हि	छी, छिऐ	छिऐन्हि
अन्य	अछि, छैं	छैंन्हि	छथि	छथीन्हि

वैकल्पिक रूप थिकहु, थिके आदि भी हैं ।

भूतकाल, मैं था, आदि ।

पुरुष	प्रथम रूप	द्वितीय रूप	तृतीय रूप	चतुर्ग रूप
उत्तम	छलहु, छलिए	छलिऐन्हि	छलहु, छलिऐ	छलिऐन्हि
मध्यम	छलह	छलहून्हि	,,	,,
अन्य	छल, छलै	छलैन्हि	छलह	छलथीन्हि

वैकल्पिक रूप, रहिअहु, रहहि आदि भी हैं।

भविष्यत्काल, मैं देखूंगा, आदि।

पुरुष	प्रथम रूप	द्वितीय रूप	तृतीय रूप	चतुर्थ रूप
उत्तम पु०	देखी-गा	देखव, देखवै	देखतिऐं	देखतिऐंन्हि
मध्यम पु०	देखह-गा	देखबह	—	"
अन्य पु०	देखै-गा	—	देखत, देखतै	देखथून्हि

(ख) कर्तृवाची क्रियायें—

धातु—देख

क्रियार्थक संज्ञा—देखव, देखल, देखि

संज्ञार्थक क्रिया—देखव

वर्तमान कृदन्त—देखैत

भूत कृदन्त—देखल

पूर्वकालिक कृदन्त—देखि-कँ

मगही

१. संज्ञा—

(क) लिंग—

पुलिंग	स्त्रीलिंग
घोरा घोरवा, घोरौवा	नारी, नरिया, नरीवा

(ख) वचन—

एकवचन	बहुवचन
घोरा	घोरन
घर	घरन
राजा	राजा-सब या राजा-लोग

(ग) मूल/तिर्यक्

अनुपलब्ध

२. कारक/परसर्ग

कारक	चिन्ह	परसर्ग
कर्त्ता—		
कर्म		के
करण—	एँ	से, सें, सतीं
सम्प्रदान—	ए	ला, लेल, खातिर, लागी
अपादान—		से, सें, सतीं
सम्बन्ध—		क, के, केर
अधिकरण—		में, मे, मों

३. विशेषण—

ये लिंग के अनुसार परिवर्तित नहीं होते ।

६—सर्वनाम—

कर्त्ता रूप	मैं		तू		यह	वह	जो	वह
एक वचन	अश्रेष्ठ —	श्रेष्ठ	अश्रेष्ठ तों, तूं	श्रेष्ठ —	ई	ऊ	जे, जौन	से, तौन
बहु वचन	हमनी	हमरनी	तोहनी	तोहरनी	ई, इन्ह	ऊ, उन्ह	जे, जिन्हकनी	से, तिन्हकनी

कर्त्ता रूप	कौन	क्या	कोई
एक वचन	के, को, कौन	का, की, कौंची, काहे	केउ, कोई, काहू
बहु वचन	के, किन्हकनी	,,	,,

२. क्रियायें—

(क) सहायक क्रियायें और अस्तिवाची क्रियायें—

वर्तमानकाल—मैं हूँ, आदि ।

पुरुष	प्रथम रूप	द्वितीय रूप	तृतीय रूप	चतुर्थ रूप
उत्तम पु०	ही	—	हीं	—
मध्यम पु०	हैं	हहिन	ह	हहुन
अन्य पु०	है	हहिन	हैं	हइन

भविष्यत्काल—मैं देखूंगा, आदि ।

पुरुष	प्रथम रूप	द्वितीय रूप	तृतीय रूप	चतुर्थ रूप
उत्तम पु०	देखब	—	देखबै	—
मध्यम पु०	देखवें	देखवहिन	देखव्	देखवहुन्
अन्य पु०	—	—	—	—

भूतकाल—मैं था, आदि ।

पुरुष	प्रथम रूप	द्वितीय रूप	तृतीय रूप	चतुर्थ रूप
उत्तम पु०	हलूं	—	हलीं	—
मध्यम पु०	हलें	हलहिन्	हल	हलहुन्
अन्य पु०	हल्	हलहिन्	हलन्	हलथिन्

(ख) कर्तृवाची क्रियायें—धातु-देख

क्रियार्थक संज्ञा—देखब्, देखल्, देख् ।

वर्तमान कृदन्त—देखित्, देखत्, देखैत् ।

भूत कृदन्त—देखल्

संज्ञार्थक क्रिया—देखब्

पूर्वकालिक कृदन्त—देख्-के, देख्-कर् ।

भोजपुरी

१. संज्ञा—

(क) लिंग—		(ख) वचन—		(ग) मूल/तिर्यक्
पुलिंग	स्त्रीलिंग	एकवचन	बहुवचन	तिर्यक्
घोड़ा, घोड़वा, घोड़ौआ ।	नारी, नरिया, नरीवा	घर	घरन, घरनि, घरन्हि	अनुपलब्ध हैं ।
		राजा	राजा-सब, राजा-लोग	

२. कारक/परसर्ग—

कारक	चिन्ह	परसर्ग
कर्त्ता—		
कर्म—		के, कँ
करण—	ए	से, ते, सन्ते या करते
सम्प्रदान—		खातिर, लाग, ला
अपादान—		से, ले
सम्बन्ध—		क, के, कै
अधिकरण—	ए	में, मों, म

३ विशेषण—

ये लिंगानुसार परिवर्तित यहीं होतं ।

४. सर्वनाम—

कर्ता रूप	मैं		तू		यह	वह	जो	वह
एकवचन	अश्रेष्ठ मैं	श्रेष्ठ हम	अश्रेष्ठ तूं, तें	श्रेष्ठ तूं, तें	इ, ईहे, यहाँ	ऊ, ओ	जे, जवन, जौन	से, ते, तवन, तौन
बहुवचन	हमनी-का	हमरन्	तोहनी-का	तोहरन्	इन्ह-का	उन्ह्-का	जिनका, जवन, जौन	तिन्हका, तवन, तौन

कर्ता रूप	कौन	क्या	कोई
एकवचन	के, कवन, कौन	का	केऊ, केहु, कौनो
बहुवचन	किन्ह-का, कवन, कौन	—	—

५. क्रियायें—

(क) सहायक क्रियायें और अस्तित्वाची क्रियायें—

वर्तमान काल—मैं हूँ, आदि ।

प्रथम रूप

	एकवचन		बहुवचन	
	पुंलिंग	स्त्रीलिंग	पुंलिंग	स्त्रीलिंग
उत्तम पु०	वड़ों	—	वाड़ीं या वानी	वाड़्यू
मध्यम पु०	वाड़. वाड़े, वड़सि, वड़स्	वाड़िस्	वाड़, वाड़ह्	वाड़ू
अन्य पु०	वा, वाड़े, वाड़, वाड़ो	—	वाड़न्	वाड़िन्

द्वितीय रूप

	एकवचन		बहुवचन	
	पुंलिंग	स्त्रीलिंग	पुंलिंग	स्त्रीलिंग
उत्तम पु०	हवों	—	हवीं, हुइँ	हव्यू
मध्यम पु०	हवे, हवस्	हविस्	हव, हवह्	हऊ
अन्य पु०	ह, हवे, हवसि	—	—	हविन्

भूतकाल, मैं था, आदि।

	प्रथम रूप				द्वितीय रूप			
	एकवचन		बहुवचन		एकवचन		बहुवचन	
	पुंलिग	स्त्रीलिंग	पुंलिग	स्त्रीलिंग	पुंलिग	स्त्रीलिंग	पुंलिग	स्त्रीलिंग
उत्तम पु०	रहलों	—	रहलीं	रहल्यूं	रहों	—	रहीं	रह्यूं
मध्यम पु०	रहलें, रहलस्	रहली, रहलिस्	रहल, रहलह	रहलू	रहे, रहस्	रही. रहसि्	रह, रहह	रहू
अन्य पु०	रहल्	रहली	रहलन्	रहलिन्	रहे, रहसि रहस्	रही	रहन्	रहिन्

भविष्यत् काल, मैं देखूगा, आदि।

	एकवचन		बहुवचन	
	पुंलिग	स्त्रीलिंग	पुंलिग	स्त्रीलिंग
उत्तम पु०	देखवों, देखवउं	—	देखब्, देखवी	देखिव्, देखिवी
मध्यम पु०	देखवे	देखवी, देखविस्	देखव्	देखवू
अन्य पु०	देखी	—	देखिहे, देखिहेन्	—

(ख) कर्तृवाची क्रियायें—

धातु-देख

क्रियार्थक संज्ञ—देख्, देखें; देखल्; देखव्।

वर्तमान कृदन्त—देखित्, देखैत्।

भूतकाल कृदन्त—देखल्।

पूर्वकालिक क्रिया—देख-के, देखि-के

अध्याय १ : भारतीय आर्यभाषाओं के सम्बन्ध में सामान्य विचार—

१. आज ब्रिटिश इण्डिया [अब भारत = हिन्दुस्तान] में जो भाषाएँ व्यवहृत होती हैं उन्हें प्राय: तीन मुख्य वर्गों में विभाजित किया जाता है। ये हैं—(१) आर्य भाषाएँ (२) द्रविड भाषाएँ (३) अन्य भाषाएँ। अन्य भाषाओं के अन्तर्गत मुख्यरूप से मुण्डा तथा तिव्वती-वर्मी भाषाओं का समावेश है, जिसके वोलने वाले क्रमश: हिन्दुस्तान के मध्य पर्वतीय-भाग तथा उत्तरी एवं उत्तरी-पूर्वी सीमा पर निवास करते हैं। द्रविड भाषाएँ मुख्यतया दक्षिण में वोली जाती हैं, यद्यपि, छिट्पुट रूप में उत्तर में गंगा के काँठे एवं वलोचिस्तान में भी द्रविड भाषाएँ वोली जाती हैं। मोटेतौर पर आर्य भाषाएँ हिन्दुस्तान के सम्पूर्ण उत्तरी मैदान में प्रचलित हैं। इसके अतिरिक्त पहाड़ी वोलियों के रूप में ये हिमालय के निचले भाग में भी प्रविष्ट कर गई हैं। इनसे निकट से सम्वन्धित एक अन्य वर्ग की भाषा वनाच्छादित पर्वतीय प्रदेश में, हिन्दूकुश के दक्षिण में, प्रचलित है। इन्हें दर्द, या आधुनिक पिशाच नाम से अभिहित किया जाता है। आर्यभाषाएँ गंगा की धारा का अनुसरण करती हुई उसके मुहाने तक प्रसरित हैं तथा ब्रह्मपुत्र के दोनों उर्वर मैदान के छोरों को अपने में समेटती हुई सदिया तक पहुँच गई हैं, जहाँ यह नदी (ब्रह्मपुत्र) अपनी तिब्बत की यात्रा से असम प्रदेश की तराई में प्रवेश करती है। भारत की सीमा से सिन्धु नदी के सम्पूर्ण भाग में आर्यभाषाओं का राज्य है। भारतीय प्रायद्वीप के पूर्वी तथा पश्चिमी तट से होती हुई, ये भाषाएँ दक्षिण तक पहुँच गई हैं तथा उन्होंने द्रविड भाषाओं, एक ओर कन्ध, गोंडी एवं तेलुगु तथा दूसरी ओर कन्नड़ को विस्थापित कर दिया है।

२. इस सम्पूर्ण प्रवन्ध में मैं इन आर्यभाषाओं को भारतीय आर्यभाषा के नाम से अभिहित करूँगा। इससे तात्पर्य यह है कि ये तृतीय प्राकृत अथवा बोलचाल की वर्तमान भाषाएँ हैं। ये प्राचीनकाल की आर्यभाषाएँ अथवा प्रथम प्राकृत नहीं हैं (जिसके अन्तर्गत वैदिक संस्कृत का समावेश है) तथा न ये द्वितीय प्राकृत पालि-[1*] प्राकृत हैं। इन्हें गौड़ (गौड़ीय=अं० गौडियन) नाम से अभिहित किया गया है।[2*] गौड या गौड़ का सम्वन्ध उत्तरी भारत की गौड जाति से है तथा इसका बंगाल के गौड़ से कोई सम्बन्ध नहीं है। गौड शब्द का प्रयोग संस्कृत में प्रयुक्त द्रविड के प्रतिरोध में किया गया है तथा 'द्रविडियन' के प्रतिरोध में अंग्रेजी में गौडियन शब्द का निर्माण

किया गया है। किन्तु यह शब्द सामान्यरूप से जनता द्वारा स्वीकृत नहीं हुआ। इसके अतिरिक्त इसके दो अर्थ हैं, इस कारण भी यह भ्रामक है। इसीलिये इस सुविधा-युक्त शब्द के स्थान पर एक लम्बे शब्द भारतीय आर्यभाषा शब्द का प्रयोग यहाँ किया गया।[3*]

३. सन् १६११ की जनगणना के अनुसार बरमा को छोड़कर भारत की जनसंख्या ३०३ लाख (३० करोड़ ३ लाख) है। इनमें से २३० लाख (२३ करोड़) लोग भारतीय आर्यभाषा-भाषी हैं। ६३ लाख द्रविड तथा शेष अन्य भाषा-भाषी हैं। भाषा-सर्वेक्षण के अनुसार भारतीय आर्यभाषा-भाषियों की सख्या २२६ लाख है। दोनों में अन्तर का मुख्य कारण यह है कि सर्वेक्षण में दिये हुए अंक इसके पूर्व की जनगणना के हैं। इसके आगे जो महत्वपूर्ण अन्तर है वह यह है कि अलग-अलग भाषाओं के बोलनेवालों की जो संख्या दी गई है वे उनके वर्गीकरण के अनुसार हैं। अतः ये अधिक सही हैं, यद्यपि सन् १६११ की जनगणना के लिये इन्हें बिल्कुल ठीक नहीं माना जा सकता। ये भारतीय आर्यभाषाएँ मुख्यरूप से तीन भागों में विभक्त हैं। इन विभागों का आधार भाषा है किन्तु भौगोलिक वितरण के अनुसार भी ये हैं।

	बोलने वालों की संख्या	
	१६११ की जनगणना के अनुसार	सर्वेक्षण के
[क] मध्य देश की भाषा		
१. हिन्दी	४१,५२२,३७७	३८,०१३,९२८
[ख] मध्यवर्ती भाषाएँ		
[अ] मध्य देश की भाषा की निकटवर्ती तथा उससे सम्बन्धित		
२. पंजाबी	१५,८७६,७५८	१२,७६२,६३६
३. राजस्थानी[4]	१४,०७६,१०६	१७,५५१,३२६
४. गुजराती[5]	१०,६५३,७३२	१३,३३६,३३६
५. पूर्वी पहाड़ी (खसकुरा[6] या नेपाली)	२०८,९३२	१४३,७२१
६. मध्य पहाड़ी[7]	३,७६५	१,१०७,६१२
७. पश्चिमी पहाड़ी	१,४५२,४९४	८५३,४६८
[ब] अधिकांशतः बाहरी उपशाखा की भाषा से सम्बन्धित—		
८. पूर्वी हिन्दी	२२,७३८,४४५	२४,५११,६४७
[ग] बाहरी उपशाखा की भाषाएँ—		
[अ] उत्तरी-पश्चिमी समूह		

९. लहंदा	४,८५३,११६	७,०९२,७८१
१०. सिन्धी	३,६६६,६३५	३,०६६,४७०
[व] दक्षिणी भाषाएँ		
११. मराठी	१९,८०२,६२०	१८,०११,६४८
[स] पूर्वी समूह		
१२. विहारी	३४,६०१,६८१	३७,१८०,७८२
१३. उड़िया	१०,१६२,३२१	९,०४२,५२५
१४. बंगला	४८,३६७,६१५	४१,९१८,१७०
१५. असामी	१,५३३,८२२	१,४४७,५५२
योग	२२९,५४४,३२२	२२६,०४३,९१२

इस प्रवन्ध में इन्हीं पन्द्रह भाषाओं का अध्ययन प्रस्तुत किया जायगा। इनके अतिरिक्त दर्द अथवा पिशाच भाषाओं के सम्बन्ध में विचार किया जायेगा। इनमें से केवल काश्मीरी ही सन् १९११ की जनगणना के अन्तर्गत आ सकी है तथा इसके बोलने वालों की संख्या १,१८०,६३२ है। भाषा-सर्वेक्षण के अनुसार यह संख्या ठीक-ठीक १,१९५,९०२ है। आधुनिक पिशाच भाषाएँ इसप्रकार हैं:—

[अ] काफिर अथवा पश्चिमी समूह
१—वशगली
२—वैअला
३—वेरों
४—अश्कन्द
५—पशै
६—तिराही
७—मध्य भाषाएँ
८—कलाशा

[व] मध्य भाषाएँ
९—खोवार

[स] दर्द या पूरवी समूह
१०—शिना
११—काश्मीरी
१२—मैया
१३—गार्वी

५. वास्तव में आर्यभाषाओं के सम्बन्ध में विचार करते समय यह ध्यातव्य है कि ये भाषाएँ भारत के हृदय अथवा मध्य में अवस्थित हैं। इनका स्थान प्राचीन मध्यदेश है। बाहरी उपशाखा की भाषाएँ इनके चतुर्दिक पश्चिम, दक्षिण एवं पूर्व में प्रसरित हैं। बाहरी उपशाखा तथा मध्यदेश के बीच मध्यवर्ती भाषाएँ हैं। इनका सम्बन्ध मध्यदेश की भाषाओं से है और इनका बाहरी उपशाखा की भाषाओं में अवसान हो जाता है। प्रत्येक दो भाषाओं के बीच भौगोलिक सीमा निर्धारित करना कठिन कार्य है। जहाँ दो भाषाओं के बीच नदी एवं पर्वत प्राकृतिक सीमा का निर्माण करते हैं वहाँ तो सीमा का निर्धारण हो जाता है किन्तु दो भाषाओं के बीच स्तम्भ का निर्माण कर सीमा नहीं निर्धारित की जा सकती। इसका परिणाम यह है कि एक भाषा दूसरे में अन्तर्मुक्त हो जाती है। उदाहरणार्थ पंजाबी मध्यवर्ती भाषा है किन्तु लहंदा बाहरी उपशाखा की भाषा है। किन्तु यह निश्चित करना कठिन है कि पंजाबी का अन्त कहाँ होता है तथा लहंदा का आरम्भ कहाँ से होता है। अब इन भाषाओं के सम्बन्ध में नीचे सूक्ष्म विचार किये जायँगे।

६. योरोपीय लेखकों द्वारा 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग अत्यन्त शिथिल अर्थ में किया गया है। यह फारसी शब्द है और इसका अर्थ है हिन्द (=हिन्दुस्तान) का। यह हिन्दू का प्रतिलोम है जिसका अर्थ है, हिन्दुस्तान का हिन्दू धर्मावलम्बी[8]। हिन्दी का एक अर्थ है, हिन्दी की भाषा और इस अर्थ में यह हिन्दुस्तान की कोई भी भाषा हो सकती है। योरोप के निवासियों द्वारा कभी-कभी इसका प्रयोग 'उच्च हिन्दी' के लिये होता है किन्तु अनिश्चित अर्थ में इसका प्रयोग चार बोलियों-बिहारी, पूर्वी हिंन्दी, हिन्दी एवं राजस्थानी—के लिये होता है। ये चारों भाषाएँ बंगाल एवं पंजाब के बीच बोली जाती हैं। इस प्रबन्ध में हिन्दी शब्द[9] का प्रयोग अत्यन्त सीमित अर्थ में मध्यदेश की आधुनिक भाषा के लिए किया जा रहा है। यह गंगा के दोआब के अधिकांश भागों तथा इससे सटे उत्तरी एवं दक्षिणी मैदान की भाषा है। इसके केन्द्र में आगरा शहर है। यह उत्तर में हिमालय तथा दक्षिण में नर्बदा के कांठे तक फैली है। पश्चिम में इसकी सीमा दिल्ली के आगे तक तथा पूर्व में यह कानपुर तक है। इसके पश्चिम में पंजाबी तथा—राजस्थानी भाषाएँ हैं तथा इसके पूरब में पूर्वी हिन्दी का क्षेत्र है। जैसा कि प्राचीन युग में भी था, इस क्षेत्र की भाषा, भारत की किसी भी क्षेत्र की भाषा से अत्यधिक महत्वपूर्ण है। यह केवल स्थानीय बोल-चाल की भाषा नहीं है अपितु इसका एक रूप हिन्दुस्तानी[10] सम्पूर्ण भारतीय महाद्वीप के के उत्तर एवं दक्षिण में व्यवहृत होती है। जन अथवा संचार-भाषा (लिंग्वाफ्रांका) के रूप में, प्रायः सभी शिक्षित व्यक्ति इसका प्रयोग कचहरी और बाजार में करते हैं। वास्तव में हिन्दुस्तानी, हिन्दी की एक बोली है। यह गंगा के दोआब के ऊपरी भाग की बोली है। मुगल राज्य के आरम्भिक दिनों में यह दिल्ली के बाजार में प्रचलित थी।

यह बाजार, इस क्षेत्र में, यमुना के दक्षिण तट पर स्थित था। दिल्ली से मुगल-सेना के साथ, यह अन्य स्थानों में पहुँची। इसमें सर्वप्रथम दक्षिण में सोलहवीं शताब्दी में साहित्य-रचना हुई। इसके सौ वर्ष बाद, दक्षिण के औरंगाबाद के कवि वली ने इसे निश्चित स्तर प्रदान किया[11]। इसके बाद यह मुसलमानों और हिन्दुओं के साथ उत्तर-भारत में आई। मुसलमानों ने इसकी शब्द-सम्पदा में फारसी और अरबी के शब्द मिलाकर इसकी अभिवृद्धि की। इसके अत्यधिक फारसी-करण में, कायस्थों एवं खत्रियों जैसे नमनीय जातियों का हाथ था। ये लोग मुगल-शासन में कार्यरत थे। ये लोग फारस के लोगों तथा मुगलों की अपेक्षा फारसी में अधिक दक्ष थे। वास्तव में मुगल तो कई शताब्दियों तक अपनी मातृभाषा (=तुर्की) का साहित्य में प्रयोग करते रहे[12]। हिन्दोस्तानी का यह अत्यधिक फारसी मिश्रित रूप उर्दू नाम से विख्यात हुआ। यह उर्दू शब्द उर्दू-ए-मुअल्ला का संक्षिप्तरूप है। दिल्ली के किले के बाहर शाही फौजी बाजार में इसने अपना रूप प्राप्त किया। साहित्यिक रूप उर्दू का एक नाम रेखता भी है। यह वह रूप है जिसमें फारसी शब्द मिश्रित रहते हैं। इसका दूसरा रूप रेखती है। इसके काव्यरूप में स्त्रियाँ अपना हृदय का भाव प्रकाशित करती हैं।[13] हम यह देख चुके हैं कि हिन्दोस्तानी साहित्य का समारम्भ दक्षिण में हुआ था। दक्षिण के मुसलमान आज भी इसका प्रयोग करते हैं। इसमें गंगा के ऊपरी दोआब के अनेक पुराने और स्थानीय शब्द आज भी उपलब्ध हैं। अब ये शब्द उत्तर की भाषा में व्यवहृत नहीं होते। दक्खिन की यह बोली दक्खिनी हिन्दोस्तानी कहलाती है। साहित्यिक हिन्दी अथवा उच्च हिन्दी का वर्तमान रूप ऊपरी दोआब के फारसी-रहित रूप का प्रत्यावर्तन है। यह कार्य फोर्टविलियम कालेज के, अध्यापकों द्वारा उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में सम्पन्न हुआ था। हिन्दुओं के उपयोग के लिये हिन्दोस्तानी की आवश्यकता की पूर्ति के लिये यह कार्य सम्पन्न हुआ था। यह कार्य उर्दू से फारसी-अरबी शब्दों को निकालकर तथा उनके स्थान पर संस्कृत अथवा संस्कृत से प्रसूत शब्दों को रखकर सम्पन्न हुआ था। लल्लूजी लाल ने इस रूप में, सर्वप्रथम पुस्तक, प्रेमसागर तैयार की।[14] यह अत्यधिक लोकप्रिय हुई क्योंकि इसे कट्टर से कट्टर हिन्दू भी अपनी धार्मिक भावनाओं के आघात बिना इसका जनभाषा के रूप में उपयोग कर सकता था। वाराणसी में इसका (स्तरीय) रूप तैयार हुआ और दोआब के जो लोग उर्दू में नहीं लिख सकते थे, उन्होंने इसे गद्य लेखन के लिए अपनाया।

अंग्रेजों द्वारा छापे की मशीन के इजाद के पूर्व उर्दू का साहित्य काव्यरूप में था। इस युग में, हिन्दू-कवि कविता के लिये स्थानीय बोलियों का प्रयोग करते थे। हिन्दी में आज भी यही प्रयोग चल रहा है। हाँ, यह दूसरी बात है कि गद्य-लेखन के लिये उच्च हिन्दी का प्रयोग चल रहा है। इधर गत बीस वर्षों के भीतर उच्च हिन्दी में भी काव्य-रचना होने लगी है। किन्तु यह सभी लोगों द्वारा मान्य नहीं है। हिन्दी

काव्य का आधार भारतीय परम्परा है और उसके छन्द भी भारतीय हैं। इसके विपरीत उर्दू काव्य में फारसी का अनुकरण है और इसका छन्द-शास्त्र भी फारसी का है। उच्च हिन्दी के गद्य की भाँति ही उर्दू-गद्य का भी आविर्भाव अंग्रेजों के प्रभाव से हुआ तथा फोर्टविलियम कालेज में टेक्स्टबुक (स्कूलों के लिये पाठ्य पुस्तकें) लिखने में इसका उपयोग किया गया।

७. आज उर्दू सुधरी हुई फारसी लिपि में लिखी जाती है। इस लिपि एवं लेखन का समारम्भ अकबर के प्रसिद्ध अर्थमंत्री टोडरमल के समय में हुआ था। टोडरमल हिन्दू थे और उनका समय १५८६ है। इसके पूर्व भूमि-कर के हिसाब-किताब नागरी लिपि के किसी न किसी रूप में रखे जाते थे किन्तु टोडरमल ने इसे फारसी में रखने का आदेश दिया। इसप्रकार टोडरमल ने अपने धर्म-दायादों को, शासकों की भाषा, फारसी सीखने के लिये बाध्य किया। इसप्रकार फारसी का अध्ययन तथा उसकी लिपि से परिचय प्राप्त करना आर्थिक दृष्टि से लाभदायक सिद्ध हुआ।[15] हिन्दी के अन्य रूप नागरी अथवा उसकी निकट की कैथी लिपि में लिखे जाते थे। अरबी शब्दों की अधिकता के कारण उर्दू को नागरी लिपि में लिखना असुविधाजनक है। हिन्दी को उर्दू में लिखना सम्भव नहीं है क्योंकि उसका पढ़ना नितान्त दुष्कर है।

८. हिन्दी की अन्य बोलियाँ—बाँगरू, ब्रजभाखा, कन्नौजी और बुन्देली हैं। बाँगर या हरियानवी बाँगर की भाषा है। यह यमुना से सटे हुए दक्षिणी-पूर्वी पंजाब की भाषा है। यह मिश्रित बोली है और इसमें हिन्दी, पंजाबी और राजस्थानी तीनों की पुट है। ब्रजभाखा, ब्रज की भाषा है। इसमें कृष्ण के आरम्भ के जीवन की अनेक कथाएँ उपलब्ध हैं। मथुरा तथा मध्य गंगा का दोआब इसका क्षेत्र है। यह हिन्दी का वह रूप है जिसमें प्राचीनकाल से काव्य रचना हुई है।[16] यह मध्य-देश की विशिष्ट भाषा है। इसमें कृष्ण के जीवन से सम्बन्धित पर्याप्त मात्रा में श्रेष्ठ साहित्य है। कन्नौजी या अन्तर्वेदी, प्राचीन एवं पवित्र अन्तर्वेद अथवा मध्य गंगा के दोआब की भाषा है। शताब्दियों तक इसका मुख्य नगर कन्नौज (कान्यकुब्ज) भारत में प्रसिद्ध था। गंगा के उत्तर में नेपाल की तराई तक इसका क्षेत्र है। ब्रजभाखा तथा कन्नौजी में अल्पमात्रा में ही अन्तर है। इसमें पर्याप्त साहित्य है। बुन्देली, बुन्देलखंड की भाषा है। ब्रजभाखा के दक्षिण में इसका क्षेत्र है। नर्मदा नदी के कांठे तक इसका विस्तार है। इसमें भी विशिष्ट साहित्य उपलब्ध है।

९. मध्यवर्ती भाषाएँ, जैसा कि इनके नाम से ही स्पष्ट है, मिश्रित भाषाएँ हैं। ये वास्तव में मध्यदेश की ही भाषाएं हैं। किन्तु ये अन्य भाषाओं में अन्तर्भुक्त हो जाती हैं। इनमें भी मध्यदेश की पश्चिम की भाषाएँ शनैः-शनै अन्तर्भुक्त हुई हैं और केन्द्र में, मध्यदेश की भाषा का, प्रभाव अत्यधिक है। किन्तु ज्यों-ज्यों हम परिधि की ओर बढ़ते हैं, यह प्रभाव क्षीण होता जाता है। दूसरी ओर पूर्वी मध्यवर्ती भाषा,

पूर्वी हिन्दी, बाहरी उपशाखा की भाषा है तथा इस पर मध्यदेश की भाषा का अधिक प्रभाव नहीं है।

१०. उत्तर-पश्चिम में, ठीक हिन्दी के बाद, उससे लगा हुआ, पंजाबी का क्षेत्र है। यह मध्य-पंजाब की भाषा है। पूर्वी पंजाब की भाषा हिन्दी है तथा पश्चिमी पंजाबी भाषा लहँदा है, जिसका सम्बन्ध बाहरी उपशाखा की भाषा से है। मध्यदेश की भाषा का बाहरी उपशाखा की भाषा में, क्रमिक परिवर्तन, इतना अधिक स्पष्ट रूप में, हमें अन्यत्र कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता, जितना पंजाबी में। इसका कारण भाषा का अत्यधिक समन्वित रूप है। आगे हम देखेंगे कि उत्तर-पश्चिम की बाहरी उपशाखा की भाषा पर (जिसमें लहँदा भी सम्मिलित है), सुदूर उत्तर-पश्चिम दर्द अथवा आधुनिक पिशाच भाषाओं का अत्यधिक प्रभाव है तथा कुल पंजाबी क्षेत्र की भाषा दर्द भाषा के अवशेष से प्रभावित है।[17*] ज्यों-ज्यों हम पूर्व की ओर प्रस्थान करते हैं, यह प्रभाव कम होता जाता है। यह ठीक उसीरूप में है जिसरूप में पश्चिम की ओर अग्रसर होने पर मध्यदेश की भाषा का प्रभाव क्षीण होता जाता है। यह भाषिक अवस्था हमें यह परिणाम स्वीकार करने के लिये बाध्य करती है कि (जैसा कि राजपूताने के इतिहास के सम्बन्ध में हम जानते हैं) यह मिश्रित भाषा मुख्यरूप से बाहरी तथा अंशतः दर्दीय, किसी युग में, सम्पूर्ण पंजाब में, प्रचलित थी तथा मध्यदेश के निवासियों ने जनसंख्या के भार से अथवा अन्य किन्हीं कारणों से शनैः-शनै पंजाब को अधिकृत किया तथा अंशतः अपनी भाषा को भी वहाँ फैलाया। अन्य किसी प्रकार से पंजाब की मिश्रित भाषा के स्वरूप को व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। इस सम्मिश्रण का एक परिणाम यह है कि पंजाबी और लहँदा के बीच किसी निश्चित सीमारेखा का निर्धारण कठिन है। यदि सुविधा की दृष्टि से ७४° पूर्व की देशान्तर रेखा को यह सीमा रेखा स्वीकार कर ले तो बहुत कुछ जो लहँदा के रूप में है, इसके पूर्व में तथा बहुत कुछ जो पंजाबी के रूप में है, इसके पश्चिम में पड़ेगा। पंजाबी की अपनी राष्ट्रीय लिपि है। यह राजपूताने की महाजनी तथा काश्मीर की शारदा लिपि से मिलती-जुलती है। यह लंडा[18*] के नाम से प्रख्यात है तथा इसकी लिखावट त्रुटिपूर्ण है। इसमें आदि स्वर के लिये केवल दो या तीन लिपि चिन्ह हैं तथा शेष स्थानों के लिये कोई स्वर नहीं है। इसके व्यंजन भी बिल्कुल अस्पष्ट हैं तथा इस लिपि के कई स्थानीय भेद भी हैं। लोगों को इसे पढ़ने में कठिनाई होती है और कभी-कभी तो स्वयं लिखने वाला अपना लिखा नहीं पढ़ पाता। परम्परानुसार सिक्खों के द्वितीय गुरु अंगद (१५३८-५२) ने अपने धर्म-ग्रंथों के श्लोकों को लिखने के लिये, नागरी-लिपि के कतिपय चिन्हों को अपनाकर इसमें सुधार किया था। इसप्रकार जो लिपि निर्मित हुई वह गुरुमुखी नाम से प्रख्यात हुई। इसे गुरुमुखी इसलिये कहा गया कि यह गुरु के मुख से प्रसूत हुई थी। पंजाब के सिक्ख अपनी पुस्तकों की छपाई में इसी लिपि

का प्रयोग करते हैं। कतिपय हिन्दू भी यह लिपि काम में लाते हैं। मुसलमान नियमतः फ़ारसी लिपि का प्रयोग करते हैं।[19*]

परिनिष्ठित पंजाबी अमृतसर के चारों ओर बोली जाती है। इसमें स्थानीय अन्तर उपलब्ध हैं। इसकी एक ही बोली 'डोगरी' है, जो जम्मू में प्रचलित है। कांगड़ा में इस बोली का जो रूप मिलता है उसके प्रत्ययों एवं रूप में किंचित अन्तर आ जाता है। इसकी अपनी लिपि टक्करी या टकारी है जिसकी उत्पत्ति 'टक्क' से हुई है। टक्क एक कबीले का नाम था जिसकी राजधानी शाकल[20*] थी। पंजावी में अल्प मात्रा में साहित्य है। यह साहित्य मुख्य रूप से लोकगीतों एवं लोकगाथा के रूप में उपलब्ध है। गुरुमुखी में लिखित गुरुग्रन्थ की सामग्री प्रायः पुरानी हिन्दी में है। इसके कतिपय महत्व-पूर्ण श्लोक पंजावी में भी हैं। मध्यदेश की भाषा से सम्बन्धित वस्तुतः पंजावी ही ऐसी भाषा है जिसमें फारसी या संस्कृत से बहुत कम शब्द ग्रहण किये गए हैं। सभी भावों को व्यक्त करने में समर्थ इसमें एक प्रकार की मनोहारी ग्राम्य छटा है, जिसमें इसके प्रयोग-कर्ता परिश्रमी कृषकों की शक्ति अभिव्यक्त होती है। कई बातों में इसका हिन्दी से वैसा ही सम्बन्ध है जैसा कि स्काटलैण्ड के निम्नभूमि के कवि बर्न की दक्षिणी (परिनिष्ठित) अंग्रेजी से है। एक और बात को जान लेने की आवश्यकता है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, पंजावी एकमात्र भारतीय आर्यभाषा है जिसमें सुर (टोन) उपलब्ध है। यह सुर वैदिक संस्कृत अथवा तिब्बती-चीनी भाषा की तरह है।[21*]

११. ठीक पंजाबी के दक्षिण राजस्थानी भाषा का क्षेत्र है। जिसप्रकार पंजाबी उत्तर-पश्चिम में हिन्दी के विस्तार का प्रतिनिधित्व करती है उसीप्रकार राजस्थानी इसके दक्षिण पश्चिम में हिन्दी का प्रतिनिधित्व करती है। विस्तार की इस यात्रा में हिन्दी राजस्थानी के क्षेत्र से होते हुए समुद्र तट पर गुजरात में पहुँचती है जहाँ यह गुजराती के नाम से अभिहित होती है। गुजराती एक अन्य मध्यवर्ती भाषा हैं। राजस्थानी तथा गुजराती में अति निकट का सम्बन्ध है और ये दोनों एक ही भाषा की दो पृथक बोलियाँ हैं[22*]। इसलिए यहाँ दोनों पर एक साथ विचार करेंगे। राजस्थानी की कई परम्परागत बोलियाँ हैं। इनके चार समूह हैं:—उत्तरी या मेवाती, दक्षिण पूर्वी या मालवी, पश्चिमी या मारवाड़ी तथा पूर्व मध्यमिकी या जयपुरी। इनमें से प्रत्येक की अनेक अनुबोलियाँ हैं। मारवाड़ी पश्चिमी राजस्थानी की तथा जयपुरी पूर्वी राजस्थानी की विशिष्ट बोलियाँ हैं। मेवाती जयपुरी के साथ की ही बोली है और यह जयपुरी को हिन्दी में अन्तर्मुक्त करती है। मालवी गुजराती का प्रति-निधित्व करती है और राजस्थानी भी हिन्दी में अन्तर्भुक्त हो जाती है। मारवाड़ी तथा जयपुरी दो बातों में एक दूसरे से पृथक हैं। जयपुरी के कर्मकारक में ओ परसर्ग का प्रयोग होता है और इसकी सहायक-क्रिया प्राचीन अह् धातु से प्रसुत है उधर मारवाड़ी के कर्म कारक में 'रो' विभक्ति का प्रयोग होता है और सहायक क्रिया 'हैं'

मिलती हैं। गुजराती में वोलियों का निश्चितरूप से अभाव है। किन्तु उत्तरी गुजराती तथा दक्षिणी में कई महत्वपूर्ण विन्दुओं में अन्तर है।

१२. मध्यदेश से राजपूताना तथा गुजरात में, प्रव्रजन की अनेक परम्परा हैं। इनमें सबसे पुरानी परम्परा है, गुजरात में द्वारका की स्थापना की जो महाभारत-काल में सम्पन्न हुई थी। जैन परम्परानुसार गुजरात का प्रथम चालुक्य शासक कनौज से आया था[23*] तथा नवीं शताब्दी के आरम्भ में, पश्चिमी राजपूताने के गुर्जरराजपूत भीलमाल या भीमाल ने शहर पर विजय प्राप्त की थी।[24*] मारवाड़ के राठौरों का कथन है कि वे १२वीं शती में वे वहाँ कनौज से गये।[25*] जयपुर के कछवाहे अपने को अयोध्या से आया हुआ बताते हैं।[26*] एक अन्य परम्परा के अनुसार चालुक्य अपने को पूर्वी पंजाब से वहाँ जाना बताते हैं।[27*] राजपूताने तथा गुजरात का निकट राजनैतिक सम्बन्ध इस ऐतिहासिक तथ्य से भी सिद्ध होता है कि मेवाड़ के गहलौत वहाँ सौराष्ट्र से प्रव्रजित हुए थे।[28*] राजपूतों के कई वंश प्रव्रजित गुंर्जरों की सन्तान हैं। इस बात को प्रायः कई विद्वान् अब मानने लगे हैं।[29*] इसके साथ ही विद्वान् अब इस तथ्य को भी स्वीकार करने लगे हैं कि प्रव्रजन का एक केन्द्र, राजपूताने में आबू पर्वत के निकट था।[30*] ऐसा प्रतीत होता है कि इन (गुर्जर) लोगों ने हूणों के साथ, छठीं शताब्दी में, भारत में, प्रवेश किया था तथा वे शीघ्र ही शक्तिशाली बन गये। मुख्यरूप से ये लोग पशुचारी थे किन्तु इनके साथ इनके सरदार और योद्धा भी थे। जब ये गुर्जर शक्तिशाली एवं महत्वपूर्ण बन गये तो ब्राह्मणों ने इन्हें क्षत्रिय रूप में स्वीकार कर लिया। इन्हें राजपुत्र अथवा राजपुत कहना आरम्भ किया। इनमें कुछ लोगों को ब्राह्मणों ने अपने में भी मिला लिया।[31*] इस कवीले के जिन अधिकांश लोगों ने पशुचारण का ही व्यवसाय अपनाया एक अधीनस्थ जाति के रूप में गुर्जर कहलाये। आज की भाषा में इन्हें गूजर कहते हैं।

१३. ये गुर्जर (पं० गूजर) इतने शक्तिशाली हो गये थे कि भारत के कम से कम चार क्षेत्रों का नामकरण इनके नाम पर हुआ। इनमें से दो हैं, पंजाब के गुजरात तथा गुजरानवाला सम्भाग तथा तीसरा गुजरात प्रदेश है। अलबेरुनी (९७०-१०३१) ने एक चौथे प्रदेश का भी उल्लेख किया है।[32*] डी० आर० भण्डारकर ने इस चौथे प्रदेश की जयपुर के उत्तरी-पूर्वी तथा पलवल के दक्षिण में शिनाख्त की है। भण्डारकर के अनुसार ये बाद वाले गूजर हिमालय के उस भाग से आये जो सपादलक्ष के नाम से प्रख्यात था। सपादलक्ष की स्थिति आज के कुमायूँ एवं गढ़वाल सम्भागों एवं उसके पश्चिमी भाग में था। पूर्वी राजपूताना में यही गूजर लोग आ बसे थे। यह आज भी ज्ञात नहीं है कि जो लोग, पश्चिमी राजपूताने में, केन्द्रित थे वे उसी (प्रथम) आक्रमण के परिणामस्वरूप भारत में प्रवेश किये अथवा वे गुजरात या उत्तर-पश्चिम से स्वतंत्ररूप में आये थे। यहाँ इतना ही कथन पर्याप्त होगा कि कुमायूँ एवं गढ़वाल

फा०—१०

की मध्य पहाड़ी (अर्थात् पूर्वी सपादलक्ष) की भाषा एवं पूर्वी राजस्थानी भाषा में, इस बात में साम्य है कि इनमें सम्बन्ध कारक का परसर्ग 'को' तथा सत्तार्थक क्रिया 'वाच' उपलब्ध है। इसके विपरीत पश्चिमी पहाड़ी, शिमला (पश्चिमी सपादलक्ष)की भाषा में, सम्बन्ध कारक की विभक्ति, पश्चिमी राजस्थानी की विभक्ति 'रो' है तथा सत्तार्थक क्रिया 'आ' (=है) है। इस 'आ' की व्युत्पत्ति सम्भवत: वही है जो पश्चिमी राजस्थानी 'है' की है। इसप्रकार यह स्पष्ट है कि पूर्वी राजस्थानी के व्याकरणिक संकेत का मध्यपहाड़ी से साम्य है तथा राजस्थानी के व्याकरणिक संकेत का पश्चिमी पहाड़ी से साम्य है। अब हम गुजरात की ओर चलते हैं। यही सम्बन्ध कारक की विभक्ति 'वो' है तथा सत्तार्थक क्रिया 'वाच्' वर्ग की है। हिमालय की पश्चिमी पहाड़ी के पश्चिम में हमें लहंदा की उत्तरी (पोठवारी) बोली मिलती है। यहाँ भी सम्बन्ध कारक की विभक्ति 'नो' है किन्तु सत्तार्थक क्रिया गुजराती से भिन्न है, दूसरी ओर गुजराती की लहंदा की सब बोलियां से, विशेषरूप से, इस बात में समानता है कि इसका भविष्यत्काल तालव्योष्म (श) से सम्पन्न होता है।[33*] इसप्रकार हम देखते हैं कि हिमालय के निचले भाग से, सिन्ध नदी से लेकर नेपाल तक तीन समूहों की बोलियाँ बोली जाती हैं जो विशिष्ट बिन्दुओं पर एक दुसरे से आश्चर्यजनक रूप में समानता रखती हैं। ये हैं :—गुजराती मारवाड़ी तथा जयपुरी।

१४. गुजरात तथा राजपूताने में तीन प्रकार की नागरीलिपि प्रचलित है। गुजरात के नागर ब्राह्मण[34*] नागरीलिपि का प्रयोग करते हैं। नागरीलिपि गुजरात तथा राजपूताना में सम्पूर्ण क्षेत्र में प्रचलित है। राजपूताने में पुस्तकें नागरीलिपि में प्रकाशित होती हैं किन्तु गुजरात में, नागर ब्राह्मणों के अतिरिक्त, एक प्रकार की कैथी लिपि का प्रयोग प्रचलित हैं। यह कैथी लिपि गंगा के कांठे में सर्वत्र प्रचलित है। इसका प्रयोग लेखन तथा कम महत्वपूर्ण दस्तावेजों में किया जाता है। गुजरात में इस (मोड़ी) लिपि का प्रयोग पुस्तकों तथा समाचार पत्रों के प्रकाशन में भी होता है। मारवाड़ में व्यापारी लोग महाजनी लिपि का प्रयोग करते हैं। यह लिपि पंजाब की लंडा तथा कश्मीर की शारदा की भाँति है।[35*] मारवाड़ी हिन्दुस्तान के महाजन (बैंकर) हैं। अपना हिसाव-किताव रखने के लिये, ये इस लिपि का प्रयोग सम्पूर्ण भारत में करते हैं।

१५. राजस्थानी में विपुल साहित्य है। यह बहुत कुछ अज्ञात है।[36*] इसका अधिकांश भाग चारणों द्वारा रचित पुराख्यात है। किन्तु मारवाड़ी में, पर्याप्त मात्रा में, काव्य-साहित्य है। मारवाड़ी के अधिकांश कवि, हिन्दी ब्रजभाषा में, काव्यरचना करते थे जो वहाँ पिंगल के नाम से प्रसिद्ध था। जब मारवाड़ी में, वे कविता लिखते थे, तो पिंगल के प्रतिरूप में वे उसे डिंगल कहते थे। गुजराती में चौदहवीं शताब्दी का पुराना काव्य-साहित्य है। इसके प्रथम और सर्वाधिक प्रसिद्ध कवि नरसिंह मेहता

थे जो सन् १४१३ ई० में पैदा हुए थे। इनके पूर्व यहाँ संस्कृत व्याकरण एवं काव्य-शास्त्र के कई लेखक थे। प्राकृत के प्रसिद्ध वैयाकरण हेमचन्द्र बारहवीं शताब्दी के मध्य में थे। उन्होंने नागर अपभ्रंश के सम्बन्ध में सामग्री प्रस्तुत की है। हम यहाँ स्पष्टरूप से कह सकते है कि केवल एक मात्र गुजराती ही ऐसी भारतीय भाषा है जिसमें वैदिककाल से लेकर बोलचाल की भाषा के स्तर तक श्रृंखला के रूप में सामग्री उपलब्ध है।

१६. अब यहाँ तीन पहाड़ी भाषाओं के सम्बन्ध में विचार किया जाता है। यहाँ पहाड़ी से तात्पर्य पहाड़ की भाषाओं से है। यहाँ इसका प्रयोग भारतीय आर्य-भाषा के तीन समूहों के लिए किया जाता हैं जो हिमालय के निचले भाग में पूरब में नेपाल से लेकर पश्चिम में भद्रवाह तक प्रचलित हैं। पूरब से पश्चिम की ओर चलकर यह क्रमशः पूर्वी पहाड़ी मध्य पहाड़ी तथा पश्चिमी पहाड़ी हैं।

१७. पूर्वी पहाड़ी को, साधारणतया यूरोपिय लोग, नेपाली या नैपाली कहते हैं। किन्तु यह नाम उपयुक्त नहीं है क्योंकि यह नैपाल की मुख्य भाषा नहीं है। उस राज्य की तिब्बतीवर्मी परिवार की नेवारी भाषा है। यह नेवारी और नेवार भी नैपाली से ही व्युत्पन्न हैं। पूर्वी पहाड़ी के लिए एक अन्य नाम पर्वतिया अथवा पहाड़ी भाषा या खस्कुरा है जिससे तात्पर्य खस् लोगों की भाषा से है। हम यहाँ तत्काल इस बात पर विचार करेंगे कि यह नाम उचित ही है। पूर्वी पहाड़ी की, जो पर्वतीय प्रदेश में बोली जाती है, अनेक बोलियाँ है। इनमें से एक 'पापला' बोली है जो पश्चिमी नैपाल में प्रचलित है। सिरामपुर के मिशनरी लोगों ने अभिनव बाईबिल (न्यू टेस्टामेन्ट) का अनुवाद इसमें किया है। नैपाल एक स्वतन्त्र देश है और इसमें यूरोपियन लोगों का प्रवेश निषिद्ध सा है। अतएव केवल पापला बोली का अनुवाद ही एक मात्र सूचना का आधार है। परिनिष्ठित बोली काठमाण्डू को घाटी की है और इसमें आधुनिक प्रकाशित साहित्य का अभाव है।[37*] पूर्वी नैपाली की बोली का हाल ही में दार्जिलिंग के मिशनरियों ने परिनिष्ठित व्याकरण लिखा है तथा इसी में बाइबिल का अनुवाद भी किया है। पूर्वी पहाड़ी के लिखने और प्रकाशन के लिये नागरी अक्षरों का प्रयोग होता है।

१८. मध्य पहाड़ी के अन्तर्गत कुमायूँ और गढ़वाल सम्भाग एवं गढ़वाल का राज्य आता है। इसकी दो मुख्य बोलियाँ हैं, कुमायूँनी तथा गढ़वाली। इधर कतिपय पुस्तकें कुमाऊँनी में लिखी गई हैं और दो तीन गढ़वाली के भी प्रकाशित हुई हैं। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, इन दोनों बोलियों के लिए नागराक्षरों का प्रयोग होता है।

१९. पश्चिमी पहाड़ी के अन्तर्गत अनेक सम्बन्धित बोलियाँ आती हैं। ये शिमला में बोली जाती हैं, जो भारत सरकार का राजनैतिक केन्द्र है। इन बोलियों के

परिनिष्ठित रूप उपलब्ध नहीं हैं और कतिपय लोक-गाथाओं के अतिरिक्त इनमें साहित्य का भी अभाव है। ये बोलियाँ यू० पी० के जौनसारबावर से आरम्भ होती हैं और पंजाब प्रान्त के सिरमौर राज्य शिमला पर्वत, कुल्लु मण्डी राज्य एवं चम्बा होते हुए काश्मीर राज्य की जागीर, भद्रवाह तक प्रचलित हैं। इसमें अनेक बोलियाँ हैं और एक दूसरे से इनमें पर्याप्त अंतर भी है। किन्तु इसके साथ ही पर्याप्त मात्रा में साम्य भी है। इनमें से जौनसारबावर की भाषा जौनसारी शिमला के चारों ओर बोली जाने वाली कॅंउठाली, कुल्लु की कुल्लुई और चम्बा की चमेआली प्रसिद्ध है। पश्चिमी पहाड़ी के लिए टक्करी या टकारी लिपि का प्रयोग होता है। पंजाब की डोगरी बोली भी इसी में लिखी जाती है, इसके सम्बन्ध में ऊपर उल्लेख हो चुका है। टकरी या टकारी लिपि स्वर वर्णों के अभाव में अपूर्ण है। इसमें मध्य में ह्रस्व स्वरों का उपयोग नहीं होता और मध्य दीर्घ स्वर के रूप में आदि में प्रयुक्त होने वाले ह्रस्व एवं दीर्घ स्वरों का प्रयोग होता है। चमेआली लिपि में लुप्त स्वरों के चिह्नों का प्रयोग होता है और इसी में पुस्तकें प्रकाशित होती हैं। ये उसी रूप में शुद्ध और सुपाठ्य हैं जिस रूप में नागरी में लिखित पुस्तकें होती हैं।

२०. यह सर्वमान्य है कि आज की सभी पहाड़ी भाषाएँ राजस्थानी से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित हैं। ऊपर इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि मध्य पहाड़ी (इसमें पूर्वी पहाड़ी को भी सम्मिलित किया जा सकता है) राजस्थान की बोलियाँ, विशेषरूप से, मेवाड़ी तथा जयपुरी से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित हैं। इसी-प्रकार पश्चिमी पहाड़ी, पश्चिमी राजस्थानी से निकट का साम्य रखती हैं। इस बात का भी उल्लेख हो चुका है कि मध्य एवं पश्चिमी पहाड़ी के क्षेत्र वही हैं, जो प्राचीन सपादलक्ष का था। अब यहाँ इस बात पर विचार किया जाएगा कि इन भाषाओं की उत्पत्ति कैसे हुई।[38*] आधुनिक सपादलक्ष की अधिकांश जनसंख्या कृषि का व्यवसाय करती हैं। पश्चिम में इसमें कानेत तथा पूरब में खस कबीले[39*] के लोग रहते हैं। कानेथ लोग दो उपजातियों में विभक्त हैं। इनमें से एक खसिया है। ये लोग शुद्ध उपजाति के हैं। इसकी दूसरी उपजाति राव (राजा तथा राजपूत) लोगों की है जो इस बात को स्वीकार करते हैं कि वे निम्न उपजाति के लोग हैं। यहाँ के जो सरदार या मुखिया हैं वे अपने को राजपूतों का वंशज बतलाते हैं। इसप्रकार यह स्पष्ट है कि आधुनिक सपादलक्ष में, अधिकांश ऐसे लोग हैं जो अपने को खस या खसिया नाम से अभिहित करते हैं। इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि ये महाभारत-काल के खश, खष अथवा खशी हैं। पिशाच लोगों की तरह ये लोग कश्यप के वंशज हैं। कश्यप ने ही कश्मीर की स्थापना की थी। राजतरंगिणी एवं महाभारत में इनका बराबर उल्लेख मिलता है और इनका सम्बन्ध उत्तर-पश्चिम से बताया गया है। कश्मीरियों तथा पिशाचों से भी सम्बन्ध प्रतीता होता है। ये मूलतः आर्य थे।

किन्तु अशुद्ध जीवन[40*] व्यतीत करने से इन्हें पिशाच कहा गया है। हरिवंश पुराण तथा स्मृतियों में इनका स्थान उत्तर-पश्चिम[41*] बताया गया है। स्टाइन ने यह सिद्ध किया है कि कल्हण के समय में ये लोग पीरपंजाल की घाटी के दक्षिण-पश्चिम में एवं वितस्ता और कास्टवात (आधुनिक किश्तवार) के बीच रहते थे। इसके बाद ये पूरब की ओर बढ़े और सम्पूर्ण सपादलक्ष में फैल गये। इन लोगों ने यहाँ के आदिवासियों को, जो अनार्य जाति के मुंडा लोग थे,[42*] जीत लिया और अपने में समाहित कर लिया था। बाद में १६वीं शती में ये लोग नेपाल की ओर बढ़े और वहाँ के तिब्बती, बरमी एवं मुंडा लोगों से मिश्रित होकर खस अथवा उस देश के शासक कहलाए।[43*]

२१. संस्कृत-साहित्य में, खशों के साथ पिशाचों का बारम्बार उल्लेख मिलता है। ये लोग आधुनिक पिशाच भाषा की तरह ही भाषा बोलते होंगे। सम्पूर्ण सपादलक्ष में इस भाषा के अवशेष मिलते हैं। किन्तु ज्यों-ज्यों हम पूर्व की ओर[44*] बढ़ते हैं, यह कम होता जाता है। गुर्जर, आधुनिक गूजर लोग, सर्वप्रथम भारत में पाँचवीं या छठीं शताब्दी[45*] में आये। डी० आर० भाण्डारकर के अनुसार इन्होंने सपादलक्ष को अपने अधिकार में किया। यहाँ ये लोग खश लोगों में मिश्रित हो गये, जो पहले से ही यहाँ थे। पश्चिमी समादलक्ष में ये कानेत लोगों के राव उपजाति में परिणत हो गये, किन्तु पुराने खशिया कानेत लोगों के समान इन्हें प्रतिष्ठा एवं मर्यादा नहीं प्राप्त हुई। पूर्वी सपादलक्ष में ये बहुसंख्यक खश लोगों में पूर्णतः मिश्रित हो गये। ये वे गूजर थे जो कृषि कर्म अथवा पशु-पालन में प्रवृत्त हुए। इनमें जो युद्धप्रिय थे, वे राजपूत बन गये। सपादलक्ष से गुर्जर लोग मेवात की ओर प्रव्रजित हुए और यहाँ से ये पूर्वी राजपूतानों में जाकर बस गये। बाद में मुस्लिम शासन के दबाव के फलस्वरूप अनेक राजपूत पुनः सपादलक्ष चले आये और यहीं बस गये। वास्तविक बात तो यह है कि सपादलक्ष एवं राजपूताना में आवागमन का क्रम बराबर जारी रहा।[46*] अन्ततोगत्वा, जैसा कि हम देख चुके हैं, खश जाति ने नेपाल पर विजय प्राप्त की। इनमें अनेक गूजर राजपूत भी शामिल थे।[47*] इसप्रकार तीन पहाड़ी भाषाओं तथा राजस्थानी का पारस्परिक सम्बन्ध यहाँ पूर्णरूप से स्पष्ट हो जाता है।

२२. अन्त में, जैसा कि वी० स्थिम[48*] ने स्पष्ट किया है, कुछ गुर्जर लोग, जो पूर्वी राजपूताना में बस गये थे, उत्तर-पश्चिम की ओर प्रव्रजित हुए और दक्षिण-पूर्व से पंजाब पर आक्रमण किये। मेवात से लेकर यमुना के कांठे के दोनों किनारों और वहाँ से हिमालय के निचले भाग से होते हुए सिन्धु नदी तक इन गूजरों के उपनिवेश मिलते हैं। मैदानी भाग में जहाँ वे बस गये हैं, ये अपनी भाषा भूल चुके हैं और अपने चारों ओर के लोगों की भाषा का प्रयोग करते हैं, किन्तु जैसे-जैसे हम निचले पर्वत की ओर बढ़ते हैं वैसे-वैसे एक स्थानीय बोली जो गूजरी कहलाती है, हमें मिलती है। प्रत्येक दशा में यह स्थानीय गूजर लोगों की भाषा है, लेकिन यह

अपने मूलरूप में नहीं बोली जाती और ऐसा लगता है, मानों इसे विदेशी लोग बोल रहे हैं। आगे जब हम पहाड़ों में छिपपुट बसे हुए लोगों की ओर बढ़ते हैं तो यह गूजर बोली हमें उपलब्ध होती है। इस पर आस-पास की बोलियों का बहुत कम प्रभाव है। अन्ततोगत्वा, जब हम स्वात एवं कश्मीर के जंगली पहाड़ी क्षेत्र की ओर बढ़ते हैं, तो हम लोग यायावर गूजर लोगों (यहाँ ये गुजूर कहलाते हैं) को आज भी अपना मूल पशु-चारण कर्म में लगा हुआ पाते हैं और ये वही भाषा बोलते हैं जिसे इनके पूर्वज मेवाड़ से लाये थे। लेकिन इस भाषा में इनकी लम्बी यात्रा के शेष चिन्ह भी वर्तमान हैं। इसमें यमुना के कांठे की हिन्दुस्तानी के पुराने वाक्य और मुहावरे उपलब्ध होते हैं जिसे इन्होंने रास्ते में ग्रहण किया था और सुदूर दर्दिस्तान के पर्वतों तक ले गये थे। इसप्रकार हम देखते हैं कि हिमालय के निम्न भाग में दो प्रकार की गूजर भाषाएँ प्रचलित हैं। इनमें से प्रथम गूजरों की मिश्रित भाषा है। इन लोगों ने सपादलक्ष के खशों को विजित किया था और वे लोग यहाँ से मेवात की ओर प्रव्रजित हुए थे। इसके अतिरिक्त स्वात और काश्मीर की गूजरी भाषा है। यह भाषा इन लोगों के द्वारा हिमालय की ओर पहुँची थी।

२३. आगे मध्यवर्ती भाषाओं के सम्बन्ध में विचार किया जाता है। ये सभी हिन्दी के पश्चिम में अवस्थित हैं। इसके पूर्व में, इसे बिहारी से पृथक करती हुई, एक अन्य मध्यवर्ती भाषा, पूर्वी हिन्दी है। बाहरी उपशाखाओं की भाषाओं की अपेक्षा, पश्चिमी मध्यवर्ती भाषाएँ हिन्दी से अधिक सम्बन्धित है। ज्यों-ज्यों हम बिखराव के केन्द्र (मध्यदेश) से हम दूर जाते हैं, बाहरी उपशाखा की भाषाओं में हिन्दी के कुछ मुख्य तत्त्वावशेष ही मिलते हैं। इसके विपरीत पूर्वी हिन्दी पर्याप्त मात्रा में एक रूप भाषा है। इस पर मध्यदेश तथा बाहरी उपशाखा की भाषा, दोनों की छाप है। नियमतः संज्ञा' रूप अधिकतर, बाहरी उपशाखा की पूर्व की भाषाओं के समान हैं। क्रिया के रूपों में यह अधिकतर मिश्रण है। इसके कई रूप मध्यदेश की भाषा के समान हैं किन्तु इसके विपरीत कतिपय रूप, बाहरी उपशाखा की भाषा से विशेषरूप से समानता रखते हैं।[४०*] मुख्यरूप से पूर्वी हिन्दी की तीन बोलियाँ हैं। ये हैं :—अवधी जिसका परिनिष्ठित रूप अवध में बोला जाता है, बघेली, यह बघेलखण्ड में बोली जाती है, छत्तीसगढ़ी, यह छत्तीसगढ़ की बोली है। इसका क्षेत्र बघेलखण्ड के दक्षिण-पूर्व तथा महानदी द्वारा सिंचित ऊपरी प्रदेश है। अवधी को कभी-कभी बैंसवाड़ी भी कहते हैं। बैस राजपूतों के कारण इसका यह नाम है, किन्तु वास्तव में यह नाम अवधी के उस रूप के लिये उपयुक्त है जो इसके दक्षिणी-पश्चिमी भाग में प्रचलित है। अवधी का दूसरा नाम कोसली है। प्राचीनकाल में, यह प्रदेश कोसल के नाम से प्रख्यात था। अवधी और बघेली में नाम मात्र का अन्तर है। यथार्थतः दोनों एक ही बोली के रूप हैं। छत्तीसगढ़ी, पर्वत-श्रेणियों से पृथक है और वह अधिक

स्वतंत्र है। पूर्वी हिन्दी के लेखन में नागराक्षरों का प्रयोग होता है किन्तु कम महत्व-पूर्ण दस्तावेजों और कागजपत्रों में कैथी लिपि का प्रचलन है। इसके कतिपय महत्व-पूर्ण हस्तलिखित-ग्रंथ कैथी में उपलब्ध हैं। कम से कम पन्द्रहवीं शताब्दी से, अवधी में उच्च साहित्य की रचना प्रचलित है। मध्यकाल के सर्वोत्कृष्ट महान एवं हिन्दी रामायण (रामचरित मानस) के प्रणेता कवि तुलसीदास ने अपनी कृति में, अवधी के प्राचीनरूप का प्रयोग किया है। इनके समय से, अवधी में रामकाव्य की रचना हो रही है। इसके विपरीत व्रजभाषा में कृष्णकाव्य का गायन हुआ है।

२४. अब यहाँ बाहरी उपशाखा की भाषाओं पर विचार किया जाता है। अन्य अन्तरों के अतिरिक्त इस उपशाखा की भाषाओं तथा मध्यदेश की भाषा में एक विशेष अन्तर है जो यहाँ उल्लेखनीय है। यह अन्तर यह है कि एक ओर जहाँ हिन्दी-व्याकरण मूलत: विश्लेषणात्मक है, वहाँ दूसरी ओर बाहरी उपशाखा की भाषाएँ इस अवस्था को पारकर, अपनी पूर्वज संस्कृत की भाँति संश्लिष्टावस्था में प्रवेश कर रही हैं। यह सही है कि इनमें, अधिकांश में, संज्ञा क्रियारूपों में, सर्वनाम के लघुरूपों के प्रत्यय रूप में संयुक्त हो जाने से ये विशेषरूप में, संश्लिष्ट हो गई हैं। मध्यवर्ती भाषाओं में भी पश्चिमी भाषाएँ—पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती एवं पहाड़ी—इस विषय में मध्यदेश की भाषाओं के ही समान हैं किन्तु पूर्वी हिन्दी बाहरी उपशाखा की भाषाओं के अनुरूप है।

जैसी कि (सूची ३) में प्रदर्शित किया गया है बाहरी उपशाखा की भाषाएँ, तीन समूहों में विभक्त हैं। इनमें प्रथम उत्तर-पश्चिम समूह है जिसके अन्तर्गत लहँदा और सिन्धी भाषाएँ आती हैं। ये दोनों भाषाएँ विशेषरूप से जटिल हैं तथा इन पर पास की, उत्तर की, आधुनिक पिशाच भाषाओं का अत्यधिक प्रभाव है।

२५. लहंदा पश्चिमी पंजाब की भाषा है। जैसा कि पंजाबी के अन्तर्गत स्पष्ट किया जा चुका है, लहँदा और पंजाबी के बीच कोई सीमा रेखा नहीं है, किन्तु परम्परा से ७४° पूर्व देशान्तर को सीमा मान लिया गया है। भारत की अन्य भाषाओं की सीमा के सम्बन्ध में यही बात है। यहाँ एक भाषा दूसरे में शनैः-शनैः अन्तर्मुक्त हो जाती है और दो भाषाओं के बीच सीमा निर्धारण करना कठिन हो जाता है। आधुनिक पिशाच भाषाओं का लहँदा पर प्रभाव उस समय स्पष्ट हो जाता है, जब हम इस तथ्य को हृदयंगम करते हैं कि जिस प्रदेश की यह भाषा है वह प्राचीन युग में केकय देश था। प्राकृत-वैयाकरण, पैशाची के प्रदेश के सम्बन्ध में विचार करते हुए, एक दूसरे से बिल्कुल विपरीत मत प्रकाशित करते हैं किन्तु केकय[6]* देश के सम्बन्ध में सभी सहमत हैं। लहँदा के कई अन्य नाम भी हैं। ये हैं—पश्चिमी पंजाबी, जटकी, उच्ची और हिन्दकी। लहँदा का अर्थ है सूर्यास्त। दूसरे शब्दों में यह अर्थ पश्चिम दिशा को द्योतित करता है। भाषा के सम्बन्ध में, लहँदा शब्द 'लहँदे-दी-

बोली' (पश्चिम की बोली) का संक्षिप्तरूप है। पश्चिमी पंजाबी कहने से यह असुविधा है कि लोग इसे पंजाबी की बोली मान लेते हैं, जो वास्तविक तथ्य नहीं है। जटकी से तात्पर्य यह है कि यह जट्ट लोगों की भाषा है जो लहँदा के मध्य क्षेत्र में अधिक संख्या में बसे हुए हैं किन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सहस्त्रों ऐसे व्यक्ति यहाँ हैं जो जट्ट नहीं हैं किन्तु लहँदा बोलते हैं। इसके विपरीत पूर्वी पंजाब के हजारों लोग जट्ट या जाट लहँदा नहीं बोलते। उच्ची, उच्च नगर(शहर)की भाषा है। यह लहँदा की मुल्तानी बोली का नाम है। हिन्दकी से तात्पर्य हिन्दुओं की अथवा पठान से इतर लोगों की से भाषा है। यह नाम इसे लहँदा के पश्चिमी प्रदेश के पश्तों भाषी पठानों ने दिया है।

लहँदा की चार बोलियाँ हैं। इनमें एक मध्य बोली है जो नमक के पर्वत (साल्ट रेंज) के दक्षिण में बोली जाती है। यह परिनिष्ठित बोली है। दूसरी दक्षिणी या मुल्तानी है जो मुल्तान के चारों ओर प्रचलित है। तीसरी उत्तरी-पूर्वी बोली है। इसे पोठवारी भी कहते हैं। यह पूर्वी तथा पश्चिमी नमक पर्वत (साल्ट रेंज) के भू-भाग तथा उत्तर में कश्मीर की सीमा तक प्रचलित है। चौथी बोली उत्तरी-पश्चिमी अथवा धन्नी है। यह मध्य नमक पर्वत (साल्ट रेंज) तथा उत्तर की ओर बोली जाती है। इसकी उत्तरी सीमा हजारा जिला है जहाँ यह शिणा से मिलती है। शिणा एवं कश्मीरी दोनों पिशाच भाषाएँ हैं।

लोकगाथा तथा लोक-गीतों के अतिरिक्त लहँदा में कोई साहित्य नहीं है। यह लंडा लिपि में लिखी जाती है। इसके सम्बन्ध में पंजाबी के अन्तर्गत उल्लेख किया जा चुका है, किन्तु यह बहुत अस्पष्ट लिपि है। अतः लंडा के स्थान पर फारसी लिपि का प्रयोग होने लगा है। योरप के लोग इसके लेखन में रोमन लिपि का प्रयोग करते हैं।

२६. सिन्धी, सिन्ध की भाषा हैं। यह सिन्ध नदी के दोनों किनारों पर २९ अंश उत्तरी अक्षांश रेखा से आरम्भ होकर समुद्र तट तक विस्तृत है। उत्तर में यह लहँदा में अन्तर्भुक्त हो जाती है जिससे यह घनिष्ट रूप में सम्बद्ध है। सिन्धी प्रसिद्ध व्राचड देश की भाषा है। प्राकृत वैयाकरणों ने व्राचड अपभ्रंश तथा व्राचड पैशाची[51*] दोनों का, उल्लेख किया है। सिन्धी की पाँच मान्य बोलियाँ हैं। ये हैं:— विचोली, सिरैकी, लाड़ी, थरेली एवं कच्छी। इनमें से प्रथम, मध्य सिन्ध में बोली जाती है। यह परिनिष्ठित भाषा है तथा साहित्य में इसका व्यवहार होता है। सिरैकी, विचोली का ही एक रूप है और यह वास्तविक बोली नहीं है। इसमें केवल यह विशेषता है कि इसका उच्चारण स्पष्ट है तथा इसके शब्द-समूह में किंचित अन्तर है। सिन्धी में 'सिरो' से किसी वस्तु के सिर से तात्पर्य है और 'सिरैकी' का अर्थ है बहाव की ओर की धारा अथवा उत्तर की ओर की भाषा। यह लाड़ या निचले

सिन्ध के विपरीत दिशा की भाषा है। सिंधी लोगों के अनुसार 'सिरेकी' सबसे शुद्ध सिंधी भाषा है। सिंधी भाषा में एक कहावत प्रचलित है जिसके अनुसार लाड़-भाषा का विद्वान् 'सिरों' भाषा में बैल के समान है। इस संदर्भ में यह स्मरणीय है कि जहाँ तक स्थान के नाम का सम्बन्ध है 'सिरों' अथवा 'ऊपरी प्रवाह का देश' सापेक्षिक शब्द है और इसका अर्थ स्थान एवं वक्ता के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। जो लोग सिन्धु नदी के निचले भाग में रहते हैं, उनके लिए 'सिरों' का विस्तार अपेक्षाकृत अधिक है और लाड़-भाषा के बोलने वाले लोगों की दृष्टि से इसके अन्तर्गत 'विचोली' मध्यसिन्धी भी आ जाती है। जैसा ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि 'लाड़ी' लाड़ भाषा है, यह गँवारू अथवा अपरिष्कृत एवं 'भद्दी' भाषा है। किन्तु इसकी विशेषता यह है कि इसमें भाषा के प्राचीन, अनेक महत्त्वपूर्ण रूप विद्यमान हैं। इसमें आधुनिक पैशाचों की एक बड़ी विशेषता यह उपलब्ध है कि इसमें संघोष व्यंजन ध्वनियाँ, अघोष में परिणत हो जाती हैं, किन्तु 'विचोली' में ऐसा नहीं होता। 'थरेली' एवं 'कच्छी' दोनों मिश्रित बोलियाँ हैं। इनमें से 'थरेली' थार अथवा रेगिस्तानी प्रदेश में बोली जाती है। वास्तव में 'थार' का मरुस्थल ही सिन्ध और मारवाड़ के बीच की राजनैतिक सीमा है। यह सिन्धी की वह बोली है जो कि 'राजस्थानी-मारवाड़ी' में अन्तर्मुक्त हो जाती है। दूसरी ओर 'कच्छी', सिन्धी और 'गुजराती' का मिश्रण है। यह कच्छ में बोली जाती है। सिन्धी में, साहित्य-रचना अल्पमात्रा में हुई है और इसमें थोड़ी ही प्रकाशित पुस्तकें प्राप्त हैं। इसके लेखन में 'लंडा-लिपि' का प्रयोग होता है और स्थान के अनुसार इस लिपि में परिवर्तन भी होता रहता है, इस लिपि को पढ़ने में बड़ी कठिनाई होती है। इससे लेखन में गुरुमुखी और 'नागरी-लिपि' का भी प्रयोग होता है किन्तु अधिकतर यह सुधरी हुई फारसी-लिपि में लिखी जाती है।

२७. दक्षिण में सिंधी की कच्छी बोली के साथ ही बाहरी उपशाखा की भारतीय आर्य-भाषा का सिलसिला टूट जाता है और गुजराती भाषा का क्षेत्र प्रारम्भ हो जाता है। यद्यपि गुजराती मध्यवर्ती शाखा की भाषा है तथापि इसके उत्तरी भाग में बाहरी उपशाखा की भाषा के अनुकूल अवशेष मिलते हैं। यह उस युग की भाषा के रूप हैं जब गुजरात में मध्यदेश[६३*] की भाषा प्रचलित नहीं हुई थी। गुजराती के दक्षिण में हमें बाहरी उपशाखा की मराठी भाषा मिलती है। महाराष्ट्री प्राकृत की महती-पुत्री 'मराठी' दक्षिण के पठारों के उत्तरी-भाग तथा घाट एवं अरब सागर के बीच की पट्टी में, व्यवहृत होती है। यह बरार तथा प्राचीन विदर्भ एवं इसके पूर्व के क्षेत्र में प्रचलित है। मध्य-प्रदेश के मध्य-भाग में भी यह फैली हुई है और इसका एक भ्रष्टरूप बस्तर राज्य में भी प्रचलित है। यहाँ यह 'भतरी-बोली' के माध्यम से उड़िया में अन्तर्भुक्त हो जाती है। इसके दक्षिण में द्रविड़-भाषाओं का क्षेत्र है।

इसके उत्तर-पश्चिम तथा पूर्व में क्रमशः गुजराती, राजस्थानी, हिन्दी एवं पूर्वी हिन्दी का क्षेत्र है। इनमें से गुजराती, राजस्थानी एवं हिन्दी का सम्बन्ध मध्यदेश की भाषा से है। 'मराठी' इनमें से किसी की भाषा में अन्तर्भुक्त नहीं होती और मराठी तथा इन सब के बीच सर्वत्र एक अन्तर की रेखा विद्यमान है। पूर्व में कई बिन्दुओं पर मराठी और इसके पड़ोस की पूर्वी हिन्दी की छत्तीसगढ़ी में साम्य है। यह धीरे-धीरे उड़िया में अन्तर्भुक्त हो जाती है, जिससे इसका नैकट्य है। उड़िया, वास्तव में बाहरी उपशाखा की भाषा है।

२८. मराठी की तीन मुख्य बोलियाँ हैं। परिनिष्ठित मराठी सामान्यरूप से देशी मराठी कहलाती हैं। यह अपने अत्यधिक शुद्धरूप में पूना के आस-पास में बोली जाती है। इसी के अन्य रूप उत्तरी एवं मध्य कोंकण में व्यवहृत की जाती है. किन्तु असली कोंकणी, दक्षिण कोंकण में, गोवा के पास के क्षेत्र में बोली जाती है। यह बोली इन कोंकणी बोलियों से सर्वथा भिन्न हैं। तीसरी बोली बरार की मध्य प्रदेश की मराठी है जो परिनिष्ठित मराठी से, विशेषरूप से, उच्चारण में भिन्न है। हल्बी, बस्तर में बोली जाती है। यह मराठी तथा द्रविड भाषा का संकर एवं मिश्रण है। मराठी में लेखन एवं प्रकाशन नागराक्षरों में होता है। पत्राचार में मोड़ीलिपि का प्रयोग होता है। इस मोड़ी लिपि के आविष्कर्ता, शिवा जीं के सचिव (१६२७-८०) बालाजी[53*] आवाजी थे। कोंकणी के लेखन के लिए कन्नड़-लिपि का प्रयोग होता है, किन्तु यहाँ के देशी ईसाई रोगनलिपि का प्रयोग करते हैं। मराठी में विपुल साहित्य है और इसमें कई महत्वपूर्ण काव्य-ग्रंथों की रचना हुई है। जैसा कि बीम्स ने कहा है, यह उन भाषाओं में है जिन्हें मनोरंजक कहा जा सकता है। इसमें अनेक प्रकार के आनन्ददायक ध्वन्यात्मक शब्द मिलते हैं तथा अन्य भाषाओं की अपेक्षा इसमें द्वितीय तथा तृतीय प्रकार के लघुतावाची शब्दों की भरमार है। विश्लेषणात्मक हिन्दी से तुलना करने पर, संश्लिष्ट मराठी में, जटिल व्याकरणिक व्यवस्था मिलती है। इस संदर्भ में हिन्दी से मराठी का वही सम्बन्ध है जो यूरोप में अंग्रेजी का जर्मन से है। एक महत्वपूर्ण बात में मराठी अन्य भारतीय आर्यभाषाओं से भिन्न है। इसमें प्राचीन वैदिक भाषा के स्वराघात के अवशेष मिलते हैं जो निर्बल बलाघातों में परिणत हो जाते हैं। आधुनिक अन्य आर्यभाषाओं के उच्चारण के आधार की व्यवस्था में एक अभिनव प्रकार का बलाघात उपलब्ध होता है और यह यथा सम्भव प्रत्येक शब्द के उपान्त पर होता है।[54*]

२९. बाहरी उपशाखा के पूर्वी समूह की भाषाओं के सम्बन्ध में विचार करते समय सर्वप्रथम बिहारी का नाम आता है। बिहारी का क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत है। इसके बिस्तार क्षेत्र के अन्तर्गत सम्पूर्ण बिहार तथा छोटा नागपुर एवं यू० पी० (आगरा एवं अवध) के पूर्वी भाग भी आते हैं। इसकी पूर्वी सीमा पूर्णिया, सम्भाग की

महानन्दा नदी है तथा पश्चिम में बनारस (वाराणसी) के आगे तक यह विस्तृत है। इसकी उत्तरी सीमा पर हिमालय तथा दक्षिणी में सिंहभूमि का संभाग है जो छोटा नागपुर के अन्तर्गत आता है। बिहारी के केन्द्र में पटना और गया संभाग हैं, जो दोनों मिलकर प्राचीन मगध साम्राज्य के अंग हैं। यहाँ पर यह बात उल्लेखनीय है कि बिहारी में आज भी मागधी प्राकृत की दो विशेषताएँ मिलती हैं।[55*]

३०. मुख्य रूप से बिहारी की तीन बोलियाँ हैं। ये हैं—मैथिली, मगही और भोजपुरी। मैथिली या तिरहुतिया, प्राचीन एवं आधुनिक मिथिला एवं तिरहुत की भाषा है। उत्तरी बिहार का अधिकांश भाग इसका क्षेत्र है। इसका परिनिष्ठित रूप दरभंगा के उत्तर में उपलब्ध है। इसमें अल्प साहित्य है तथा इसके साहित्य का समारम्भ पन्द्रहवीं शताब्दी से होता है। मगही, पटना एवं गया संभाग एवं उसके आस-पास की बोली है। छोटा नागपुर के उत्तरी प्लेटों तक इसका विस्तार है। यह प्राचीन मगध की[56*] भाषा, प्राचीन मागधी का आधुनिक प्रतिनिधि है। व्याकरण एवं शब्द-समूह के सम्बन्ध में, यह मैथिली की अति निकट की भाषा है। इसमें साहित्य का अभाव है। मगही एवं मैथिली के क्रियारूप अत्यन्त जटिल हैं। ये क्रियारूप केवल कर्ता का ही अनुगमन नहीं करते अपितु कर्म के पुरुष एवं प्रतिष्ठा के स्तर का भी ये अनुसरण करते हैं। भोजपुरी,[57*] मैथिली एवं मगही से अत्यधिक पृथक है। यह बिहारी के क्षेत्र के पश्चिमी भाग में बोली जाती है तथा छोटा नागपुर के दक्षिणी प्लेटों तक इसका विस्तार है। इसमें बिहार की अन्य दो बोलियों, मैथिली तथा मगही के जटिल क्रियारूपों का अभाव है। यह सरज एवं ऋजुभाषा है। इन तीनों बोलियों का यह अन्तर इनके संजातीय अन्तर के अनुरूप है। मैथिली ऐसे लोगों की भाषा है जिस पर शक्तिशाली ब्राह्मणों का आधिपत्य है। ये ब्राह्मण कर्मकाण्ड विषयक शुद्धता पर अधिक बल देते हैं। मैथिली की एक प्रसिद्ध कहावत है तीन तिरहुतिया तेरह चूल्हा। यदि तीन तिरहुतिया (=मैथिल) ब्राह्मण एक स्थान पर एकत्र हो जाएँगे तो अपवित्रता के डर से न तो वे एक साथ भोजन बनाएँगे और न एक साथ भोजन करेंगे।) तिरहुत, ब्रिटिश इंडिया(=अब भारत) का अति घना बसा हुआ प्रदेश है। यहाँ के रहने वाले बाहर के लोगों से बहुत कम सम्बन्ध-सम्पर्क रखते हैं। मगध 'बाभनों' का देश है। वास्तव में ये बाभन जाति भ्रष्ट ब्राह्मण हैं और सम्भवतः इनका सम्बन्ध बौद्ध लोगों से था। मगध, उत्तरी भारत तथा उर्वर बंगाल के राजपथ पर स्थित है। यह बंगाल का राजनैतिक द्वार है। मध्ययुग में इस पर मुसलमानी सेना के अनेक आक्रमण हुए थे और भगवन् बुद्ध ने यहाँ के लोगों को जो आध्यात्मिक शिक्षाएँ दी थीं उसे ये लोग भूल चुके हैं। शताब्दियों से यहाँ की जनता उत्पीड़न का शिकार रह चुकी है। यहाँ के लोग, विशेषरूप के कृषक, निरक्षर एवं उद्यमहीन हैं। इसके विपरीत, भोजपुरी बलिष्ट एवं संयोधा जाति के लोग हैं। भृतक सैनिक अथवा इसीप्रकार के

अन्य व्यवसायों में रत ये लोग सम्पूर्ण भारत में फैले हैं। पूर्वी भारत के ये संयोधा लोग हैं और इनकी बोली अपरिष्कृत किन्तु सुविधाजनक वस्तु है। यह बोली दैनिक जीवन के उपयोग के लिये है तथा इसमें व्याकरणिक सूक्ष्मताओं का अभाव है।

३१. विहार में तीन लिपियों का प्रयोग होता है। मैथिल ब्राह्मणों को छोड़ कर, अन्य लोग, सार्वभौम रूप में, कैथी-लिपि का प्रयोग करते हैं। इसका प्रयोग इसी रूप में होता है जैसे हम लोग अपनी लिपि का (रोमन-लिपि) प्रयोग करते हैं। पुस्तकों के प्रकाशन में नागरी-लिपि व्यवहृत होती है। मैथिल-ब्राह्मण एक विशेष लिपि का प्रयोग करते हैं। यह पड़ोस की बंगला लिपि से बहुत मिलती-जुलती है।

३२. उड़िया, ओड्री या उत्कल उड़ीसा की भाषा है। भारत के निवासी इसे ओड्री या उत्कल कहते हैं। इसकी पूर्वी-सीमा पर समुद्र है और अन्य दिशाओं में यह प्रदेश की सीमा से आगे तक प्रचलित है। एक स्थान से दूसरे स्थान में इसमें यत्किंचित अन्तर आ जाता है। इसमें कोई स्वीकृत बोली नहीं है। केवल दक्षिण-पश्चिम में उड़िया, मराठी और द्रविड़ भाषाओं का एक मिश्रित रूप मिलता है जिसे 'भतरी' के नाम से अभिहित किया जाता है। इसी के द्वारा उड़िया मराठी में अन्तर्भुक्त हो जाती है। उड़िया में विपुल साहित्य है। यह कृष्णभक्ति से सम्बन्धित है। इसकी अपनी पृथक लिपि है जिसका वर्णन लिपि के अध्याय में किया जायेगा।

३३. बंगला,[५८*] यह बंगाल की भाषा है। यह बंगाल का वह भाग है जहाँ पर गंगा का डेल्टा और इससे सटा हुआ उत्तर-पूर्व का भू-भाग है। इसमें विपुल साहित्य है। जिसका समारम्भ चौदहवीं शती[५९*] से होता है। १९वीं शती के आरम्भ से संस्कृत शब्दों को अधिक मात्रा में ग्रहण करने के कारण, शब्द-समूह की दृष्टि से यह साहित्य इतना विकृत हो गया है जिससे जो लोग इससे परिचित नहीं हैं, उनके लिए, इसका समझना नितान्त कठिन है। उन्नीसवीं शती की बंगला पुस्तक के यदि किसी एक पृष्ठ का अवलोकन किया जाय तो उसकी शब्दावली विशुद्ध संस्कृत की मिलेगी। हाँ, यह दूसरी बात है कि कहीं-कहीं आधुनिक प्रत्यय इसमें समाविष्ट मिल जायेंगे। इसप्रकार साहित्यिक बंगला बोलचाल की बंगला से सर्वथा भिन्न है। बोलचाल की बंगला के तीन मुख्यरूप हैं। ये हैं :—पश्चिमी, उत्तरी एवं पूर्वी। प्रत्येक के अनेक स्थानीय भेद हैं। चूंकि साहित्यिक-भाषा बोल-चाल की भाषा के आधार पर निर्मित नहीं हुई है, अतः बोल-चाल की भाषा का कोई ऐसा साहित्यिक-रूप नहीं है जो इस भाषा को विविध बोलियों में विखंडित होने से बचा सके। पश्चिमी बोली का परिनिष्ठित रूप हुगली के आस-पास प्रचलित है। उत्तरी बोली, गंगा के उत्तर के प्रदेश में बोली जाती है और इसका कोई विशेष परिनिष्ठित रूप नहीं है। यह एक विचित्र बात है कि कुछ बातों में यह अपनी सजातीय उड़िया के समान है, जो सम्पूर्ण पश्चिमी बंगाल द्वारा इससे पृथक् है। पूर्वी बंगला का परिनिष्ठित रूप ढाका के आस-

पास मिलता है। लेकिन यहाँ भी स्थान-भेद से इसके अनेक रूप मिलते हैं। इसका एक सुस्पष्ट रूप, असम-प्रदेश के पश्चिमी कोने में तथा उत्तरी बंगाल के लगे हुए प्रदेश में प्रचलित है। इसे रंगपुर संभाग के नाम पर रंगपुरी-बंगला कहते हैं। इसका एक दूसरा रूप चिट-गाँव के आस-पास प्रचलित है और इसके उच्चारण के अनेक ऐसे विकसित रूप अस्तित्व में आ गए हैं कि यह बिलकुल एक अभिनव भाषा प्रतीत होती है। बंगला मागधी प्राकृत से इस बात में समता रखती है कि इसमें दन्त 'स' 'श' में परिणित हो जाता है। प्राचीन बंगला कविता में भी मागधी प्राकृत के कर्ताकारक के एकवचन का 'ए' विभक्ति वाला रूप मिलता है। यथा,—'देवः' के लिए 'इष्टदेवे', 'नयनम्' के लिए 'नयने' और 'निरीक्षणम्' के लिए 'निरक्खने' आदि।[६०*] इस प्रत्यय के अवशेष रूप आज के गद्य में भी उपलब्ध होते हैं। बंगला की अपनी लिपि है, जो नागरी के निकट की है। इस सम्बन्ध में आगे लिपि के अध्याय में उल्लेख किया जायेगा। यहाँ पर अभी इतना ही कथन पर्याप्त होगा कि यह लिपि बहुत कुछ नागरी की भाँति ही है और साहित्यिक बंगला में गृहीत संस्कृत के रूप इसमें भलीभाँति लिख लिए जाते है। किन्तु बोल-चाल के रूपों को इसके द्वारा लिखने में किंचित कठिनाई होती है। इसमें 'वा' के लिए 'ओया' लिखा जाता है। इसका कारण यह है कि 'ब' और 'व' में भेद प्रदर्शित करने के लिए ऐसा करना पड़ता है।

३४. 'असमी' या 'असमिया' असम घाटी की भाषा है। इसके बोलने वाले इसे अखमिया कहते हैं। असम घाटी में कई तिब्बती-बर्मी भाषाएँ प्रचलित हैं। इन्हें वे कबीले व्यवहृत करते हैं, जिन्होंने हिन्दू धर्म स्वीकार नहीं किया है। मगध से 'मागधी-प्राकृत' का अनुरेखण तीन रेखाओं में किया जा सकता है। दक्षिण में यह उड़िया में, दक्षिणी पूर्व में यह पहले पश्चिमी बंगला और इसके बाद पूर्वी बंगला में एवं पूर्व में यह प्रथम बंगला, तत्पश्चात् 'असमी' में परिणत हुई है। यद्यपि बंगला और असमिया दोनों अतिनिकट रूप में सम्बन्धित हैं किन्तु एक दूसरे से पृथक् होने एवं तिब्बती-बर्मी प्रभाव के कारण 'असमिया' का अपना पृथक् रूप है और यह बंगला से उच्चारण एवं व्याकरण दोनों में अलग है। इसमें अच्छा साहित्य भी है, विशेष-रूप से ऐतिहासिक साहित्य भी उपलब्ध होता है। इसमें कोई बोली नहीं है और कतिपय वर्णों को छोड़कर इसकी लिपि वही है, जो बंगला की है। आरम्भ के इसाई-मिशनरियों के निर्देशन में 'असमिया' बंगला की अपेक्षा वर्तनी में अधिक मात्रा में ध्वन्यात्मक हो गई थी किन्तु इधर पुनर्जागरण के परिणामस्वरूप संस्कृत शब्दों के बाहुल्य से यह पुनः पुरानी स्थिति में पहुँच गई। इसकी लिपि त्रुटिपूर्ण हो गई है तथा इसके साहित्य की भी वही दशा हुई जो बंगला की हुई थी।

३५. अब यहाँ दर्द या आधुनिक पिशाच भाषाओं के सम्बन्ध में विचार किया जाता है। मैंने इन्हें पिशाच इसलिये कहा है कि जहाँ ये भाषाएँ बोली जाती

हैं वहाँ संस्कृत साहित्य में वर्णित पिशाच लोगों का नीड था। इनका दर्द नाम अधिक सुविधाजनक है और इसका भी प्रयोग पूर्व के लेखकों ने किया है। (दे० एल० एस० आठ० II पृ० १) पिशाच शब्द का प्रयोग संस्कृत साहित्य में, प्रायः राक्षस के लिये किया जाता है किन्तु इससे तात्पर्य उस आदिम जाति से है जो भारत के उत्तर पश्चिम में निवास करती थी।[61*] इस मूल स्थान से ये लोग नीचे, सिन्धु नदी के तट पर आये[62*] जहाँ से गुजरात के उत्तर से होते हुए ये मध्य भारत के पर्वतीय प्रदेश में पहुँचे। यदि भारतीय भाषाओं के साक्ष्य को स्वीकार किया जाय तो पश्चिमी तट पर ये केवल कोंकण तक ही नहीं गये अपितु पंजाब के अधिकांश भाग एवं हिमालय के निचले भाग से होते हुए, वे नेपाल की सीमा तक पहुँच गये।[63*]

हिन्दू वैयाकरणों ने एक प्राकृत का नाम पैशाची रखा है। कोनों के अनुसार पैशाची प्राकृत में साहित्य-रचना हुई थी। हेमचन्द्र ने इसे पिशाचों की प्राकृत कहा है। यह मध्य-भारत में प्रचलित थी।[64*] किन्तु इससे यह तात्पर्य नहीं है कि यह वही भाषा है जिसे मूलतः उत्तर-पश्चिम के पिशाच बोलते थे। हेमचन्द्र की पैशाची प्राकृत, विशुद्ध भारतीय भाषा है। अन्य प्राकृतों एवं इस पैशाची प्राकृत में विशेष अन्तर यह है कि इसमें उत्तर-पश्चिम की आधुनिक पिशाच भाषा के कतिपय तत्त्व प्राप्त हैं। यह सर्वथा संभाव्य है कि पिशाच लोगों को अपने मध्य-भारत की यात्रा के क्रम में, अपनी भाषा की उन विशेषताओं को भूल चुके थे, जो अभारतीय थे तथा जिन्हें नीचे इरानीय 'बुरुशस्की' के नाम से वर्गीकृत किया गया है। इसके साथ ही उन्होंने कतिपय विशेषताएँ सुरक्षित रखी हैं जिनके कारण इस प्राकृत को पैशाची नाम दिया गया है।

३६. आधुनिक पिशाच भाषाएँ विशुद्धरूप में भारतीय नहीं हैं। इनमें अनेक ऐसे विशिष्टध्वनि-नियम मिलते हैं जो इन्हें स्पष्टरूप से भारतीय भाषाओं से पृथक् करते हैं।[65*] पुनः अन्य बातों में ये प्रायः भारतीय आर्य भाषासों के सामान हैं किन्तु कहीं-कहीं इरानीय तत्वों के ग्रहण करने से ये पृथक् भी हैं।[66*] इनमें से कतिपय इरानी विशिष्टताएँ इतनी प्रभावकारी हैं कि कोनों[67*] के अनुसार इसकी एक भाषा 'वशगली', इरानी भाषा की आधुनिक प्रतिनिधि भाषा है। इसके प्राचीनतम अवशेष मितन्नी के शासकों एवं अन्य अधिकारियों के नामों में मिले हैं। इस नामों का उल्लेख (दारयवहुश) के वाण मुखलिपि या कीलाक्षर में लिखित शिलालेखों में भी उपलब्ध हैं। इस तथ्य पर विचार करते हुए कि इन भाषाओं में कतिपय इरानीय भाषिकतत्वों का अभाव है[68*] मेरा मत यह है कि आधुनिक पिशाच भाषाएँ एक ऐसे समूह का निर्माण करती हैं कि इन्हें न तो विशुद्धरूप में इरानीय और न विशुद्ध रूप में भारतीय ही कहा जा सकता है। यह पूर्वज आर्यभाषा से, भारतीय आर्य भाषाओं के पृथक हो जाने के बाद अलग हुई थी। यह उस समय से पूर्व का समय था जब अवेस्ता की भाषा में नवीन विशेषताएँ विकसित हुई थीं। आर० जी० भण्डारकर के भी विचार यही हैं, यद्यपि उन्होंने

दूसरे रूप में इसे व्यक्त किया है। आप लिखते हैं[69]*सम्भवतः यह (पैशाची प्राकृत) उस आर्यजाति की भाषा थी जो अपने मूल स्थान में बहुत दिनों तक टिके रह गये थे तथा बहुत बाद में प्रव्रजित हुए तथा सीमा पर बस गये। यह भी हो सकता है कि इस (पिशाच)कबीले के लोग अन्य (आर्य) लोगों के साथ ही भारत आये तथा सीमा के पर्वतीय पदेश में स्वतंत्ररूप से रहने लगे जिसके परिणामस्वरूप इनके उच्चारण में अनेक विशेषताएँ आ गई। चूंकि वे अपने सुसंस्कृत भाई-बन्धुओं से सम्पर्क स्थापित न कर सके अतः उनकी भाषा में वे भाषिक परिवर्तन न हुए जो संस्कृत के प्राकृत में परिणत होते समय हुए थे। अन्त में यह तथ्य कि आधुनिक पिशाच भाषाएँ कई बातों में 'तलचह' से मिलती-जुलती हैं[70]* इस बात को सिद्ध करती हैं कि पिशाच भाषाभाषी अपने वर्तमान स्थान में, भारत के मैदानी भाग से होकर नहीं आये अपितु ये सीधे पामीर से होते हुए आये। इसके विपरीत वास्तविक प्राचीन आर्य-भाषा-भाषी, पश्चिम से भारत में प्रवेश किये। यदि यह बात सत्य है तो यह (पिशाच भाषा भाषियों) आर्यों के प्रवजन की वह तरंग थी जो मुख्य तरंग से पृथक थी।

३७. हिन्दुकुश पर्वत की छाया में दो सरदारी जागीरें हैं। इनका नाम हुंजा और नगर है। इसके निवासियों की अपनी भाषा है। यह आर्यभाषा नहीं है और अभी तक इसका सम्बन्ध किसी और परिवार से स्थापित नहीं किया जा सका है। इस भाषा का अथवा इसका प्राचीन रूप, किसी युग में, सम्पूर्ण पिशाच क्षेत्र में प्रचलित रहा होगा। यही भाषा कभी बाल्टिस्तान में भी प्रचलित रही होगी जहाँ आज तिब्बती-बर्मी भाषा प्रचलित है। यह आर्यभाषा बुरुशस्की है। इसे बिड्डुल्य ने 'बरिश्की' तथा लेटनर ने 'खजूना' कहा था। इसके शब्द-समूह के छिटपुट शब्द प्रायः सभी पिशाच भाषाओं में मिलते हैं। इसप्रकार 'लोहे' के लिये बर्मी शब्द 'कोमर' कश्मीरी को छोड़कर प्रायः सभी पिशाच भाषाओं में उपलब्ध हैं।

इसीप्रकार 'जुकुन' गधा, 'बुरा' 'बिल्ली तथा 'बिंग' पक्षी, 'शिणा भाषा में' में जुकून, बुशी तथा ब्रिग रूप में मिलते हैं। संभवतः इसी भाषा के प्रभाव से, आधुनिक पिशाच में 'र' का विचित्र निरूपण मिलता है। (दे० वे० २८५) इन सभी भाषाओं में 'र' की तालव्य उच्चारण की प्रवृत्ति मिलती है।[71]* यह प्रवृत्ति मूलतः आधुनिक पिशाच भाषाओं की अपनी नहीं कही जा सकती क्योंकि यह केवल इन्हीं में उपलब्ध नहीं होती। यह परस्पर सम्बन्धित भाषाओं में नहीं प्राप्त होती अपितु इसके एक प्रदेश में प्राप्त होती है। दूसरे शब्दों में यह प्रवृत्ति सम्पूर्ण पिशाच क्षेत्र में तथा उसके सटे हुए बाल्टिस्तान में प्रचलित है। इसके अतिरिक्त बाल्टी के तिब्बती-बर्मी भाषी क्षेत्र में भी यह प्रवृत्ति है किन्तु यह अन्य तिब्बती बर्मी क्षेत्र, विशेषरूप से, पूर्व की पूरिक तथा लद्दाखी[72]* बोली में नहीं मिलती। तिब्बती-बर्मी, बाल्टी तथा आधुनिक आर्य-पिशाच भाषाओं में यह विशेष प्रवृत्ति किसी एक स्रोत से आयी होगी

और वह इस क्षेत्र के पहले की भाषा में उपलब्ध होगी। इसप्रकार के परिवर्तन का स्वयं बुरुशस्की में अभाव है। अन्य कोई ऐसी भाषा नहीं है जिससे इसकी तुलना की जा सके। यह एक अलग-थलग भाषा है और इससे किसी अन्य भाषा से सम्बन्ध नहीं है।

३८. आधुनिक पिशाच भाषा-भाषी काबुल-नदी तथा दक्षिण में उत्तरी पश्चिमी, हिमालय के निचले भाग तथा हिन्दुकुश एवं मुश्ताग श्रेणी के पर्वतीय प्रदेशों में निवास करते हैं। ये तीन समूहों—काफिर, खोवार एवं दर्द—में विभक्त हैं। काफिर समूह के अधिकांश लोग काफ़िरिस्तान के असत्कारशील वन्य-प्रदेश में निवास करते हैं। यह प्रदेश ब्रिटिश-भारत में नहीं है अपितु इस पर अफगानिस्तान के अमीर का शासन है। इन लोगों के सम्वन्ध में हमारा ज्ञान सीमित है। हमें वशगली के सम्बन्ध में अच्छा ज्ञान है। डेनिसन ने इसका सुन्दर व्याकरण एवं कोनों ने इसका कोष लिखा है। यहाँ के लोग काफ़िरिस्तान की वशगल घाटी में रहते हैं। इनके दक्षिण में 'बे' कफ़िर लोगों का निवास स्थान है। ये लोग 'बै-ला' भाषा बोलते हैं जो 'वशगली' से अतिनिकट रूप में सम्बन्धित हैं। वेरोन जिसे प्रेसुन या वसिवेरी भी कहा जाता है, प्रेसन लोगों की बोली है। ये लोग 'वशगली' के पश्चिम में दुर्लंघनीय घाटी में रहते हैं। ये वशगली भाषी लोगों से अतिभिन्न हैं। इसके बोलने वालों से सम्वन्ध स्थापित करना नितान्त दुष्कर है। इसके सम्वन्ध में जो भी सामग्री प्राप्त हुई है उसका माध्यम एक मेषपालक था जिसे भाषा-सर्वेक्षण कार्य के लिए उसकी जंगल-घाटी से चित्राल लाया गया था। वेरोन में, जैसा कि स्थिति से ज्ञात होता है, अन्य बोलियों की अपेक्षा इरानीय विशेषता अधिक है। इसमें 'द' प्रायः 'ल' में परिवर्तित हो जाता है। दूसरी ओर ध्वन्यात्मक विशेषता में यह 'दर्द' भाषा के समान है। इसके साथ अन्य काफ़िर भाषाओं से इसका काफी अन्तर है।[73*] 'अशकुन्द' अथवा शून्यपर्वत (उदार-पर्वत) की भाषा सम्वन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है। इसके केवल नाम और अर्थ ज्ञात हैं। इसके अतिरिक्त इस वात का भी पता है कि यह प्रेसुन प्रदेश के दक्षिण-पश्चिम में बोली जाती है। 'पशै' नाम की भाषा जो सम्भवतः पिशाच से व्युत्पन्न है 'लग़मान' के देहगान लोगों की भाषा है। यह प्रदेश कुनार नदी तक विस्तृत है। इसके अन्य नाम 'लग़मानी' एवं देहगानी भी हैं। इसकी दो स्पष्ट बोलियाँ हैं।—एक पूर्वी और दूसरी पश्चिमी। इसकी पूर्वी बोली में 'स्' 'ख्' में परिणत हो जाता है। यह परि-वर्तन पड़ोस की ईरानी भाषा पश्तो में विद्यमान है। इसीप्रकार यह प्रवृत्ति पश्चिमी-पहाड़ी की 'गादी' बोली में भी मिलती है। 'तिराही' तिराह-प्रदेश की भाषा है। सम्प्रति, तिराही लोग 'निगनहार' में प्रव्रजित हो गए हैं। यह प्रदेश अफगानिस्तान में है। इसके सम्वन्ध में केवल इतना ही ज्ञात है कि 'लीच'[74*] ने, इसके एक संक्षिप्त शब्द-समूह को एकत्र किया था। 'गवरबाटी' अथवा 'गवर-बोली' 'गवार' लोगों की बोली है।

इस जाति के लोग 'नरसत-प्रदेश' में निवास करते हैं। यह प्रदेश 'वशगल' और 'चित्राल' नदी के संगम पर अवस्थित है। 'कलाशा' भाषा, कलाशा-काफिर लोगों के द्वारा व्यवहृत होती है। ये लोग उपर्युक्त दोनों नदियों के द्वावे में बसे हुए हैं। 'गवर-वाटी' और 'कलाशा' दोनों जिस प्रदेश की बोलियाँ हैं, वह ब्रिटिश-प्रभाव के अन्तर्गत आता है और अन्य काफिर बोलियों की अपेक्षा इनके सम्वन्ध में हमें अधिक सूचना प्राप्त है। 'विड्डुल्फ'[75*] ने 'नरिसती' के अन्तर्गत गवर-वाटी की एक संक्षिप्त शब्द-समूह की सूची प्रस्तुत की है। इसीप्रकार कलाशा के सम्वन्ध में 'लेटनर' कृत 'दर्दिस्तान' में पर्याप्त सामग्री है। सम्पूर्ण काफ़िर भाषाएँ पड़ोस की पश्तो[76*] से अधिक प्रभावित हैं। इस परिवार की सवसे दक्षिणी भाषा 'पशय' या 'पशै' पश्चिमी पंजाव की आर्य-भाषा से प्रभावित हैं जव कि दूसरी ओर 'कलाशा', 'खोवार' से प्रभावित है। आगे के अनुच्छेद में खोवार के सम्वन्ध में विवेचन किया जायेगा।

३९. 'खो' या 'को' कवीले की भाषा खोवार का भाषिक-क्षेत्र आधुनिक पिशाच भाषाओं[77*] के काफिर एवं दर्द के वीच में है। यही ऊपरी 'चित्राल' एवं यासीन क्षेत्र की भाषा है। इसकी दूसरी संज्ञा 'चित्राली' या 'कतरारी' है। चूंकि इसका क्षेत्र ब्रिटिश प्रभाव के अन्तर्गत है, अतः इसके सम्वन्ध में पर्याप्त सूचनाएँ प्राप्त हैं। लेटनर कृत दर्दिस्तान नामक पुस्तक में 'अर्निया' शीर्षक के अन्तर्गत पर्याप्त सामग्री है। इसके अतिरिक्त 'विड्डुल्फ' की पुस्तक 'हिन्दु-कुश के कवीले' में इसका व्याकरण भी है।[78*] 'ओब्रियन' ने भी इसके सम्वन्ध में सामग्री दी है।

४०. दर्द समूह की मुख्य वास्तविक भाषा शिण[79*] लोगों की शिणा है। यह भाषा कश्मीर के उत्तरी क्षेत्र में प्रचलित है तथा इसके अन्तर्गत 'गुरेज', 'द्रास' 'चिलास' और 'गिलगित' का समावेश है। इस महान कवीले एवं इसकी भाषा के सम्वन्ध में पूर्ण विवरण विड्डुल्फ द्वारा रचित 'हिन्दुकुश के कवीले' (ट्राइब्स आफ़ हिन्दुकुश) एवं 'लेट्नर कृत' 'दर्दिस्तान[80*] में उपलब्ध होगा। गुरेज लोग आज भी अपने को दर्द कहते हैं। मेगस्थनीज[81*] ने इन्हीं को 'दर्दायी' नाम से अभिहित किया है और महाभारत में इनकी 'दार्दस' संज्ञा दी गई है। शिणा की अनेक बोलियाँ हैं। जिनमें गिलगित-घाटी की 'गिलगिती', स्तोरघाटी की 'स्तोरी', स्तोर से लेकर तंगिर तक की सिन्धु-घाटी की 'गिलासी', गुरेज घाटी की गुरेजी, एवं दो अन्य बोलियाँ 'ब्रोक्पा' या उच्चभूमि की वोली तथा द्रास और 'दहहनु' अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। अन्त की बोलियाँ वालिस्तान के छुट-पुट ग्रामीण अंचल में बोली जाती हैं। इनके चारों ओर वाल्टी की तिव्वती-वर्मी वोलने वाले निवास करते हैं। इनमें परस्पर इतना अधिक पार्थक्य है कि 'ब्रोक्पा' 'द्रास' तथा 'दहहनु' लोग भी पारस्परिक संलाप में 'वाल्टी' का प्रयोग करते हैं। हिन्दु-कुश के दक्षिण में बोली जाने वाली सभी आर्य-भाषाओं को

यूरोप के लोग 'दर्द' कह कर पुकारते हैं और आधुनिक पिशाच भाषाओं के लिए भी 'दर्द' नाम का प्रयोग प्रचलित है।

४१. 'काश्मीरी या 'काशिर', कश्मीर-घाटी की भाषा है। इसका आधार एक ऐसी भाषा है जो 'शिणा' के निकट की है और इसके कतिपय अत्यन्त सामान्य शब्द, यथा—व्यक्ति वाची सर्वनाम अथवा ऐसे शब्द जो निकट संबंधी वाची हैं, वे प्रायः वही हैं जो शिणा में हैं। किन्तु अति प्राचीन काल में संस्कृत के प्रभाव से इसमें एक ऐसा साहित्य विकसित हुआ जो शब्द-समूह और शब्द रूप में, संस्कृत अथवा इसकी संतति-भाषा, लहंदा से अधिक प्रभावित है। इसका क्षेत्र पश्चिमी पंजाब है जो इससे लगे हुए, दक्षिण क्षेत्र में स्थिति है। चौदहवीं शताब्दी में कश्मीर-घाटी पर मुसलमानों के आक्रमण हुए तथा १८१४ ई० तक यह इनके अधीन रहा। इसी समय सिक्खों ने इसे जीतकर अपने अधीन कर लिया। इन पाँच शताब्दियों में इसकी अधिकांश जनता ने अपना धर्म-परिवर्तन कर इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लिया। इसके परिणामस्वरूप, इसके शब्द-समूह-में अनेक फारसी एवं अरबी शब्द प्रविष्ट हो गए। जो कश्मीरी मुसलमान हो गये थे, उन्होंने स्वाभाविक रूप से विदेशी शब्दों को अपना लिया, किन्तु जो थोड़े से लोग हिन्दू-धर्म के अनुयायी बने रहे उनके शब्द-समूह में भी अनेक विदेशी शब्द आ गए। 'काश्मीरी' में प्रतिष्ठित साहित्य है और इसके बोलने वालों में इसका गंभीर अध्ययन किया है। संस्कृत-व्याकरण-'कौमुदी' के आदर्श पर इसमें कश्मीर-शब्दामृत' व्याकरण सन् १८७५ में लिखा गया। इसके प्रणेता ईश्वर कौल थे,[४१*] जिन्होंने प्रथम बार इस भाषा में नियमित वर्तनी की व्यवस्था की। धीरे-धीरे लोग इस व्यवस्था को अपनाने लगे। किन्तु आज भी 'काश्मीरी' की वर्तनी दोष-पूर्ण है। एक स्थान से दूसरे स्थान में इस भाषा में यत्किंचित अन्तर आ जाता है। इसकी एक महत्वपूर्ण बोली 'कष्टवारी है, जो ऊपरी चिनाव नदी के दक्षिण-पूर्व काँठ (घाटी) में प्रचलित है। इसके अतिरिक्त यहाँ कई स्थानीय किन्तु कम महत्व की बोलियाँ भी हैं। ये हैं—'दोड़ी', 'रामवनी', तथा पोगुली। ये छिट-पुट गाँवों में, दक्षिणी घाटी में, पहाड़ों एवं चिनाव नदी के घाटी के बीच, प्रचलित हैं। इसके बाद जम्मू-प्रदेश का समारम्भ हो जाता है। आधुनिक पिशाच भाषाओं में 'काश्मीरी' ही एक ऐसी भाषा है, जिसकी अपनी लिपि है। इस क्षेत्र के बहुसंख्यक मुसलमान एक सुधरी हुई फारसी लिपि का प्रयोग करते हैं। हिन्दू शारदा-लिपि को पसन्द करते हैं और पुराने अनेक काश्मीरी ग्रंथ इसी लिपि में उपलब्ध हैं। किन्तु इधर नागरी-लिपि का सामान्य-रूप से प्रयोग होने लगा है। यद्यपि कश्मीरी को आधुनिक पिशाच-भाषा का शुद्धरूप नहीं माना जा सकता फिर भी यह एक मात्र ऐसी भाषा है जिसमें पर्याप्त मात्रा में अध्ययन की सामग्री है। आगे के पृष्ठों में इसका प्रायः उल्लेख मिलेगा।

४२. मैयां शिणा का भ्रष्ट रूप है। बाल्टिस्तान को एक ओर छोड़कर सिन्धु

नदी पश्चिम की ओर चिलास प्रदेश से होती हुई प्रवाहित होती है। आगे चलकर इसमें कन्दिया नदी मिलती है। इस विन्दु से सम्मिलित सिन्धु एवं कन्दिया दक्षिण की ओर मुड़ जाती है और एक जंगली पहाड़ी-प्रदेश जो सिन्धु कोहिस्तान के नाम से प्रसिद्ध है—उधर से वहती हुई पंजाव के मैदान में पहुँचती हैं। इस कोहिस्तान में अनेक वोलियाँ व्यवहृत होती हैं। इन सवका आधार 'शिणा' है किन्तु इनमें, दक्षिण में प्रचलित 'लहन्दा' एवं पश्तो का समिश्रण है। ये बोलियाँ सामूहिक रूप से कोहिस्तानी और मैयां के रूप में प्रसिद्ध हैं। अन्य वोलियाँ यथा, 'चिलिस' एवं 'गनरो' का वर्णन विड्डुल्फ़ ने 'हिन्दुकुश के कबीले' नामक अपनी पुस्तक में किया है। इन वोलियों में, किसी में भी न तो कोई साहित्य उपलब्ध है और न ही कोई अपनी लिपि है। 'कोहिस्तान' वहुत समय तक अफ़गानों के अधिकार में था और आज भी इसकी भाषा 'पश्तो' है। कोहिस्तानी के वोलने वाले कुछ कवीले हैं, जिन्होंने अपने विजेताओं से ईस्लाम धर्म तो स्वीकार कर लिया है किन्तु वे अभी भी अपनी प्राचीन भाषा का व्यवहार करते हैं।

४३. अव दूसरे कोहिस्तान के सम्बन्ध में विचार किया जाता है। यह 'स्वात नदी' के कांठे (घाटी) में स्थित है। इसके सटे हुए पश्चिम में 'सिन्धु कोहिस्तान' है, जहाँ पंजकोरा एवं कुनार स्थित हैं। यहाँ की भी मुख्य-भाषा 'पश्तो' है। किन्तु ठीक सिन्धु-घाटी की तरह यहाँ भी कई कवीले ऐसे हैं, जो शिणा पर आधारित भाषा बोलते हैं। इन भाषाओं में भी पश्तो तथा 'लहन्दा' का सम्मिश्रण मिलता है। विशेष उदाहरण के रूप में 'गारवी' को लिया जा सकता है जो इस दूसरे कोहिस्तान के उत्तर में प्रचलित है। अन्य बोलियाँ जिनका उल्लेख यहाँ आवश्यक है उनमें तोरवाली अथवा 'तोरवालक' है जो गारवी के दक्षिण में स्थित है तथा वशकारिक है, जो स्वात के ऊपरी भाग में पंजकोरा के कांठे (घाटी) में प्रचलित है। इन दोनों अन्तिम भाषाओं का वर्णन विड्डुल्फ़ ने अपनी पुस्तक में किया है। मैंयां और गारवी दोनों मिश्रित भाषाएँ है। अब आगे इनका उल्लेख प्रायः नहीं किया जायेगा।

४४. 'वशगली' तथा 'काश्मीरी' के अतिरिक्त आधुनिक पिशाच भाषाओं के सम्बन्ध में वहुत कम जानकारी है। ये दोनों भारतीय आर्यभाषा के अन्तर्गत नहीं आतीं। अतएव इनका अध्ययन यहाँ प्रस्तुत नहीं किया जायेगा। किन्तु इन दोनों ने वास्तविक आर्यभाषाओं को इतना अधिक प्रभावित किया है कि इन प्रभावमय विशेषताओं का ज्ञान आवश्यक है और इसके लिए ऊपर की दो भाषाओं के रूपों का निरीक्षण भी जरूरी है। ये प्रभावित भाषाएँ हिमालय, पंजाब, गुजरात तथा मध्य-भारत के पश्चिम की भाषाएँ हैं।

४५. इस बात का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि आधुनिक पिशाच-

भाषाएँ तीन समूहों के रूपों—पश्चिमी, मध्य की भाषा(खोवार), तथा पूर्वी—में उपलब्ध हैं। यहाँ इस महत्वपूर्ण बात पर ध्यान आकर्षित करने की आवश्यकता है कि खोवार की अपेक्षा पश्चिमी-समूह पूर्वी-समूहसे अधिक सम्बन्धित है। वस्तुतः खोवार की भौगोलिक स्थिति इस रूप में है कि यह पश्चिमी तथा पूर्वी समूहों के बीच में एक पच्चर की भाँति है और इसप्रकार यह दोनों की एक दूसरे से पृथक् करती है।[४४*] खोवार के स्वतन्त्ररूप को स्पष्ट करने के लिए मैं यहाँ एक संक्षिप्त सूची प्रस्तुत करता हूँ जिसका कुछ अंश लेटनर पर आधारित है। इसके अतिरिक्त यहाँ 'खोवार' के शब्दों के प्रतिरूप एक ओर पश्चिम की दो भाषाओं 'बशगली' तथा 'कलाशा' में दिए जाते हैं तो दूसरी ओर इन्हीं के रूप 'शिणा' एवं 'काश्मीरी' में प्रदर्शित किए जाते हैं। यद्यपि 'खोवार' का स्वतन्त्र स्थान है तथापि यह निश्चितरूप से आधुनिक पिशाच भाषाओं में से एक है और इसने अपने उत्तरी-क्षेत्र की भाषा 'तलचह' से कुछ भी ग्रहण नहीं किया है।

शब्द	पश्चिमी समूह		पूर्वी समूह		
	बशगली	कलाशा	शिणा	काश्मीरी	खोवार
बुरा	दिग़र	खाच	कचो	कचु	शुम
पीछे	पतिओर्	पिश्तो	फत्तू	पत	आची
काला	ज़ी	क्रून	क्रिनो	क्रोहुनु	शा
हड्डी	अत्ती	अती	अती	अडिजु	कोल
गाय	गैओ	गक्	गौ	गाव्	लेशू
गहरा	गुरू	गुत	गुतूमो	गूतुंलु	कुलुम
कुत्ता	क्रुंइ	शेओं	शू।	हूनु	रेनी
आँख	अचें	एच्	अचीं	अछि	यच्
उंगली	अंगुर्	अन्गों	अगूइ	अन्गुजु	कमूत
सिर	शै	शिश्	शिश्	शेर्	सोर्
भारी	गानो	अग्ररोक	अगुरू	गोबू	कायी
ऊँचा	द्रग्र	ऊतल	उतल्लो	वोतुलु	जुन्ग
घोड़ा	उष्प	हश्	अश्पो	——	इसतोर्
पति	मोश्	बेरू	बरो	बर्ता	मश्
है	अस्से	हा	हन्	छुद्	असुर्शेर्
उठो	चश्ता	उश्ति	उथे	वोथ्	रूपे

चाँदी	अड्ड	रुअ	रूप्	रोप्	द्रोखम्
पुत्र	पुट्र	पुत्र	पुच्	पूतु	जो
खट्टा	चेनै	चुक्र	चुर्को	स्तोकु	शुत्
नक्षत्र	रश्त	तरो	तरु	तारुकु	इस्तरी
मीठा	मचे	माहोर	मोरो	मोदुरू	शिरीन्
पत्थर	बोत्त्	वत्त्	बत्	——	बोर्त
जीभ	दित्स्	जिप्	जिप्	जेव्	लिगीनी
था	अज्जि	असो	असू	आसु	अस्सितै ओशोई

यहाँ इस बात की कल्पना आवश्यक है कि अन्य आधुनिक पिशाच भाषाओं से 'खोवार' सर्वथा पृथक है, जैसा कि ऊपर की तालिका से प्रतीत होता है। इस तालिका के शब्द केवल अन्तर प्रदर्शित करते हैं न कि इन भाषाओं में जो एकता है उसे।

४६. अन्त में इन आधुनिक पिशाच भाषाओं के सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि इनमें कतिपय शब्द अति प्राचीन रूप में हैं। यथा—'कलाशा' का 'ककवक्', वेरों = 'ककोकु', 'वशगली' = 'ककक्', सं० = 'कुक्कुट', वैदिक संस्कृत = 'क्रकवाक्र, खोवार = 'द्रोखुम्', (चाँदी) ग्रीक का द्रोखुन रूप आज भी सुरक्षित है। किन्तु संस्कृत में 'द्रम्म' रूप में परिवर्तित हो गया है। सं० क्षीर (दूध) बशगलो = कशीर (उज्ज्वल) सं० = स्वसार, = खोवार = इस्पुसार = वहन।

४७. भारतीय आर्यभाषा एवं उसकी बोलियों का भौगोलिक सर्वेक्षण हमने पुरा कर लिया। इस सर्वेक्षण द्वारा यह स्पष्ट हो गया कि ये भाषाएँ तीन परिवारों में विभक्त हैं। ये हैं—मध्यदेशीय, मध्यवर्ती तथा बाहरी। अब इन परिवारों के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में विचार किया जायेगा। इनके विकास का अध्ययन स्रोत से क्रमशः नीचे की ओर करना सुविधाजनक होगा। इसके विपरीत का अध्ययन यहाँ नहीं किया जायेगा। यह अध्ययन आवश्यकरूप से ऐतिहासिक होगा किन्तु आधुनिक आर्यभाषाओं के पूर्व की अवस्थाओं का वर्णन इस निबंध की सीमा के बाहर है। अतः उनका वर्णन संक्षिप्त अथवा इस रूप में होगा जिससे विषय स्पष्ट हो सके।[84*]

४८. भारतीय आर्यभाषा के प्राचीनतम प्रलेख ऋग्वेद के मंत्र हैं। इन मंत्रों की रचना अतिदीर्घ विभिन्न समयों तथा सुदूर विभिन्न स्थानों में सम्पन्न हुई थी। इनमें से कतिपय मंत्र आर्कासिया में रचे गए थे किन्तु अन्य मंत्रों की रचना यमुना नदी के निकट के प्रदेश में हुई थी। आगे चलकर इनका संकलन एवं सम्पादन हुआ और वही इनका आधुनिक रूप है। इस क्रम में इनमें जो बोलीगत पार्थक्य था,[85*] उसके अवशेष का पता लगाना आज कठिन है। इसके विपरीत यह निश्चित है कि

उस प्राचीन युग में भी एक ऐसी जन-प्रचलित भाषा होगी जो उस समय में प्रचलित साहित्यिक भाषा[86*] से उच्चारण आदि में पृथक् होगी। इस जनभाषा में इतने स्थानीय अंतर होंगे कि एक स्थान के भाषा-भाषी दूसरे की भाषा समझने में असमर्थ रहे होंगे।[87*] वैदिक मंत्रों के संपादन के समय इनमें जो बोलीगत अंतर होंगे वे लुप्त हो गए होंगे। संपादन करते समय अपवाद स्वरूप जो रूप मिले होंगे उन्हें सामान्य बना दिया गया होगा।[88*] यह प्रवृत्ति भारत के साहित्याकाश में बहुत पहले से प्रचलित थी। फिर भी आज जिस रूप में यह मंत्र उपलब्ध हैं वे प्राचीन भारत की आर्यभाषाओं के महत्वपूर्ण प्रलेख हैं। विशेषरूप से इस प्रलेख का संबंध पूर्वी पंजाब तथा गंगा के दोआब से है जहाँ, इनकी रचना हुई थी।

४९. वेद-मंत्रों में उपलब्ध प्राचीन बोलियों की उत्पत्ति का विस्तार के साथ पता लगाना असंभव है किन्तु यहाँ एक सामान्य सिद्धान्त का उल्लेख किया जा सकता है और यह केवल प्रसिद्ध भाषा विज्ञानियों को ही मान्य नहीं है अपितु प्रसिद्ध नृ-विज्ञानी भी इसे स्वीकार करते हैं।[89*]

५०. विशुद्ध भाषिक आधार पर हार्नले के अनुसार, पूर्वकाल में, उत्तरी भारत में, दो प्राकृतों के रूप प्रचलित थे। इनमें से एक थी, शौरसेनी (जो पश्चिमी) प्राकृत थी तथा दूसरी मागधी (जो पूरब की) प्राकृत थी। आगे उनका कथन है कि सुदूर प्राचीन-काल में, मागधी का क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत था। उनके अनुसार मागधी के छिटपुट अवशेष, धुर पश्चिम की भाषाओं में उपलब्ध होते हैं। हम जैसे-जैसे पूरब की ओर बढ़ते जाते हैं, मागधी का प्रभाव भी बढ़ता जाता है तथा अन्त में हम आज की मागधी के क्षेत्र में पहुँच जाते हैं। इस परिस्थिति में हार्नले के अनुसार, अत्यन्त पुराकाल में, उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश तक मागधी प्रसार रहा होगा तथा उस युग में, यह उत्तरी भारत की एकमात्र प्राकृत रही होगी; किन्तु समय की प्रगति के साथ-साथ शौरसेनी का प्रभाव बढ़ता गया तथा शनैः शनैः मागधी, दक्षिणी पूर्व की ओर खिसकती और सिमटती गई। इस प्रक्रिया में मागधी के छिटपुट अवशेष उत्तर पश्चिम प्रदेश में रह गये। हार्नले ने पश्तो तथा काफिरी भाषाओं से भी मागधी का सम्बन्ध जोड़ा है। आप लिखते हैं—ऐसा प्रतीत होता है कि अत्यन्त प्राचीन काल में, पश्तो तथा काफिरी से मागधी का सम्बन्ध था किन्तु उसी युग में पच्चड़ के समान इनके बीच, शौरसेनी का प्रवेश हो गया और ये भाषाएँ मागधी से पृथक् हो गईं और मागधी इस प्रकार धीरे-धीरे पूरब की ओर चली गई।

५१. मैंने ऊपर प्रसिद्ध विद्वान् हार्नले के सिद्धान्त को स्पष्ट किया है और अब इस विषय में अपना विचार व्यक्त करता हूँ। इस सम्बन्ध में प्रथम यह तथ्य उल्लेखनीय है कि पश्तो के सम्बन्ध में हार्नले ने जो लिखा है, उसके बाद यह सिद्ध हो चुका है कि यह इरानी भाषा है। अतः भारतीय आर्यभाषा मागधी से उसका कोई सम्बन्ध

नहीं है। जहाँ तक आधुनिक पैशाची की एक भाषा काफिरी (यहाँ काफिरी से हार्नले का तात्पर्य वशगली से है) से सम्बन्ध है तथ्य कुछ और है। बात यह है कि कतिपय बातों में आधुनिक पिशाच भाषाएँ, उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश की भाषाएँ, लहँदा एवं सिन्धी से, अत्यधिक पृथक् हैं, किन्तु अन्य बातों में इनमें पर्याप्त मात्रा में समानता है। इस सन्दर्भ में पीछे [१०*] १०, २४, २५ में कहा जा चुका है और वहाँ मैंने यह विचार व्यक्त किया है कि इस समानता का कारण यह है कि प्राचीन काल में पैशाची प्राकृत तथा उत्तर-पश्चिम की आर्यभाषाओं में समिश्रण हुआ है जिसके परिणामस्वरूप आर्यभाषाओं में पैशाची के अनेक शब्द गृहीत हुए हैं। इसके अतिरिक्त आधुनिक पैशाची भाषाओं में इरानी तत्व तथा दूसरी ओर लहँदा एवं सिन्धी में, इसके अभाव की व्याख्या सम्भव नहीं है। दूसरी ओर यह स्पष्ट है कि आधुनिक पिशाच भाषा काश्मीरी ने या तो उत्तरी पश्चिमी आर्यभाषाओं से, स्वच्छन्दता से अनेक शब्दों को गृहीत किया है या यह इन दोनों समूहों के बीच की शृंखला भाषा है। जब आधुनिक पिशाच भाषाओं के सम्बन्ध में पर्याप्त तथ्य एकत्र होंगे तथा इनका हमें विशिष्ट ज्ञान होगा तब यह कथन सम्भव होगा कि मैं गलती पर हूँ तथा हार्नले का यह सिद्धान्त कि प्राचीन मागधी तथा आधुनिक पिशाच भाषाओं की पितृभाषा में घनिष्ट सम्बन्ध था तथा दोनों एक थीं, सही है।[१०*] इन विन्दुओं पर मेरा दिमाग खुला और साफ है।

५२. तिस पर भी मेरा विश्वास है कि उत्तरी-पश्चिमी आर्यभाषाओं तथा आधुनिक पिशाच भाषाओं की उत्पत्ति भले ही एक स्रोत से न हो, उत्तरी पश्चिमी आर्यभाषाओं का हार्नले की मागधी से इतना घनिष्ट और अधिक संबंध है जितनी उन्होंने कल्पना न की होगी।[११*] अन्य प्रकार से भी हार्नले के विचार सर्वथा उचित हैं। जब हम उत्तरी भारत के भाषिक इतिहास पर विचार करते हैं तो हमें एक मागधी प्राकृत मिलती है जिसका प्रसार उत्तर पश्चिम, दक्षिण एवं पूरब में है। इसके साथ ही मध्य देश में एक पच्चड़ के रूप में, हमें शौरसेनी प्राकृत मिलती है जो तीन ओर फैली हुई है। भारत पर आर्यों का जो आक्रमण हुआ उसका क्रम कई शताब्दियों तक चलता रहा। स्वयं वेद से यह बात स्पष्ट सिद्ध हो जाती है। उदाहरणार्थ वेद में ऐसे मंत्र हैं जिनमें आर्कोसिया के दिवोदास को समकालीन बतलाया गया है। इसके साथ ही अन्य मंत्रों में उसके वंशज, पंजाब के सुदास, का नाम आता है जिसके युग में उसके पूर्वजों की शौर्य-गाथा मिथक बन जाती है।[१२*] आर्यों का यह आक्रमण क्रमशः हुआ होगा अथवा जैसा कि रिज़ले ने सुझाव दिया है, आर्यों के दो आक्रमण, दीर्घकाल के अनंतर हुए होंगे। हमारे लिए इस बात की जानकारी का कोई महत्व नहीं है कि वास्तविक तथ्य क्या है ? यदि यह आक्रमण क्रमशः हुआ था तो पहले आने वाले आर्य अंत में आने वाले आर्यों से इतने भिन्न थे कि इससे क्रमिक के बदले एक पृथक आक्रमण मानना ही ठीक होगा। सुदास से सम्बन्धी वैदिक मंत्रों में कहा गया है कि किस

प्रकार उसने पुरु लोगों पर विजय प्राप्त की थी। यह पुरु आर्यों का अन्य कवीला था जो पूरब में, यमुना के कांठे में बसा था। इन्हें 'मृध्रवाच' अथवा वर्बर भाषा-भाषी कहा गया है।[93*] पुनः हमें पश्चिमी एवं पूर्वी पंजाब के आर्यों के संघर्ष के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण उल्लेख मिलता है। यह पश्चिम के ब्राह्मण वशिष्ठ तथा पूर्व के क्षत्रिय विश्वामित्र के संघर्ष का है।[94*] इसीप्रकार कुरु एवं पांचाल लोगों में महाभारत युद्ध का उल्लेख वाद के ऐतिहासिक तथ्यों को स्पष्ट करता है। लास्सेन के समय से ही यह तथ्य ज्ञात है कि पांचाल लोग पुरु लोगों की अपेक्षा पहले से यहाँ के अधिवासी थे। यह एक दिलचस्प तथ्य है कि युद्ध में इनके सहायक दक्षिण मध्यदेश, पांचाल तथा पूर्व मध्यदेश के लोग थे। इसके विपरीत कुरु लोगों के सहायक उत्तर-पश्चिम तथा दक्षिण एवं पूर्व के लोग थे। यह तथ्य वाद के संघर्ष को द्योतित करता है। पूर्व मध्यदेश के पांचाल लोग मागधी प्राकृत के प्रतिनिधि थे। ये लोग पश्चिमी मध्यदेश तथा पूर्वी पंजाब के अधिवासी कुरु लोगों के विरोधी थे।

यह बात कि कुरु लोगों के सहायक धूर पूर्व के भी थे, ऊपर के तथ्य को प्रभावित नहीं करता। पुराने महाभारत के मूल लेखक (४०० ई० पू०) के कथन को केन्द्र तथा पश्चिमी भारत के सम्बन्ध में प्रामाणिक माना जा सकता है किन्तु धूर पश्चिम में स्थित राज्यों के वाद के लेखों के आधार पर स्वीकार किया गया है। पांचाल प्रदेश के पूर्व के राज्य, यथा पूर्वी तथा पश्चिमी कौशल, वत्स्य, काशी, विदेह, तथा पूर्वी एवं पश्चिमी मगध का भारत युद्ध में कार्यकलाप राजनैतिक प्रभावों पर निर्भर था।[95*] इनमें से कुछ ने एक दल तथा अन्य लोगों ने दूसरे लोगों का साथ दिया। इन सब तत्वों को पृथक करने के बाद हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि महाभारत युद्ध पश्चिमी मध्यदेश के ब्राह्मण अनुयायी कुरु तथा पूर्व के ब्राह्मण[96*] विरोधी पांचाल लोगों के बीच हुआ था।

५३. यहाँ पर यह ध्यातव्य है कि रामकथा का संवंध पूर्वी भारत से है। इसके विपरीत महाभारत का संवंध, मूलतः कुरु, न कि पांचाल के, योद्धाओं से है। ये कुरु लोग मध्यदेश के थे। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि पूर्व और उत्तर-पश्चिम का संवंध बहुत निकट का था। राम मध्यदेश के पूर्व कोशल के निवासी थे। किन्तु उनके पूर्वज इक्ष्वाकु पश्चिम की इक्षुमती नदी के किनारे से आए थे। इक्षुमति शतद्रु के निकट की नदी थी। इसके अतिरिक्त दशरथ की पत्नी कैकेयी मध्यदेश की नहीं अपितु पश्चिम के कैकय प्रदेश की थी। लैसन ने शतपथ ब्राह्मण के प्रमाण पर यह सिद्ध किया है कि कुरु लोगों का सम्वन्ध ब्राह्लीक लोगों से था। ये ब्राह्लीक लोग उत्तर-पश्चिम के निवासी थे और उनके सहायक सौवीर मद्र एवं कैकय यद्यपि आर्य थे किन्तु वे मलिच्छ कहे जाते थे। लैसन के अनुसार पांचाल लोग बहुत पहले यहाँ आये थे और वे भारत में इतने सुदीर्घ काल से रह रहे थे कि उनका रंग गौर श्याम हो गया था।

५४. वास्तव में यह पश्चिमी मध्यदेश था जहाँ वेदमंत्र संकलित और संपादित किए गए थे। अतएव यह बात स्वीकार करनी होगी कि इसकी भाषा उत्तरी भारत की है। बाद में भी यह ब्राह्मण धर्म एवं संस्कृति का केन्द्र था। यहीं पर क्लासिकी संस्कृति[97*] का उदय हुआ था तथा यहीं पर प्राचीन लोगों के मुख से अक्लासिक (अवरेण्य) भाषा प्रसूत हुई थी। इसी का साहित्यिक रूप वैदिक मंत्रों में मिलता है और उस ये में पारस्परिक संवाद[98*] की यह साधारण भाषा थी। ब्राह्मणों की साहित्यिक गोष्ठियों में उत्तर वैदिक संस्कृत साहित्य का उद्भव हुआ। यह सूत्र-युग[99*] की भाषा थी और नितांत शिष्ट थी। इसी का प्रयोग साहित्य में होता था और अनेक वैयाकरणों ने, जिनमें पाणिनि (३०० ई० पू०) प्रमुख थे, इस भाषा के परिनिष्ठन में योगदान किया था। इस भाषा का नाम संस्कृत था जिसका अर्थ है, संस्कार की हुई भाषा[100*] जनसाधारण की भाषा पंतजलि[101*] के अनुसार लोक-भाषा थी। यह प्राकृत के नाम से विख्यात थी।

पतंजलि के युग में शुद्ध संस्कृत बोलनेवाले निर्धन विद्वान् ब्राह्मण थे। उन्हें विशेषरूप से संस्कृत व्याकरण का अभ्यास कराया जाता था।[102*] अन्य ब्राह्मण अशुद्ध संस्कृत[103*] बोलते थे और अशिक्षितजन प्राकृत का प्रयोग करते थे। साहित्यिक-भाषा के रूप में संस्कृत का पश्चिम में विशिष्ट स्थान था किन्तु उत्तरी भारत के पूर्व में, जहाँ ब्राह्मणों का उतना अधिक प्रभाव न था और जहाँ के लोग ब्राह्मण विरोधी सुधारवादी थे, वहाँ प्राकृत का व्यवहार प्रचलित था।[104*]

५५. संस्कृत अथवा पाणिनीय संस्कृत शिष्टजन तथा प्राकृत, प्राकृत जन अथवा जन साधारण की भाषा थी। प्राकृत की इस परिभाषा से यह तात्पर्य है कि बोलचाल की भाषा या बोली प्राकृत थी। इसका साहित्यिक रूप, वेद मंत्रों में सुरक्षित था। इस प्राकृत को भारत की प्रथम प्राकृत कहा गया है। इससे जो प्राकृत विकसित हुई उसे दूसरी प्राकृत कहा गया। यह प्राकृत संस्कृत के साथ-साथ विकसित हुई थी। बात यह है कि ब्राह्मण वैयाकरणों की कृतियों के कारण संस्कृत की गति अवरुद्ध हो गई थी, किन्तु प्राकृत निरन्तर अपने विकास-पथ पर अग्रसर थी। आज की आधुनिक भाषाओं के रूप में विकसित प्राकृत को तृतीय प्राकृत के नाम से अभिहित किया जाता है।[105*] यह इस विकास का अन्तिम सोपान है।

५६. यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रथम प्राकृत अथवा प्राकृतों तथा द्वितीय प्राकृतों[106*] एवं द्वितीय एवं तृतीय प्राकृतों के बीच कोई विभाजक रेखा खींचना कठिन कार्य है। वेद में प्राकृत के जो छिट-पुट अवशेष मिलते हैं, यदि उन्हें पृथक कर दिया जाय तो द्वितीय प्राकृत के सबसे प्रथम दर्शन हमें अशोक के शिला लेखों (तृतीय शती ई० पूर्व) में होते हैं। यह यद्यपि प्राकृत के प्रथम चरण के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं,

किन्तु इनके अध्ययन से यह स्पस्ट हो जाता है कि प्राकृत का यह रूप पूर्णरूप से विकसित है; इसके विपरीत हमें ज्ञात है कि द्वितीय प्राकृत से तृतीय प्राकृत का परिवर्तन इतना क्रमिक है कि दोनों के बीच की विभाजक रेखा का निश्चय करना और यह निर्धारित करना कि किस चरण की भाषा है, नितान्त कठिन है। किन्तु इसके साथ ही साथ प्रत्येक चरण की भाषा की विशेषता को निश्चित करना कठिन नहीं है। प्रथम चरण की भाषा संश्लिष्ट है, इसमें कठोर व्यंजनों के गुच्छ मिलते हैं। दूसरे चरण की भी भाषा संश्लिष्ट है; किन्तु संध्यक्षर एवं कठोर व्यंजनों का इतना अधिक अभाव है कि इसके अंतिम कृत्रिम साहित्यिक रूप महाराष्ट्री प्राकृत में व्यंजनों का प्रायः अभाव हो जाता है और स्वरों का बाहुल्य हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि तृतीय चरण की प्राकृत में लगातार आने वाले स्वर प्रगृह्य बन जाते हैं तथा नये संध्यक्षरों का प्रयोग होने लगता है। इसके अतिरिक्त नूतन रूप में संज्ञा तथा क्रिया के रूप अस्तित्व में आते हैं और एक ऐसी भाषा के रूप के दर्शन होते हैं जो संश्लिष्ट नहीं रह जाती अपितु विश्लिष्ट बन जाती है। इसमें व्यंजनों के नये गुच्छ और रूप दृष्टिगोचर होते हैं जो प्रायः तीन सहस्र वर्ष पूर्व थे किन्तु बाद के दो हजार वर्षों में लुप्त हो गये थे। यही नहीं, बाहरी उपशाखा के भारतीय-आर्य-भाषा में विश्लिष्ट रूप को संश्लिष्ट में परिणत होते हुए उसी रूप में पाते हैं जैसा कि प्रथम प्राकृत में था।[107*]

५७. हमें ये ज्ञात है कि प्रथम प्रकृत की कई बोलियाँ थीं। इससे यह परिणाम निकलता है कि द्वितीय प्राकृत में भी बोलियाँ होंगी। किन्तु इस सम्बन्ध में हमको न तो कोई सामग्री उपलब्ध है और न कुछ जानते ही हैं। हमें जब अशोक का शिलालेख मिलते हैं तो हमें प्रथम प्राकृत का ज्ञान होता है। इससे ज्ञात होता है कि प्रस्तुत आर्यभाषा की तीन बोलियाँ थीं। ये हैं—

१—पूर्वी
२—पश्चिमी
३—उत्तरी पश्चिमी।[108*]

उस समय कोई दक्षिणी बोली भी थी, इसका हमें पता नहीं है।[109*]

५८. द्वितीय प्राकृत जिस चरण पर पहुँच चुकी थी, उसकी प्रतिनिधि साहित्यिक भाषा पालि है। बोल चाल के भाषा के रूप में प्राकृत विकसित होती गई और विभिन्न रूपों में प्राकृत के रूप मिलें। जब हम किसी विशेषण के बिना प्राकृत शब्द का प्रयोग करते हैं तो हमारा तात्पर्य द्वितीय प्राकृत से होता है। यह वह समय है जब प्राकृत का विकास पालि के आगे हो चुका था और वह धीरे-धीरे विश्लिष्टावस्था में पहुँच गई थी।

५९. बाद के युग में धार्मिक एवं राजनैतिक कारणों से प्राकृतों का साहित्यिक अध्ययन सम्पन्न हुआ। इनमें काव्य तथा धार्मिक ग्रन्थों की रचनाएँ हुईं और नाटकों में इनका खुलकर व्यवहार हुआ। इनकी विभिन्न बोलियों के तत्कालीन लोगों द्वारा व्याकरण लिखे गये। यह इनके मृतक भाषा होने के पूर्व की इनकी अवस्था है। इन प्राकृत के व्याकरणों के सम्बन्ध में भी हमें भारतीय दुष्प्रवृत्ति का उदाहरण मिलता है और वह यह है कि यहाँ अपवादों के आधार पर भी सामान्य नियम[110*] की रचना की गई है। प्राकृतों के सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि उसमें केवल एक ही सामान्य नियम कार्यरत था और वह था इसके बोलने वालों की सुविधा, किन्तु इनके आधार पर जिन व्याकरण तथा साहित्य की रचना हुई उनमें महत्वपूर्ण स्थानों पर काफी फेर-बदल किया गया। जिन तत्त्वों के लेखकों को ग्राम्य दोष मिले उन्हें उन्होंने त्याग दिया और इनमें क्लासिकि सामञ्जस्य स्थापित करने का उद्योग किया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि एक कृत्रिम साहित्य की रचना हुई और इस प्रकार कृत्रिम रचना बहुत पुराने समय से चर्चित एवं लोकप्रिय रही। उदाहरणार्थ प्राकृतों में स्वर मध्यग् व्यंजनों के लोप की प्रक्रिया को लिया जा सकता है। प्राकृत वैयाकरणों ने कतिपय व्यंजनों के लोप का सार्वभौम नियम गढ़ लिया[111*] यथा:—मत-मद,>मय-मृग, तथा भृत,>मअअ में परिणत हो गये। इसीप्रकार काक—, काच—तथा काय>, काअअ—में परिणत हो गये। इसप्रकार की भाषा से भाषिक कार्य सम्पन्न होना कठिन था और इस भाषा का परस्पर संचार के लिए व्यवहार नितान्त दुष्कर था। स्वर-मध्यग-व्यंजनों के लोप की प्रवृत्ति निश्चितरूप से उस युग में थी किन्तु पारस्परिक बोधगम्यता की रक्षा के लिये, वैयाकरणों द्वारा निर्मित ऊपर की प्रवृत्ति के बावजूद अन्य उपाय किये गये। इनमें से एक उपाय यह थी कि शब्दों की ध्वन्यात्मक विकास का उस बिन्दु पर रोक दिया गया जहाँ समरूपता के कारण अर्थ-ग्रहण करने में किसीप्रकार की जटिलता उत्पन्न हो रही थी। उदाहरण के लिये यहाँ काक शब्द को लिया जा सकता है। सामान्यरूप से इस शब्द का ध्वन्यात्मक विकास काक>काग>काअअ है। भारतीय-आर्य-भाषा के उदाहरण से यह ज्ञात होता है कि इसका ध्वन्यात्मक विकास 'काग' शब्द पर आकर रुक गया। हिन्दी में काग शब्द ही उपलब्ध है। भाषा की रचनात्मक क्षमता को देखते हुए यह प्रतीत होता है कि इस शब्द का काअअ रूप ग्रहण करने से भाषा में अव्यवस्था होती अतः "ग" का लोभ नहीं किया गया। यही कारण है कि यह शब्द "काग" रूप में ही हिन्दी में ग्रहण किया गया तथा यहाँ प्राकृत वैयाकरणों के ध्वन्यात्मक विकास के सिद्धान्त को अमान्य कर दिया गया। भारत के, अन्य लोगों ने इस शब्द के रूप में परिवर्तन तो किया किन्तु बोधगम्यता को ध्यान में रखते हुए इसमें अनेक स्वार्थे प्रत्ययों को संयुक्त किया। इस प्रकार काअअ (<काग) में उकक-स्वार्थे प्रत्यय का

प्रयोग किया तथा काउअ शब्द का निर्माण किया जिससे हिन्दी 'कउआ', 'कौआ' शब्द सिद्ध हुआ। जहाँ तक काउ—(<? कृत्य) शब्द का सम्बन्ध है, इसके मूल रूप का कभी लोभ नहीं हुआ क्योंकि इसके विकास का रूप काच>काख>काउअ था। किन्तु काख का विनियोजन कांज या काग (<कार्य) द्वारा सम्पन्न हो गया अतः काच का विकास प्रारम्भ से रुक गया। काच शब्द आज भी हिंन्दी (? कृत्य>कच्च> काच, कचहरी) में वर्तमान है किन्तु अनावश्यक रूप में इसे तत्सम मान लिया गया है। वास्तव में द्वितीय प्राकृत के अन्तिम चरण में 'काच' का रूप काअअ हो गया।[112*] संक्षेप में उन तथ्यों पर विशेष बल नहीं दिया जा सकता जिनका अनेक लेखकों ने उपेक्षा की है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि किसी भी भाषा का एक रूप या समरूप में क्रमिक विकास नहीं होता जैसा कि गणित के अंकों का होता है। भाषा-विकास किसी भी स्तर पर ऐसी रेखा खींचना सम्भव नहीं है जहाँ यह कहा जा सके कि किसी भाषा में व्यवहृत सभी शब्द विकास के एक ही स्तर पर पहुँचे हैं। इस सम्बन्ध में अधिक से अधिक इतना ही कहा जा सकता है कि अधिकांश शब्द विकास के एक स्तर पर पहुँच चुके हैं, किन्तु इसके विपरीत यह भी सम्भव है कि अन्य अनेक शब्द का विकास या तो रुक गया है अथवा जल्दी से हो गया है। विकास के रुकने या शीघ्र होने के अनेक कारण हो सकते हैं जिनमें से मुख्य परस्पर बोधगम्यता धार्मिक अथवा राजनैतिक है।[113*]

६०. इस विषय को यहाँ समाप्त करने के पूर्व अपने पाठकों को एक चेतावनी देना आवश्यक समझता हूँ और वह यह हैं कि द्वितीय प्राकृतें तथा भारतीय आर्यभाषाएँ, पूर्णरूप से दो पृथक खण्डों में विभाजित नहीं है। इन दोनों में एक दूसरे से पर्याप्त मात्रा में शब्द ग्रहण करने की प्रवृत्ति रही है। इसके परिणाम-स्वरूप प्राकृतों ने आर्यभाषाओं से तथा आर्यभाषाओं ने प्राकृतों से शब्द ग्रहण किये हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि भारत के भाषिक इतिहास में विशेषयुग में, किसी बोली को सामान्य भाषा (=कोइने) के रूप में व्यवहृत करने की प्रवृत्ति रही है। वास्तव में इसके राजनैतिक तथा साहित्यिक कारण थे। जहाँ तक आर्यभाषा-क्षेत्र का सम्बन्ध है, प्राचीनकाल में उत्तर भारत की, संस्कृत, सामान्य एवं शिष्ट भाषा थी। यह पश्चिमी मध्यदेश की भाषा थी। तथा आर्यभाषाओं पर इसका सर्वाधिक प्रभाव था। अशोक के युग में सामान्य भाषा का स्थान, पूर्व की मागधी को मिला तथा इस युग के दूर के पत्रलेखों में इसका प्रयोग किया गया।[114*] इसके विपरीत गत शताब्दी से, सामान्य भाषा का स्थान हिन्दुस्तानी ने ले रखा है और आज बंगला में भी किंचित परिवर्तन के साथ इसके शब्दों का प्रयोग हो रहा है। इसी-प्रकार बिहारी ने, जो पूर्वी हिन्दी के हृदय प्रदेश अवध से ऐतिहासिक दृष्टि से सदैव से सम्बन्धित रही है, "श" का परित्याग कर "स" को अपना लिया है, यद्यपि

लिपि (विहारी कैथी लिपि) में "श" वर्ण ही सुरक्षित है। पुनः साहित्यिक प्राकृतें ने समय की प्रगति से, अपनी स्थानीय विशेषताओं को भुला दिया है तथा विशेष-प्रकार की रचना के लिए सर्वभौम रूप धारण कर लिया है। महाराष्ट्री प्राकृत प्रगीत एवं काव्य की भाषा बन गई है तथा शौरसेनी एवं मागधी प्राकृते किसी प्रदेश के लोगों द्वारा व्यवहृत नहीं होती अपितु (संस्कृत) नाटक के विशेष पात्रों द्वारा प्रयुक्त होती हैं। यह स्पष्ट है कि चूंकि महाराष्ट्री प्राकृत सम्पूर्ण भारत में, प्रगीत के लिए व्यवहृत होती है अतः इसने अन्य भाषाओं से भी शब्द एवं क्रियारूपों को ग्रहण किया है। दूसरी ओर इसने वोलचाल की भाषाओं को भी प्रभावित किया है। साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा प्रगीत काव्य के भाषा का प्रभाव अन्य भाषाओं पर अधिक पड़ता है। इसप्रकार प्रत्येक प्राकृत तथा विशेष रूप से, महाराष्ट्री प्राकृत यत्किंचित रूप में मिश्रित है।[115*]

६१. वैयाकरणों एवं उनके अनुगामियों द्वारा विकृत कर देने के कारण, प्राकृतों एवं उनकी प्राकृत अवस्था एवं उस युग की वास्तविक जनता की भाषा के बीच एक ऐसा परदा पड़ा हुआ है कि उठाना सहज नहीं है। फिर भी अशोक के पुरा लेखा में हमें दो प्राकृतों, एक पश्चिमी तथा दूसरी पूर्वी प्राकृत में दर्शन होते हैं। इन दोनों प्राकृतों की विशेषताएँ स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होती हैं।[116*] इनमें से पश्चिमी प्राकृत मुख्यरूप से, मध्यदेश की शौरसेनी तथा पूर्वी, दक्षिणी विहार की मागधी है। इन दोनों के बीच एक निरपेक्ष अथवा मध्य-क्षेत्र है। इस क्षेत्र की भाषा, अर्द्धमागधी है जिसमें शौरसेनी और मागधी, दोनों की विशेषताएँ उपलब्ध हैं। अर्द्धमागधी से ही अतिनिकट से सम्बन्धित किन्तु पश्चिमी शौरसेनी की अपेक्षा, पूर्वीमागधी की ओर किंचित अधिक झुकी हुई, महाराष्ट्री प्राकृत है। यह वराड (बरार) तथा उसके आसपास के प्रदेश की भाषा है। इनके अतिरिक्त धूर उत्तर-पश्चिम में एक विना नाम की भाषा[117*] थी जो किसी प्रथम प्राकृत से विकसित हुई थी। यह सिन्धु नदी के तट पर प्रचलित थी। इसके अस्तित्व का पता इसकी द्वितीय प्राकृत से चलता है। इसके सम्वन्ध में आगे के अनुच्छेद में विचार किया जायेगा।

६२. पिछले अनुच्छेद में भाषा की जिस अवस्था की ओर संकेत किया गया है वह "साहित्यिक अपभ्रंश" है। अपभ्रंश का अर्थ है, अपभ्रंश अथवा भ्रष्ट। किन्तु जब भाषा-विज्ञानी किसी भाषा के सम्बन्ध में इस शब्द का प्रयोग करता है तो उसका अर्थ होता है विकसित। द्वितीय प्राकृतों को वैयाकरणों ने स्थिर एवं निश्चित बना दिया और तब इनका प्रयोग केवल साहित्य में होने लगा किन्तु जिस मूल भाषा पर ये आधारित थीं वह विकसित होती गई। तब साहित्यिक प्राकृतों के मुकाबिले में ये बोलचाल की भाषाएँ, भ्रष्ट मानी जाने लगीं। उधर जब साहित्यिक प्राकृतें मृतक

भाषाएँ बन गई तब अपभ्रंश में भी साहित्य-रचना होने लगी तथा यह भी वैयाकरणों के चिन्तन का विषय बन गई। इन वैयाकरणों में सर्वप्रथम हेमचन्द्र (१२ वीं शताब्दी का नाम आता है। हेमचन्द्र के समय में प्राकृतें मृतक भाषाएँ हो चुकी थीं। 118* साहित्यिक अपभ्रंश के लेखकों ने इसका आधार साहित्यिक प्राकृत माना। उनके लिये साहित्यिक अपभ्रंश "प्राकृतोअपभ्रंशः" (पिशेल प्रा० ग्रा० पृ० ३०) था। उन्होंने अपनी कृतियों का प्रणयन ऐसी प्राकृत में किया जो उस युग की भाषा की विशेषताओं से युक्त थीं, किन्तु जो वास्तविक भाषा (वास्तविक जनभाषा) अपभ्रंश-न थी। जो प्राकृतों की दशा थी, ठीक वही अपभ्रंश की दशा थी। यह वास्तविक जनभाषा का रूप हमारे सामने नहीं उपस्थित करती। अपभ्रंश में उपलब्ध कृतियाँ विभिन्न समयों की हैं। इनमें परस्पर अन्तर है तथा हेमचन्द्र की भाषा से भी इनका अन्तर है। इसका कारण यह है कि इन्हें यह रूप देने के लिये साहित्यिक प्राकृतों को, देश भाषा के निकट लाया गया है। यह त्रुटि होते हुए भी यदि सतर्कता के साथ इन अपभ्रंशों का अध्ययन किया जाय तो वास्तविक बोलचाल की भाषा के सम्बन्ध में, ये महत्वपूर्ण सूचना प्रदान करते हैं।

६३. जहाँ तक वास्तविक अपभ्रंश- जनता द्वारा प्रयुक्त बोलचाल की भाषा का सम्बन्ध है इसका आरम्भ १००० ई० से हुआ। 119* यहाँ, यह उल्लेखनीय है कि प्रत्येक प्राकृत का एक अपभ्रंश था। इसप्रकार शौरसेनी प्राकृत का शौरसेनी अपभ्रंश मागधी का मागधी अपभ्रंश एवं महाराष्ट्री का, महाराष्ट्री अपभ्रंश था। यही बात अन्य प्राकृतों की थी। (पिशेल-प्रा० ग्रा० ६५) प्रत्येक बोलचाल की भाषा का सम्बन्ध किसी न किसी अपभ्रंश से था। शोरसेनी अपभ्रंश का सम्बन्ध हिन्दी, राजस्थानी तथा गुजराती से था। गुजराती का सम्बन्ध वास्तव में नागर अपभ्रंश से था (दे० नीचे)। मागधी अपभ्रंश से बिहारी, बंगला, असमिया एवं उड़िया सम्बन्धित थी। इसीप्रकार अर्द्ध मागधी से पूर्वी-हिन्दी तथा महाराष्ट्र अपभ्रंश से मराठी का सम्बन्ध था। यहाँ उत्तर-पश्चिम की भाषाएँ शेष रह जाती हैं। भारत के इस भाग में किसी साहित्यिक प्राकृत का पता नहीं चलता। किन्तु सिन्धी का सम्बन्ध, वैयाकरणों के अनुसार "व्राचड", अपभ्रंश से था। (नीचे देखें)। पुनः लहँदा की उत्पत्ति के लिए किसी अपभ्रंश का पता नहीं चलता। इसका उद्भव कैकय अपभ्रंश से माना जा सकता है। (इसके लिये देखें, मार्कण्डेय का केकय पैशाची अपभ्रंश १६)। इस केकय अपभ्रंश का व्राचड से अति निकट का सम्बन्ध था। भारतीय वैयाकरणों ने साहित्यिक अपभ्रंश को बोलचाल के अपभ्रंश से पृथक नहीं रखा। वे तीन साहित्यिक बोलियों से परिचित थे। ये थीं—नागर, व्राचड तथा उपनागर। इनमें से नागर प्रमुख बोली थी और प्रतीत होता है कि यह गुजरात के नागर ब्राह्मणों के प्रदेश में प्रचलित थी। नागर ब्राह्मण प्राचीन-काल से ही विद्वता के क्षेत्र में अग्रणी थे। नगेन्द्रनाथ वसु के अनुसार

(प्रि० पीछे-१४ नं० ।) नागर ब्राह्मणों के नाम पर ही नागरी-लिपि का नाम पड़ा। हेमचन्द्र भी गुजरात के निवासी थे और जिस अपभ्रंश का उन्होंने व्याकरण लिखा है (चार-४४६) उसका आधार शौरसेनी प्राकृत है, यद्यपि जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, उनके व्याकरण में अन्य भाषाओं के रूप भी हैं। अतः यहाँ हम यह बात स्वीकार कर सकते हैं कि नागर अपभ्रंश या तो शौरसेनी अपभ्रंश ही था अथवा उससे अति निकट से सम्बन्धित था। व्राचड अपभ्रंश सिन्ध में प्रचलित था। पिशल ने इसकी विशेषताओं का उल्लेख अपने व्याकरण में किया है। (प्रा० ग्रा० ६२२)।[120*] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आधुनिक पिशाच भाषाओं की भाँति व्राचड में मूर्धन्य तथा दन्त्य में कोई अन्तर नहीं है। उपनागर अपभ्रंश व्राचड अपभ्रंश तथा नागर अपभ्रंश का मिश्रण है और सम्भवतः यह पश्चिमी राजस्थान तथा दक्षिणी पंजाब में प्रचलित था।

६४. वैयाकरणों द्वारा प्रस्तुत अपभ्रंश के अध्ययन से साहित्यिक प्राकृतों की कृत्रिमता का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। इसके साथ यह भी ज्ञात होता है कि किस प्रकार प्राकृतों में केवल प्रवृत्तियों के आधार पर सामान्य सर्वभौम नियम बना लिये गये हैं। वास्तव में अपभ्रंश विकास की ऐसी अवस्था में थे जो साहित्यिक प्राकृत से सम्बन्धित भाषाओं से एक कदम आगे थी। फिर भी वैयाकरणों ने यह स्पष्टरूप से दिखाया है कि यह ऐसी अवस्था थी जो उनके द्वारा निर्मित मिथ्या एवं कृत्रिम सामान्य नियमों वाली भाषा से पुरानी थी। उदाहरणार्थ हेमचन्द्र (चार-३६६) में स्पष्टरूप से अपने व्याकरण में लिखा है कि अपभ्रंश में अघोष वर्णों का लोप नहीं होता। अपितु ये मृदु बन जाते हैं, यद्यपि साहित्यिक-प्राकृत में इनका लोप हो जाता है। उदाहरण के लिये "मुखेन" के लिये "सुधे" अपभ्रंश शब्द साहित्यिक प्राकृत में नहीं मिलता। वहाँ इस शब्द का रूप "सुहेण" होगा। व्युत्पत्ति की दृष्टि से किसी भी प्रकार "सुहेण" का "ह" "सुधे", के "ध" में परिणत न होगा। यह 'सुधे' वास्तव में पुराना रूप है। यह इस तथ्य को प्रकट करता है कि बोलचाल की प्राकृत में इसका उच्चारण "सुधेण" था किन्तु कतिपय व्यक्ति "सुहेण" के रूप में इसका शिथिल उच्चारण करते थे। इसप्रकार साहित्यिक-अपभ्रंश जो सदैव विश्वसनीय नहीं है, यह सूचना देता है। यह महत्वपूर्ण सूचना केवल बोलचाल के अपभ्रंश के ही सम्बन्ध में नहीं है, अपितु बोलचाल की प्राकृत के सम्बन्ध में भी है, जिसका आधार साहित्यिक प्राकृत है।

६५. जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि—बोल-चाल अथवा वास्तविक अपभ्रंश का विभाजन प्राकृतों के आधर पर ही हुआ है। दुर्भाग्यवश इस सम्बन्ध में, हम लोगों के मुख्य सूचक हेमचन्द्र ने केवल एक ही अपभ्रंश शौरसेनी अथवा "नागर" का विवरण दिया है। अपभ्रंश के सम्बन्ध में हमें अत्यल्प तथ्य ज्ञात है, यद्यपि मार्कण्डेय

ने, इनके सम्बन्ध में थोड़ा तथ्य दिया है। आज के विश्लेषण के लिए हमें यह मानना पड़ेगा कि छठवीं और एक हजार की शती के बीच प्रत्येक अपभ्रंश के विकसित अवस्था का सम्बन्ध साहित्यिक-प्राकृत से ही था जो हेमचन्द्र द्वारा व्याकरण में वर्णित, शौरसेनी अपभ्रंश का शौरसेनी प्राकृत से था। इसप्रकार संस्कृत "सुत" शब्द शौरसेनी प्राकृत में "सुदो" तथा शौरसेनी अपभ्रंश "सुदु" हो जायेगा। मागधी प्राकृत इसका शब्द रूप शूद और मागधी-अपभ्रंश में हम यह मान सकते हैं कि यह रूप "शूदि[121]* या इसी प्रकार का होगा। पुनः सं० पुत्रः शौरसेनी प्राकृत में "पुत्तो" हो जायेगा। मागधी प्राकृत में यह पश्ते (मा० ११,७) होगा। साथ ही हम यह भी कल्पना कर सकते हैं कि मागधी अपभ्रंश में यह रूप "पश्टि" होगा, आधुनिक बोलचाल की भाषाओं की गति-विधि को देखते हुए यह कल्पना तथ्यहीन न होगी। मध्यदेश की बोलचाल की आर्यभाषाओं के अकारान्त शब्दों के कर्ताकारक के रूप "ओ"<"औ", होते हैं।

पूर्वी बंगला तथा पुरानी बंगला कविता में यह रूप ए होता है। मध्यदेश का "स" "विहारी" में, "श" लिखा जाता है और बंगला में इसका उच्चारण "श" ही होता है।[12-]* मैंने स्वयं निरक्षर ग्रामीण विहार के निवासी से मध्यदेश के "पट्टा" शब्द को "पस्टा" बोलते हुए सुना है।

६६. विविध अपभ्रंश भाषाएँ द्वितीय प्राकृत के अन्तिम चरण का प्रतिनिधि करती हैं और इन्हीं से भारतीय आर्यभाषाएँ अथवा तृतीय प्राकृतों का उद्भव हुआ है। इन आर्यभाषाओं के उद्गम की तिथि ठीक-ठीक निश्चित की जा सकती है। इसके पूर्व भाषा शब्द के विविध अर्थों पर विचार करने की आवश्यकता है। पाणिनि के व्याकरण में भाषा शब्द का प्रयोग सामान्य बोलचाल की संस्कृत के लिए होता था; दूसरे शब्दों में जो वैदिक संस्कृत से भिन्न थी। पतंजलि ने भाषा शब्द का प्रयोग शुद्ध संस्कृत के लिए किया था। यह उस समय परस्पर सम्भाषण की भाषा थी। इसके साथ ही साथ उस समय द्वितीय प्राकृत का प्रचलन हो चला था।[123]* जैसा कि श्री आर० जी० भण्डारकर, (२८७) ने लिखा है। "भाषा शब्द की व्युत्पत्ति भाष् धातु से हुई है—जिसका अर्थ है भाषण करना या बोलना। अतः भाषा शब्द का मूल अर्थ व्यक्ति-वाचक नाम के रूप में बोलचाल की भाषा है। वाण ने (छठी शती) अपने हर्षचरित [124]* में एक प्रिय मित्र ईशान को भाषा कवि के रूप में नामांकित किया है। इसी में एक दूसरे मित्र "प्राकृत कवि" वायु-विकार से इन्हें पृथक बतलाया है। यहाँ भाषा शब्द से तात्पर्य छठी शताब्दी की बोलचाल की भाषा से है। भाषा शब्द का प्रयोग कृत्रिम, साहित्यिक, प्राकृत से भिन्नता प्रदर्शित करने के लिए किया गया है। दूसरे शब्दों में ईशान ने अपनी रचना के लिए, अपभ्रंश का प्रयोग किया था। इसी सम्बन्ध में राजशेखर (१०वीं शती) द्वारा लिखित (बोल-

भारत में चार साहित्यिक भाषाओं का नाम मिलता है,—ये हैं—संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा भूत-वाचन (अर्थात् पैशाची प्राकृत) ये चारों राजशेखर के युग में, व्यवहृत होती थीं। इसके बाद (१२वीं शताब्दी) में कल्हण[125*] ने कश्मीर के हर्षदेव (ग्यारहवीं शती) को—अशेष-देश-भाषाज्ञ अथवा अनेक देशी-भाषाओं का ज्ञाता तथा सर्वभाषाओं का श्रेष्ठ कवि माना है। कल्हण का नाम ही या तो अपभ्रंश का अथवा तृतीय प्राकृत का [126*] रूप है। यहाँ हम लोग भलीभाँति यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि देश-भाषा का अर्थ, स्थानीय भाषाएँ, अथवा उत्तरी भारत की भाषाएँ थीं, जिनमें "काश्मीरी"[127*] भी सम्मिलित थी। एक छन्द-शास्त्र के ग्रंथ "पिंगलार्थ प्रदीप"[128*] में—जिसकी रचना १६०१ ई० में हुई थी—उदाहरण के रूप में प्राचीन ग्रंथों से संकलित पद्य दिए गए हैं। इनमें से अनेक छन्द उन कवियों के द्वारा रचे गए हैं जो इन राजाओं के समकालीन थे। इन राजाओं का समय ज्ञात है। कविताएँ विभिन्न भाषाओं में हैं। भण्डारकर ने इस विषय में विचार करते समय लिखा है कि इनमें से कतिपय छन्द महाराष्ट्री प्राकृत के हैं, जो कि स्पष्टरूप से उस युग में उतनी ही प्रतिष्ठित थी, जितनी संस्कृत।

इसके अन्य छन्द अपभ्रंश में मिले हैं और एक छन्द "चेदी" के राजा "कर्ण" की प्रशंसा में है, जो १०५० मे शासन करता था। अन्त में अन्य छन्द तृतीय प्राकृत में, हम्मीर की प्रशंसा में लिखे गए हैं, जो १३वीं शती मे शासन करता था। हिन्दी के काव्य "पृथ्वीराजरासो" के रचयिता कवि "चन्द" का निधन १२वीं शती के अन्त में हुआ था। इन तथ्यों से यह परिणाम निकलता है कि भारतीय आर्य-भाषाओं का प्रयोग साहित्य-रचना के लिए १३वीं शती के आरम्भ से ही होने लगा था तथा इसी कार्य के लिए ११वीं शती तक अपभ्रंश का प्रयोग प्रचलित था। किसी भाषा में साहित्य रचना के लिए कुछ समय की आवश्यकता होती है। इसी बात पर विचार करते हुए हम यह कह सकते हैं कि भारतीय-आर्य-भाषाएँ तृतीय प्राकृत से १००० ई०[129*] में प्रादुर्भूत हुई थीं। यह वही समय था, जब महमूद गजनी ने अपने भारत के पन्द्रह आक्रमणों में से, प्रथम आक्रमण किया था।

६७. तृतीय प्राकृत के लम्बे विकास के साथ-साथ, आज तक क्लासिकी संस्कृत का गम्भीर अध्ययन, धर्म एवं प्रतिष्ठा की दृष्टि से प्रचलित रहा। समय की प्रगति से संस्कृत में भी परिवर्तन हुआ[130*]। किन्तु सब मिलाकर यह पाणिनि तथा उसके उत्तराधिकारियों द्वारा निर्मित नियमों का अनुगमन करती रही। यह क्रमशः शिष्ट भाषा से, पाठशालाओं की भाषा में परिणत हो गई। भारत में संस्कृत का वही स्थान हो गया जो मध्ययुग में लैटिन का था अथवा जो यहूदी लोगों में हिब्रू का था [131*]। वैदिक संस्कृत में भी बोलचाल की प्रथम प्राकृत से गृहीत शब्दों के उदाहरण उपलब्ध हैं। इसीप्रकार, बाद के युग में, द्वितीय प्राकृत से गृहीत

अनेक शब्दों के उदाहरण मिलते हैं।[132*] दूसरी ओर द्वितीय तथा तृतीय प्राकृतों ने संस्कृत के अनेक शब्द ग्रहण किये हैं किन्तु इस तथ्य का उल्लेख द्वितीय प्राकृत के वैयाकरणों ने नहीं किया[133*]। हेमचन्द्र ने स्पष्टरूप से इसे स्वीकार किया है (चार-४४८) और आज के सादृश्य पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उच्च प्राकृत के अध्येता तथा अन्य शिक्षित व्यक्तियों के संलाप में संस्कृत शब्दों का बाहुल्य रहता होगा। एक बार गृहीत ऐसे शब्दों की वही दशा हुई जो प्राचीन प्रथम प्राकृत से गृहीत शब्दों की हुई थी जो उत्तराधिकार के रूप में द्वितीय प्राकृत से प्राप्त हुए थे। ये शब्द बोलने वाले लोगों के मुख में आकर विकृत हो गये, यद्यपि उत्पत्ति की दृष्टि से वे शब्द प्राकृत के न थे[134*]।

६८. इस प्रकार जिन शब्दों के संस्कृत रूप अक्षुण्ण रहे वे तत्सम (तत्=संस्कृत) कहलाये[135*]। इसके साथ जो मूल प्राकृत शब्द सीधे वंशानुक्रम से, प्रथम प्राकृत से आये, वे तद्भव कहलाये। दूसरे शब्दों में वे तद्भव शब्द उस मूल प्रथम प्राकृत से गृहीत हुए थे जिसकी एक बोली से क्लासिकी संस्कृत प्रादुर्भूत हुई थी। इन तद्भवों के अन्तर्गत वैयाकरणों ने उन तत्सम शब्दों का भी समावेश किया है जो प्राकृत बोलने वालों के मुख में आकर विकृत एवं प्राकृत-रूप में आ गये थे। इन्हें मैं अर्ध-तत्सम की संज्ञा देना चाहूँगा। यह स्पष्ट है कि समय की प्रगति से सभी तत्सम, अर्धतत्सम रूप में परिणत होने की प्रवृत्ति आई होगी और तब ये अर्धतत्सम इस रूप में आ गये होंगे कि इन्हें तद्भव से पृथक करना कठिन हो गया होगा[136*]। एक अन्य वर्ग के शब्दों को भारतीय वैयाकरण ने 'देश्य' नाम से अभिहित किया है। इस वर्ग के अन्तर्गत उन शब्दों का समावेश किया गया है जिनकी संस्कृत से व्युत्पत्ति देने में, ये वैयाकरण असमर्थ थे। इस सूची में कतिपय शब्द ऐसे थे जो मूल से संस्कृत कर लिये गये थे।[137*] आज के विद्वानों ने इनमें से कई शब्दों की व्युत्पत्ति, अन्य तद्भव शब्दों के समान ही दी है। इन शब्दों में कुछ ऐसे शब्द भी हैं जो द्रविड़ तथा मुंडा भाषाओं से आये हैं किन्तु अधिकांश शब्द प्रथम प्राकृत की बोली से गृहीत हुए हैं। वास्तव में यह वह बोली न थी जिससे संस्कृत का उद्भव हुआ था। ये शब्द वास्तविक तद्भव हैं, यद्यपि भारतीय वैयाकरणों ने इन्हें स्वीकार नहीं किया है क्योंकि उनके विचारानुसार ऐसी कोई प्राचीन बोली न थी। ये देश्य शब्द स्थानीय बोलियों के रूप हैं तथा साहित्यिक कृतियों में भी उपलब्ध हैं। ऐसे कई शब्द गुजराती में उपलब्ध हैं जो संस्कृत के मूल स्थान, मध्यदेश से बहुत दूर हैं[138*]। हम इन शब्दों को तद्भव में स्थान दे सकते हैं।

६९. भारतीय आर्य-भाषा के शब्द-समूह में भी हम ठीक यही स्थिति पाते हैं[139*]। यदि विदेशी शब्दों—द्रविड़, मुंडा, फारसी, अरबी या अंग्रेजी को छोड़ दें—तो इनके शब्द-समूह को हम तीन वर्गों, तत्सम, अर्धतत्सम, तथा तद्भव में विभाजित

कर सकते हैं। इनमें से तद्भव वे शब्द हैं जिन्हें भारतीय-आर्य-भाषा ने द्वितीय प्राकृतों से प्राप्त किया है। ये शब्द या तो प्रथम प्राकृत से आये हैं या तत्सम (जिनमें अर्धतत्सम भी सम्मिलित है) अवस्था में संस्कृत से आये हैं। भारतीय-आर्य-भाषा की दृष्टि से इनकी व्युत्पत्ति का कोई मूल्य नहीं है, यदि ये द्वितीय प्राकृत से आये हैं। वास्तव में आज की आर्य-भाषाओं में जो तत्सम एवं अर्द्धतत्सम शब्द गृहीत हुए हैं, वे सीधे संस्कृत से आये हैं न कि किसी द्वितीय स्रोत से आये हैं। इसे यहाँ एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। भारतीय-आर्य-भाषा में "आज्ञा" शब्द सीधे संस्कृत से आया है। इसका अर्धतत्सम इन भाषाओं में आग्याँ के रूप में मिलता है। इसका तद्भव रूप हिन्दी में "आन" है जो द्वितीय प्राकृत 'अणा' से व्युत्पन्न है। इसीप्रकार "राजा" तत्सम शब्द है किन्तु राय एवं राव तद्भव शब्द हैं। ऐसा प्रायः बहुत कम होता है कि एक ही समय से एक तत्सम के दो रूप मिलें। अधिकतर एक तत्सम तथा एक रूप मिलता है[१५०]। कभी-कभी एक शब्द के तत्सम तथा तद्भव, दोनों रूप मिलते हैं किन्तु दोनों के अर्थ में अन्तर होता है, यथा, राजा, राय और राव के अर्थ में भिन्नता है। इसीप्रकार संस्कृत 'वंश' शब्द को लिया जा सकता है। इसका एक अर्थ है 'परिवार' तथा दूसरा अर्थ है "बाँस"। इसी से सम्बन्धित हिन्दी अर्धतत्सम बंस है किन्तु इसका तद्भव बाँस है[१५१]।

७०. अतः इस तथ्य को यहाँ समझ लेना चाहिये कि भारतीय-आर्य-भाषाओं के शब्द इन भाषाओं में विदेशी हैं। (अथवा विदेशी के समान हैं)। ये आधुनिक आर्य-भाषाओं के उसीरूप में शब्द नहीं है जिसरूप में लैटिन के शब्द फ्रेंच अथवा इटालीय भाषाओं में, उसके शब्द नहीं हैं। ये (संस्कृत के शब्द) भारतीय-आर्य-भाषा के समूह में, अतिरिक्त रूप में हैं तथा इन भाषाओं की व्याकरणिक रचना को किसी भी रूप में प्रभावित नहीं करते। इनकी स्थिति विदेशी शब्दों के गृहीत रूप में है तथा ये भाषा की मूल रचना अथवा संरचना में किसी प्रकार का व्यवधान उपस्थित नहीं करते। इसके अतिरिक्त इन (संस्कृत) शब्दों में किसी प्रकार का रूप-परिवर्तन नहीं होता। उदाहरणार्थ हिन्दी के "घोड़ा" शब्द का तिर्यक रूप "घोड़े" होगा क्योंकि यह तद्भव शब्द है किन्तु "राजा" शब्द तिर्यक में परिवर्तन नहीं होगा क्योंकि यह तत्सम (=संस्कृत) शब्द है। व्याकरणिक परिवर्तन का घनिष्ट सम्बन्ध भाषा के इतिहास से होता है और आर्यभाषा में गृहीत (संस्कृत) शब्द इनके इतिहास के अंग नहीं हैं। सभी आर्य-भाषाओं में, क्रिया के रूप में परिवर्तन आवश्यक नहीं है। इसीलिये सभी तत्सम (संस्कृत) शब्द संज्ञा होते हैं और इनका क्रियारूप में प्रयोग, प्रायः नहीं होता। यदि किसी तत्सम शब्द द्वारा क्रिया का व्यापार द्योतित करने की आवश्यकता होती है तो इसमें तद्भव संयुक्त करके कार्य सम्पन्न किया जाता है। उदाहरण के लिए "दर्शन" शब्द को लिया जा सकता है। यदि हम यह कहना चाहें

कि वह दर्शन करें तो यहाँ दर्शन का रूप "दर्शने" करने से काम नहीं चलेगा। अपितु इसके साथ "कर" तद्भव रूप संयुक्त करना होगा और तब कहा जायेगा "दर्शन करें"। इसके विपरीत आजकल की आधुनिक भाषाओं में संज्ञा का रूप संश्लिष्ट ढंग से चलाने की आवश्यकता नहीं है। ये विश्लिष्ट[142*] ढंग से ही शुद्ध होते हैं। इसप्रकार तत्सम संज्ञा शब्द विश्लिष्ट ढंग से ही सिद्ध होते हैं। अधिकांश आर्यभाषाओं में यही पद्धति प्रचलित है। यद्यपि सामान्य नियम का कहीं-कहीं अपवाद भी मिल सकता है। किन्तु सामान्य नियम यही है कि भारतीय-आर्य-भाषा में संज्ञा शब्द या तो तत्सम (इनमें अर्ध तत्सम भी सम्मिलित हैं) और तद्भव रूप में प्रयुक्त होते हैं, किन्तु इनके क्रियापद केवल तद्भव ही होते हैं।

७१. आधुनिक आर्यभाषाओं में तत्सम शब्द किस मात्रा में प्रयुक्त होते हैं इनका प्रत्येक भाषा में अलग-अलग हिसाब है। प्रत्येक बोलचाल की भाषा में शिक्षित व्यक्ति बहुत कम तत्सम शब्दों का प्रयोग करते हैं किन्तु किसी-किसी भाषा, उदाहरणार्थ साहित्यिक बंगला में तो तत्सम शब्दों की इतनी अधिकता है कि जो लोग इससे भली-भाँति परिचित नहीं हैं, उनके लिए इसका समझना कठिन है। १९वीं शती के आरंभ के बंगला साहित्य में अंग्रेजों के तत्वावधान में शिक्षा एवं ज्ञान-विज्ञान का पुनरुत्थान हुआ। इस समय पुरुषपरीक्षा नामक पुस्तक प्रस्तुत की गई। उसके शब्दों की गणना करने से ज्ञात हुआ कि इसमें ८८% शब्द तत्सम हैं। इधर बाद में साहित्यिक अभिरुचि में परिवर्तन हुआ और बंगला-साहित्य में ये अपेक्षाकृत कम अनुपात में ही प्रयुक्त होने लगे। किन्तु आज भी साहित्यिक बंगला में इतने अधिक तत्सम शब्द व्यवहृत होते हैं कि जन-साधारण के लिए उन्हें समझना दुष्कर है। बनारस की उच्च हिन्दी भी इसी ओर जा रही है किन्तु लेखकों का एक प्रबुद्ध वर्ग इन तत्सम शब्दों के ग्रहण करने के विरुद्ध है[143*]।

७२. संस्कृत के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं ने भी भारतीय आर्य-भाषाओं को भी प्रभावित किया है। इनमें से द्रविड़ तथा मुंडा भाषाओं ने गंगा के कांठे की भाषाओं तथा मराठी को अत्यधिक प्रभावित किया है। अत्यन्त प्राचीन-काल से, आर्यभाषाओं को प्रभावित करने में द्रविड़ भाषाओं का योगदान कम नहीं रहा है[144*]। तृतीय प्राकृत (आधुनिक आर्यभाषाओं) में द्रविड़ भाषा से गृहीत शब्दों को कभी-कभी घृणास्पद अर्थ भी दिया गया है। उदाहरणार्थ द्रविड़ (तमिल) के "पिल्ले" पुत्र शब्द को हिन्दी "पिल्ला" कुत्ते का बच्चा कहा गया है। आधुनिक आर्यभाषाओं के ध्वनि-समूह में यदि मूर्धन्य वर्ण सीधे द्रविड़ भाषाओं से न भी आये हों तो भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि द्रविड़ भाषाओं से इनके विकास को प्रोत्साहन अवश्य मिला। ये वर्ण द्रविड़ भाषाओं के आवश्यक अंग हैं। भारतीय-आर्य-भाषाओं में "ल" ध्वनि के विचित्र विकास का कारण भी संभवतः द्रविड़ भाषाएँ

हैं। यहाँ भारतीय-आर्यभाषाओं के मध्यवर्ती अघोष वर्णों के मृदुलीकरण के तथ्य भी विचारणीय हैं[145]*। समय की प्रगति से यह प्रक्रिया स्वभाविक रूप से सम्पन्न हुई होती किन्तु इसके लिये द्रविड़ भाषाओं की ओर भी दृष्टिपात करने की आवश्यकता है क्योंकि यह उनकी एक विशेषता है। मराठी तथा उत्तर-पश्चिम की भाषाओं, पश्तो तथा कश्मीरी में, तालव्य वर्णों (च वर्ग) के दुहरे उच्चारण तथा "च", छ, के "स" के उच्चारण एवं पूर्वी भाषाओं (असमिया) में "स">"ह" के उच्चारण पर भी द्रविड़ भाषा का प्रभाव परिलक्षित होता है[146]*। बाहरी वृत्त की कतिपय भाषाओं यथा, सिन्धी, बंगला तथा कश्मीरी के अर्धतत्सम शब्दों में अन्तिम ह्रस्व इ, उ वर्ण मध्यदेशीय भाषाओं की भाँति लुप्त नहीं हो जाते अपितु ये ह्रस्व अर्ध रूप में अंतिम व्यंजन में, उच्चरित होते हैं। इसप्रकार "मूर्ति" शब्द मध्यदेश की हिन्दी भाषा में मूरत हो जाता है किन्तु बिहारी में इसका उच्चारण "मूरति" यहाँ "त" का "इ" अर्धमात्रा है। यह भी द्रविड़ भाषा की विशेषता है।

७३. शब्द-रूप में द्रविड़ भाषा का प्रभाव अधिक मात्रा में दृष्टिगोचर होता है। द्रविड़ भाषाओं से शब्दरूप ग्रहीत नहीं हुए हैं। परन्तु आर्यभाषाओं के शब्द रूपों की व्यवस्था जो दविड़ भाषाओं के अनुरूपी थी वह आर्यभाषाओं में प्राप्त होती है। यह है संज्ञा के तिर्यक रूपों में परसर्ग संयुक्त कर कारकों की रचना, परसर्ग के रूप में एक विशेष आर्यभाषा के शब्दों को चुनना[147]*—सम्बन्ध, अपादान तथा संप्रदान कारकों के रूप विशेषण के रूप में बनाना[148]*, कर्मकारक[149]* के दो रूपों में प्रयोग जिनमें से एक है जीवित प्राणी के लिए प्रयोग :—क्रिया के विधेयक रूपों का भाव तथा काल-निर्माण के लिए कृदन्त परक शब्दों का विस्तार :—निरपेक्षिक क्रियार्थ का अधिक प्रयोग, दूसरे शब्दों में भारतीय आर्यभाषाओं के संयोजककृदन्तीय रूप जो गौण वाक्यों में प्रयुक्त होते हैं, का अधिक मात्रा में प्रयोग :—बाद की संस्कृति में संयुक्त भविष्य के रूपों का प्रयोग जो द्रविड़ भाषाओं के प्रयोग की भाँति है[150]*। अतीत-काल के निर्माण के लिए संस्कृत के कृतवान शब्दों का प्रयोग जो द्रविड़ के सेयडवान के समान है। आर्यभाषाओं में शब्दक्रम जिसमें विशेषण-विशेष्य के पहले आता है तथा क्रिया का प्रयोग अंत में होता है यह पद्धति भी द्रविड़ भाषाओं से ही ली गई है[151]*।

७४. आर्यभाषाओं पर मुंडा भाषा का प्रभाव उतना स्पष्ट नहीं है। आर्यों के आगमन के पूर्व ही गंगा के मैदानी भाग पर द्रविड़ लोगों ने अपना अधिकार जमा लिया था और इसप्रकार मुंडा भाषाएँ द्रविड द्वारा अधिकृत कर ली गई थीं। संप्रति, मुंडा भाषाएँ मध्य-भारत के आरण्य प्रदेश में सीमित हो गई है। यद्यपि इनके अवशेष मध्य हिमालय की भाषाओं के नीचे पंजाब[152]* के कनवार तक मिलते हैं। आर्य-भाषाओं में मुंडा के अवशेष बीस-बीस की गणना में मिलता है। जहाँ भारतीय आर्य-

भाषाओं का गणनाक्रम दाशमिक प्रणाली पर है, वहाँ मुंडा में कोड़ी के रूप में गणना होती है और गंगा के कांठे में भी अशिक्षित लोग गणना की इसी प्रणाली को अपनाए हुए हैं। इसप्रकार ५२ के लिए दो कोड़ी और १२ कहने की हिन्दी प्रदेश में प्रथा है। यह बीसवीं गणना की पद्धति मुंडा की विशेषता है। मुंडा लोगों का सर्वाधिक प्रभाव गंगा के मैदान में था। अतएव एक दूसरे प्रकार का इनका प्रभाव बिहारी की भाषा मगही तथा मैथिली में दृष्टिगोचर होता है। इन दोनों बोलियों में क्रिया के रूप अत्यन्त जटिल हैं और ये कर्म के पुरुष और वचन के अनुसार संपन्न होते हैं। यह परिवर्तन मूलतः आर्यभाषाओं के हैं और ये उत्तरी पश्चिमी आर्य-भाषाओं में उपलब्ध हैं किन्तु क्रियापदों की यह व्यवस्था मुंडा की है[153*]।

७५. भारत-चीनी (इंडोचाइनीज) भाषाएँ भारतीय आर्य-भाषा के सम्पर्क में, असम, पूर्वी-बंगाल (अब बंगला देश) तथा हिमालय प्रदेश में आईं। प्रथम दो (असम एवं बंगला देश) में, कतिपय तिब्बती-बर्मी एवं अहोम शब्द गृहीत हुए। असम की (असमिया) भाषा पर तिब्बती-बर्मी भाषा का प्रभाव परिलक्षित होता है। यहाँ मूर्धन्य तथा दन्त्य वर्णों के उच्चारण का अन्तर समाप्त हो रहा है। इसके अतिरिक्त यहाँ की भाषा में सर्वनामीय प्रत्यय भी संयुक्त होते हैं। ऐसे प्रत्ययों का प्रयोग, उत्तर-पश्चिम की भाषा छोड़कर अन्य भारतीय भाषाओं में समाप्त हो चुका है। तिब्बती-बर्मी भाषा में, सर्वनामीय उपसर्गों का स्वच्छन्दता से प्रयोग होता है। पूर्वी पहाड़ी की भाषा, नेपाली, का व्याकरण, शब्द-समूह की अपेक्षा-तिब्बती-बर्मी से अधिक प्रभावित है। इसके क्रियारूपों पर तिब्बती-बर्मी के प्रभाव विशेषरूप से दृष्टिगोचर होते हैं।[154*] व्याकरण का एक सामान्य नियम भी तिब्बती-बर्मी से प्रभावित है। यह भारतीय आर्यभाषाओं की सकर्मक-क्रिया का भावे प्रयोग है। क्लासिकी सस्कृत में अकर्मक क्रिया के अतीतकाल का कृदन्तीय रूप भावे प्रयोग के रूप में व्यवहृत हो सकता है, यथा, "मया गतम् (=मेरे द्वारा जाया गया) अर्थात् "मैं गया; किन्तु सकर्मक क्रिया के साथ यह प्रयोग अशुद्ध हो जायेगा और हम यह नहीं कह सकते—मया मारितम्" "मैंने मारा"। किन्तु तिब्बती वर्मी भाषाओं में यह सिद्ध प्रयोग है तथा पूर्वी समूह की भाषाओं को छोड़कर भारतीय आर्य-भाषाओं में यह विहित है। यदि इस प्रयोग का विस्तार अथवा अवशेष आज की बोलचाल की भाषा में है किन्तु जो संस्कृत में नहीं है तो इसका कारण यह है कि अत्यन्त प्राचीन काल में आर्यो तथा तिब्बती वर्मा भाषियों से उनके प्राचीन-भारत आगमन काल में ही कहीं भेट हुई थीं।

७६. द्रविड़ तथा मुंडा एवं भारतीय चीनी भाषाओं द्वारा आधुनिक आर्य-भाषाओं के शब्द-समूह को जो आदान मिला था उससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण इस पर फारसी के प्रभाव एवं आदान का है। जिस फारसी के आदान का यहाँ पर

उल्लेख किया जा रहा है वह इस्लाम के पूर्व की इरानी भाषा नहीं है। यद्यपि आधुनिक भाषाओं को इरानी भाषा का भी योगदान है[155*] फिर भी यह फारसी-अरबी मिश्रित मुगल विजेताओं की है। इस फारसी के द्वारा भारतीय-आर्यभाषाओं को अरबी एवं कतिपय तुर्की शब्दों का आदान मिला। इस्लाम धर्म के प्रभाव से अरबी के प्रवेश के लिए एक दूसरा द्वार खुला और पश्चिमी तट पर अरब व्यापारियों द्वारा कतिपय शब्द भारत में आये। किन्तु अधिकांश अरबी शब्द आधुनिक-आर्य-भाषाओं में फारसी श्रोत से हो आये। इन फारसी शब्दों के उच्चारण वे नहीं हैं जो आज के फारस में हैं अपितु ये मुगलकाल के उच्चारण हैं। उदाहरणार्थ आज के भारतीय, 'व्याघ्र' के लिए 'शिर' नहीं कहते अपितु 'शेर' कहते हैं। मांस के लिए 'गुस्त' नहीं अपितु 'गोस्त' कहते हैं।[156*] फारसी ने यहाँ के वातावरण में कहाँ तक सामंजस्य एवं ऐक्य स्थापित किया है यह धर्म एवं स्थान पर निर्भर करता है। कुछ फारसी शब्द ऐसे हैं जिन्हें पूर्ण नागरिकता मिल गई है और इन्हें निरक्षर तथा गँवार भी अच्छे ढंग से व्यवहृत करता है। किन्तु दूसरी ओर उच्च शिक्षा प्राप्त लखनऊ के मुसलमानों की उर्दू है जिसमें एक वाक्य में क्रिया के अतिरिक्त सम्पूर्ण शब्दावली अरबी-फारसो के हैं। प्रत्येक दशा में केवल शब्द समूह प्रभावित हुए हैं। किन्तु वाक्य रचना पर बहुत कम प्रभाव पड़ा है। शब्द-समूह में इन अरबी-फारसी शब्दों का योग-दान संस्कृत तत्सम् शब्दों के समान केवल संज्ञा शब्दों तक सीमित है। (देखो—७०) केवल मुसलमानों की उर्दू में ही वाक्य में हम फारसी की रीति भी पाते हैं। किन्तु प्रायः वाक्य में फारसी की रीति का प्रयोग नहीं हुआ है। यह दूसरी बात है कि जहाँ फारसी के वाक्य लिए गये हैं वहाँ उनकी रीति का प्रयोग हुआ है। कुछ बिल्कुल शुद्धतावादी लोगों को छोड़कर अरबी शब्दों के रूप को भी नहीं अपनाया गया है। अपितु जिन भाषाओं द्वारा ये शब्द लिए हैं उन्हीं के अनुसार इनका रूप भी है। लोग विदेशी रचना पद्धति के इतने प्रतिकूल हैं कि हिन्दू लेखक उर्दू का आधार शब्द-समूह नहीं मानते अपितु वाक्य रीति के मानते हैं।[157*]

७७. भारतीय आर्यभाषा के शब्द-समूह को अन्य भाषाओं ने भी शब्द-दान किया है। इनमें से मुख्य रूप से पुर्तगाली तथा अंग्रेजी भाषाएँ हैं। पुर्तगाली भाषा से कमरा मार्तोल तथा नीलाम जैसे शब्द आर्य भाषाओं में आये हैं। इसी प्रकार अंग्रेजी से भी अनेक शब्द लिये गये हैं। यथा—रेलवे-ट्राली > ठेलागाड़ी, सिगनल > सिकन्दर, सिगल-मैन > सिकन्दर-मैन। (सिगनल का सिकन्दर के रूप में परिवर्तन, बिहार की भाषाओं, विशेषरूप से भोजपुरी में हुआ है)। इधर के वर्षों में शिक्षित लोगों द्वारा अंग्रेजी का प्रयोग धड़ल्ले से हो रहा है। मैंने एक भारतीय पशु-चिकित्सक को यह कहते हुए सुना है— कुत्ते का सलिवा बहुत एन्टिसेप्टिक है। यहाँ यूनाइटेड प्राविसेंज के सेन्सस रिपोर्ट (=यू० पी० जनगणना की रिपोर्ट) (पृष्ठ २८४) से एक

वाक्य उद्धृत किया जाता है। यह इस प्रकार है—(मैं) पोजीशन का इनकन्ट्रोवर्टिबुल प्रूफ दे सकता हूँ और मेरा ओपिनियन यह है कि डिफेन्स का आर्गुमेन्ट वाटरहोल्ड नहीं कर सकता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इस वाक्य का केवल क्रिया पद ही नहीं अपितु व्याकरण एवं वाक्यरीति भी भारतीय है। इस वाक्य में केवल संज्ञा-शब्द गृहीत हुए हैं, केवल "टू होल्ड वाटर" को "वाटर-होल्ड" में परिणत कर दिया गया है तथा इसे तत्पुरुष समास बना दिया गया है जो मूल अंग्रेजी में न था। इसप्रकार की मिश्रित भाषा का प्रयोग केवल अंग्रेजों से वातचीत करने में ही नहीं होता अपितु अंग्रेजी शिक्षित भारतीय परस्पर भी इसप्रकार का वार्तालाप करते हैं।

७८. भारतीय आर्यभाषा के शब्द-समूह में, दो मुख्य परिवर्धन, तत्सम (=संस्कृत शब्द) तथा फारसी (इसमें अरबी शब्द भी सम्मिलित हैं) के द्वारा सम्पन्न हुए हैं। आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में शिक्षित हिन्दुओं के द्वारा तत्सम शब्द आये हैं तथा शिक्षित मुसलमानों एवं उन हिन्दुओं द्वारा जिनको शिक्षा दीक्षा मुसलमानी रीति से हुई है (दे० पीछे ६, ७) फारसी-अरबी शब्द आये हैं। इनका आधार भाषिक तत्वों की अपेक्षा धर्म अधिक है। यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि जहाँ तक भाषा के साहित्यिक-रूप का प्रश्न है, पूरब तथा दक्षिण के लोग तत्सम शब्दों का प्रयोग पसन्द करते हैं किन्तु पश्चिमी मध्य-देश तथा उत्तर-पश्चिम के व्यक्ति फारसी-अरबी शब्दों का व्यवहार पसन्द करते हैं। इस तथ्य को नीचे की तालिका में स्पष्ट किया गया है। इसका आधार बीम्स की कृति है। (दे० अध्याय व्या० १, ४०) लहँदा, पंजाबी, हिन्दी, पूर्वी हिन्दी, उच्च हिन्दी बिहारी, बंगला, उड़िया, सिन्धी, गुजराती, मराठी।

यहाँ उत्तरी-पश्चिमी आर्यभाषाएँ, लहँदा तथा सिन्धी, मुख्यरूप से मुसलमानों द्वारा बोली जाती हैं अतः इनमें फारसी-अरबी के शब्द भरे पड़े हैं। धुर पूरब की ओर जहाँ मुख्यरूप से शिक्षित हिन्दू निवास करते हैं तथा जो बंगला एवं उड़िया भाषी हैं, तत्सम शब्द व्यवहृत करते हैं। अन्य भाषाओं का स्थान मध्यवर्ती है। जैसा कि ऊपर दिखाया गया है, हिन्दी दो स्थानों पर है, पश्चिम में, आगरे की साहित्यिक हिन्दी में, तत्सम शब्दों का कम प्रयोग होता है तथा इसमें पूरब को बनारस को हिन्दी की अपेक्षा, फारसी शब्दों का व्यवहार स्वच्छन्दता से होता है। फारसी से लदी हुई उर्दू भाषा के सम्बन्ध में यहाँ विचार नहीं किया जाता क्योंकि यह सम्पूर्ण उत्तर भारत की लिग्वा फ्रांका है। अलग-थलग होने के कारण असमिया में, बंगला की अपेक्षा कम तत्सम शब्दों का प्रयोग होता है और इस सम्बन्ध में उसका स्वतन्त्र स्थान है अतः ऊपर की तालिका में उसे स्थान नहीं दिया गया।

७९. अब यहाँ आधुनिक पिशाच भाषाओं के इतिहास के विषय में विचार

करना शेष है। इनके सम्बन्ध में ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ भी कहना कठिन है केवल इतना ही कहा जा सकता है कि अशोक के समय में इस क्षेत्र में जो भाषा बोली जाती थी वह ध्वन्यात्मक रूप में पैशाची की ही भाँति थी।[158*] शाहबाजगढ़ी तथा मानसेहरा के अशोक के अभिलेख इस तथ्य को स्पष्टरूप से द्योतित करते हैं। हम लोगों के पास कोई ऐसा तथ्य नहीं है जिससे हम यह कह सकें कि हेमचन्द्र द्वारा वर्णित पैशाची प्राकृत का स्थान कहाँ था? किन्तु यदि यह पिशाच जनों की भाषा थी तो यह मध्य-भारत में कहीं प्रचलित थी (देखो पीछे * ३५) हेमचन्द्र द्वारा वर्णित पैशाची प्राकृत से सीधे उत्तर-पश्चिम की पैशाची प्राकृत पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता किन्तु फिर भी जो प्रकाश पड़ता है वह पर्याप्त है।[159*] कुछ बातों में आधुनिक पिशाच भाषाएँ पामीर[160*] की इरानीय तलचाह भाषा से मिलती-जुलती हैं और इनकी कतिपय इरानीय विशेषताओं की ओर पीछे संकेत भी किया है। (देखो पीछे ३६) पुनः मध्य-एशिया की भाषा तोखारी से[161*] भी ये पैशाची भाषाएँ समता रखती हैं और जे० ब्लाख[162*] व्यंजन ने, इन दोनों के ध्वन्यात्मक विशेषताओं में समता की ओर संकेत किया है। इसप्रकार सभी तथ्य इस बात की ओर संकेत करते हैं कि हिन्दूकुश के उस पार बोली जाने वाली इरानी अर्धइरानी भाषाओं का प्रो० न्यूमेन द्वारा वर्णित उत्तरी आर्यभाषा से सम्बन्ध था। शाहबाजगढ़ी की बोली से आधुनिक पिशाच भाषाओं का साम्य यह है कि प्राकृत में जहाँ व्यंज्जन वर्णों का द्वित्व होता था वहाँ आधुनिक पिशाच भाषा में यह प्रक्रिया नहीं होती। उदाहरणार्थ संस्कृत के शब्द का रूप काश्मीरी "सद" होता है प्राकृत की भाँति सद्द नहीं, ठीक यही बात शाहबाजगढ़ी तथा मानसेहरा के अभिलेखों में भी मिलती है। यद्यपि कई विद्वानों ने लिखते हुए यह विचार प्रकट किया है कि वास्तव में द्वित्व व्यंजन वर्ण रहे होंगे खरोष्ठी लिपि[163*] की त्रुटि के कारण यहाँ एक व्यंजन का प्रयोग हुआ है। मैं साहस पूर्वक यह बात कहना चाहता हूँ कि इन विद्वानों की भूल है खरोष्ठी लिपि का लेखक यदि चाहता तो द्वित्व व्यंज्जन वर्ण लिख सकता था क्योंकि उसमें सफलतापूर्वक अन्य व्यंज्जन गुच्छों को लिखा है। इसप्रकार इस प्रदेश की भाषा में द्वित्व व्यंजनों की उपस्थिति को स्वीकार करना समीचीन नहीं है क्योंकि इस क्षेत्र की भाषाएँ इस तथ्य का समर्थन नहीं करती।[164*] इस बात का उल्लेख पहले किया जा चुका है कि उत्तर-पश्चिम की भाषाओं की प्राकृत तथा मागधी प्राकृत की उत्पत्ति एक ही स्रोत से हुई थी और यह उत्तर-पश्चिम की प्राकृत आधुनिक पिशाच भाषाओं का स्त्रोत थी। इसके सम्बन्ध में देखो (५०, ५१) इस विषय में मैं कुछ भी नहीं कहना चाहता।

८०. भारतीय आर्यभाषाओं के सम्बन्ध में विचार करते समय हम स्वाभाविक रूप से इनकी द्वितीय प्राकृत से तुलना करेंगे जो कि इनका स्रोत है न कि संस्कृत से। संस्कृत और प्राकृत में जो सम्बन्ध है उसके सम्बन्ध में यहाँ विचार करने

करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि उससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। इस सम्बन्ध में पिशल ने अपने व्याकरण में भली-भाँति विचार किया और हम यहाँ बराबर यह आशा करते हैं कि हमारे पाठक पिशल की कृति से परिचित होंगे, किन्तु जहाँ तक आधुनिक पिशाच भाषाओं का सम्बन्ध है, हमें ऐसी प्राकृत ज्ञात नहीं है जिससे इनका सम्बन्ध तत्काल जोड़ा जा सके और इस सम्बन्ध में इतने कम तथ्य ज्ञात हैं कि उनके द्वारा आगे की खोज नहीं की जा सकती। अतएव हम आधुनिक पिशाच भाषाओं की तुलना प्रथम प्राकृत से करने के लिए बाध्य हैं। इस प्रथम प्राकृत का ही संस्कार करके साहित्यिक संस्कृत का उद्भव हुआ था। इसके अतिरिक्त इरानी भाषाओं से भी आधुनिक पिशाच भाषाओं की तुलना की जा सकती है।

परिशिष्ट

(द्वितीय अध्याय)

८१. उत्तर-पश्चिमी भारतीय-आर्य-भाषा तथा पूर्वी-भारतीय-आर्य-भाषा के सम्बन्ध में (देखो* ५२ नं०।) जैसा कि हार्नले ने मराठी तथा पूर्वी भारतीय-आर्य-भाषाओं में बहुत घनिष्ट सम्बन्ध दिखाया है और इसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। मैं इस सम्बन्ध में यहाँ कुछ भी न कहूँगा। नियमतः मैं अपने विचारों को उत्तरी-पश्चिमी तथा पूर्वी आर्यभाषाओं तक सीमित रखूँगा और मराठी तथा मध्यवर्ती भाषाओं से ही आवश्यकतानुसार उदाहरण दूंगा। चूंकि काश्मीरी, यद्यपि आधुनिक पिशाच भाषा है और उत्तरी-पश्चिमी भारतीय आर्यभाषा से उसका स्पष्ट सम्बन्ध है अतः मैं सभी उससे उदाहरण दूंगा।

८२. ध्वनि—काश्मीरी तथा सिन्धी में अन्तिम ह्रस्व "इ" अथवा "ए" इतने धीरे से उच्चरित होते हैं कि वे कठिनाई से सुनाई देते हैं।[165*] ठीक यही बात "बिहारी" के सम्बन्ध में भी है। इसप्रकार—काश० अच्छि, (हिन्दी आँख), सिं० अखि, सिं०-अङारु, कोयला = वि०—आँखि, अङ्रि (अङ्गार के लिए) देखथु (उसे देखने से)—(यहाँ इ तथा उ का उच्चारण अति ह्रस्व है)

८३. जैसा कि ऊपर बिहारी "अङ्रि" में है, यह अति ह्रस्व स्वर प्रायः लुप्त हो जाता है किन्तु यह अभिनिहित के रूप में, विशेषरूप से लहँदा में प्रभावित करता है। यथा, लहँदा में, बाहड़, बाहड़ तथा बाहड़ु (यहाँ "उ" अति ह्रस्व है) के लिये बाहिड़, 'कलोर'।[166*] इसीप्रकार बंगला तथा ओड़िया में बंगणु (यहाँ "उ" अति ह्रस्व है) के लिये बागुन् तथा आगणु (उ अति ह्रस्व) के लिये आगुन् "अग्नि" शब्द रूप मिलते हैं।

८४. उत्तर-पश्चिम की भाषाओं में सर्वथा प्रायः "ए" तथा "इ" एवं "ओ"

तथा "उ" में संभ्रम उत्पन्न होता है। इसप्रकार सिन्धी इहड़ो उच्चारण 'एहड़ो' ऐसा, मिहति (यहाँ त का "इ" अति ह्रस्व है) मेहेते (यहाँ त का "ए" अति ह्रस्व है) (गालि उच्चरित गाले) (यहाँ "इ" तथा "ए" दोनों अति ह्रस्व हैं); शब्द, उखिरि= ओखली, किन्तु प्राकृत और ओलिया; इसीप्रकार विहारी में हमें "उकरा और ओकरा हि० में उसका; तथा अन्य रूप भी मिलते हैं। (यहाँ "क" में "अ" अति ह्रस्व है।) असमिया में "ओ" सदैव "उ" रूप में उच्चरित होता है। इसप्रकार ओंठ्>उँठ्। यहाँ मूल "उ" भी "ओ" रूप में लिया जाता है, यथा, ओपजा का उच्चारण उपजा हो जाता है।

८५. "उ" का "इ" में परिवर्तन सिन्धी तथा पूर्व की आर्यभाषाओं में प्रायः सामान्य है। किन्तु यध्यदेश की भाषाओं में यह विरल है। यथा, सिं० मुकिटु ("ट" का "उ" अति ह्रस्व है) सं० मुकुटम्, (मुकुट) कुटिमु (म का उ अति ह्रस्व) सं० कुटुम्ब:=हि० परिवार, सिन्धी=वारी, बंगला, उड़िया असमिया: वाली, हि० बालू (प्राकृत वालुआ), बंगला तनिक्, मागधी अपभ्रंश में तणुक्कि, अपभ्रंश उन्दरु अथवा उन्दुरु पूर्वी आर्य-भाषाओं में इन्दिर, मराठी, उन्दिर् किन्तु राजस्थानी उँदरो=चूहा।

८६. सम्पूर्ण उत्तर-पश्चिम तथा गुजराती एवं राजस्थानी में सन्ध्यक्षर "ए" (अ इ से व्युत्पन्न संस्कृत 'ऐ' से नहीं), "अ" "ए", में अथवा ह्रस्व "अ" में परिणित हो जाता है। यह विशेषरूप में हिन्दी में भी ऐसा होता है। किन्तु ऊपर वर्णित प्रदेशों में तो यह प्रक्रिया सामान्यरूप से होती है। इसप्रकार हिन्दी "मैं", लहँदा में "मँ", हिन्दी बैठा गुजराती एवं राजस्थानी बेठो, पश्चिमी राजस्थानी "मअ" (अ "अतिह्रस्व") किन्तु लिखित रूप में "मैं"=हि० भीतर, सिन्धी "वेरु"=वैर, (फल) प्राकृत=वइरो। इसी प्रकार का परिवर्तन किन्तु विरल रूप में पूर्वी भारतीय आर्य-भाषा में भी होता है, यथा, विहारी "में"=हि० मैं, वेर्।

पुनः "ओ" (अ उ के लिए) इसी प्रदेश "अ" अथवा "ओ" में परिणत हो जाता है। यथा, हिन्दी कौन् गुजराती कन्- (एल० एस० आई० ६, II ३४५ तथा आर० जी० भण्डारकर २९९), हिन्दी कौड़ी, गुजराती कड़ी, सिन्धी कोड़ी, लहन्दा=कोड़ी, मिलाओ—बंगला प्रत्ययओं लिखित रूप में "अ" जैसा कि भाल उच्चरित भालो। असमिया में प्रत्येक "औ" "ओ" रूप में उच्चरित होता है, यथा, औषध>"ओपोध"।

८७. यद्यपि न तो लहन्दा न सिन्धी में ये ध्वनियाँ हैं, किन्तु पड़ोस की उत्तरी-पश्चिमी भाषाओं, विशेषरूप से ईरानी "पश्तो" तथा आधुनिक पिशाच काश्मीरी में "च">त्स तथा ज>जं या दज। यथा, पश्तो त्सारी, सिन्धी "चारी"

हिन्दी=गुप्तचर, पश्तो द-जोलो सिन्धी, झोलो, काश्मीरी 'सलन्' भागना, सिन्धी चलणु काश्मीरी-ज़ानुन् सिन्धी जाणनु, (''उ'' अतिह्रस्व) हि० = जानना। इसीप्रकार का परिवर्तन जो अत्यन्त प्रसिद्ध हैं, मराठी में भी होता है। असमिया में ''च'' और बंगला में ''छ''। इसीप्रकार की बोलचाल को मराठी में भी ''स्'' रूप में उच्चरित होते हैं। ग्रामीण विहारी और वंगला में ''ज'' का उच्चारण-नियमपूर्वक ''ज़'' होता है और असमिया में यह ''झ़'' हो जाता है।

८८. लहन्दा तथा सिन्धी में ''काश्मीरी'' को भाँति ही तालव्य ''ञ्'' का प्रयोग होता है। पूर्वी भाषाओं में भी यह प्रयोग प्रचलित है। यथा, असमी= गोसाञि, (उच्चारण गुखाञि), विहारी ठाञि, हिन्दी ठाँव्।

८६. मूर्धन्य ''ड़'' के स्थान पर सिन्धी में दन्त्य ''र'' का प्रयोग होता है। यह ''ल'' से प्रसूत है। (देखो ट्रम्प व्या० xxix तथा हार्नले गो० ग्रामर १६) इसी प्रकार का रूप पूर्वी आर्य भाषाओं में भी होता है। यथा, हिन्दी-सिआल् सिन्धी सियारु (उ अतिह्रस्व) बिहारी सियार। बिहार के ग्रामीण लोग ''र'' और ''ल्'' का भेद नहीं कर पाते और बंगला में ''र्'' ''ल्'' का परिवर्तन अधिकतर सामान्य है।

६०. यह तथ्य ज्ञात है कि उतरी-पश्चिमी-भारतीय-आर्यभाषाओं एवं आधुनिक पिशाच भाषाओं में मूर्धन्य तथा दन्त्य वर्णों में प्रायः अन्तर नहीं रहता। ''व्राचड'' में भी ऐसा ही होता है। (देखो पिशेल प्राकृत ग्रामर २८) लहन्दा की ''थाड़ी'' बोली में भी ''ड'' सामान्य रूप से ''ड़'' में परिणित हो जाता है। पूर्व में भी ऐसा ही होता है। इसप्रकार सं० दक्षिण लहन्दा दक्खण् या दखणा सिन्धी दक्खिणा हिन्दी दक्खिन, वंगला तथा असमिया-डाइन् उड़िया डाहाण् (दाहिना), असमिया में मूर्धन्य तथा दन्त्य उच्चारण में भेद नहीं है। (देखो ब्राउन असमिय ग्रामर ६)।

६१. काश्मीरी में पड़ोस के तालव्य वर्ण के प्रभाव से ड>ज, द>ज़। इससे मिलाओ मराठी नीज<निद्राः—सिन्धी गिझु (उ अति ह्रस्व) गृद्धः, गीध। प्राकृत धीआ, बंगला झी, उड़िया झिआ, असमिया ज़ी—पुत्री।

६२. उत्तर पश्चिम तथा पूर्वी आर्य-भाषाओं में ''म्व्''>''म्'' अथवा म्म्, ये हिन्दी में ''ब् हो जाता है। यथा, जम्बुकः लहन्दा जमुँ या जमूँ, सिन्धी-जमूँ वंगला तथा उड़िया जाम् हिन्दी जांवू (न); सं० निम्बः लहन्दा निम् सिन्धी निमु विहारी, बँगला, उड़िया नीम् असमिया निम् किन्तु हिन्दी नींब, सं० लम्बः लहन्दा लम्मा विहारी लामा बंगला लाम् किन्तु हिन्दी लम्बा और इसीप्रकार से अन्य। (देखो हार्नले गौडि ग्राम० २०) इसी विभाग में हार्नले ने यह संकेत किया है कि ''य'' का परिवर्तन उत्तर पश्चिम में पूर्वी आर्य भाषाओं की तरह ही होता है।

९३. काश्मीरी तथा आधुनिक पिशाच भाषाओं में मध्य "र" का प्रायः लोप हो जाता है। (ग्रियर्सन पिशाच भाषाएँ १२२) इस बात का विशेषरूप से उत्तर पश्चिम की भाषाओं में उल्लेख नहीं हुआ है किन्तु, बोलचाल की पूर्वी आर्य भाषाओं में यह बहुत सामान्य है। यथा, बिहारी में "करि" की जगह "कइ" बोल-चाल की बंगाली में मरिलाम् के स्थान पर "मइलाम" = मैं मरा।

९४. "श" या "स" का "ह" में परिवर्तन उत्तरी-पश्चिमी-भाषाओं की विशेषता है। यथा—सं०—बुसम् सिन्धी बुहु (अतिहृस्व उ) भूसा, (अवधी में बूसा) सं० उपविशति (उपवैसे) सिन्धी—बिहे = वह बैठता है। इसप्रकार का परिवर्तन केवल आधुनिक पिशाच भाषाओं में ही सामान्य नहीं है अपितु यह ग्रामीण गुजराती में भी उपलब्ध है। यथा, समजावु के लिए हमजांवु—समझना आदि। छुट-पुट उदाहरणों के अतिरिक्त यह परिवर्तन हमें पुनः उस समय मिलता है जब हम पूर्वी आर्य भाषाओं की ओर पहुँचते हैं। इसप्रकार पशुः बिहारी पोहे, गोशालम्>बिहारी गोहाल। असमिया में "श" तथा "स" सदैव अघोष, काण्ठ्य उष्म वर्ण "ख्" में परिणित हो जाता है जैसे—शास्त्र>खस्त्र। "सं०" शव>"ख"="हि०"=सौ। संग्राम>खग्राम।

९५. जहाँ हिन्दी में केवल दन्त्य "स" उपलब्ध है वहाँ बाहरी उपशाखाओं की भाषाओं में जहाँ "स" "ह" में नहीं परिवर्तित होता वहाँ स > श। मराठी में—तालव्य स्वर के पूर्व "श" तथा अतालव्य के पूर्व दन्त्य "स" प्रयुक्त होता है। बिहा+री (कैथीलिपि) में एक मात्र "श" ही उपलब्ध है। किन्तु इसका उच्चारण दन्त्य "स" के रूप में होता है। बंगला तथा उड़िया में किसीप्रकार की "सकार ध्वनि" "शकार ध्वनि" के रूप में उच्चरित होती है। इसके साथ "सकार ध्वनि" के मागधी में परिवर्तन का मिलान किया जा सकता है। इसप्रकार हिन्दी में हमें दन्त्य "स" प्राप्त होता है, किन्तु अन्य सभी बाहरी आर्य-भाषाओं में इसके स्थान पर पूर्ण स्वच्छन्दता के साथ "श" का प्रयोग किया जाता है।

९६. बाहरी उपशाखा की सभी भाषाओं में "हकार ध्वनि" के लोप की प्रबल प्रवृत्ति है। आधुनिक पिशाच भाषाओं में सभी अघोष महाप्राण ध्वनियों के हकार का लोप हो जाता है। (मिलाओ * ३५२) इसप्रकार डेरावाल लहन्दा में—घिद्दा > गिद्दा, > गृद्धः ग्रहीतः के अर्थ में, व्याघ्रः>सिन्धी बाघु अथवा बागु, हि० बाघ।

यह परिवर्तन छुट-पुट रूप में सभी आर्य भाषाओं में उपलब्ध है, असमिया में "झ" > "ज्" या "ज्", यथा,—बंगला झी असमिया जी या ज़ी=पुत्री। इसी प्रकार हिन्दी "झाल्" असमिया में—ज़ाल या जाल में परिवर्तित हो जाता है। हिन्दी "बुझ" बुझाना अर्थ में—किन्तु, बंगला, मराठी, गुजराती, राजस्थानी में यह "बुज्"

में परिणित हो जाता है। बंगला, मराठी, गुजराती में सन्ध्या के लिए साँझ् या साज् रूप मिलते हैं। इसप्रकार हम देखते हैं अघोष के, ह वर्ण का लोप बाहरी उपशाखा तथा भीतरी उपशाखा भाषाओं में सम्पन्न होता है।

इसीप्रकार "ढ" का परिवर्तन भी उल्लेखनीय है। हिन्दी पढ़ं > बंगला पड़, हिन्दी चढ़ बंगला, राजस्थानी > चड़, हिन्दी कोढ़ बंगला कुड़, मराठी गुजराती कोड़, हिन्दी दाढ़ी, उड़िया दाडी, बंगला दाड़ी।

"ध" की हकार ध्वनि (राजस्थानी में लुप्त हो जाती है, यथा, बाँद्—बाँधना, आदो—आधा, लाद्—प्राप्त करना, दुद्—दूध्। इसीप्रकार काश्मीरी में दोद् बंगुला में "दुद्"—दूध। मराठी गुजराती गिद् हि०—गिद्ध+सिन्धी दूँहों—धुँआ।

"भ्" के स्थान पर सिन्धी में "ब्" हो जाता है। यथा—बीख—हि० भीख, बूख—हि० भूख। राजस्थानी "भी" अथवा बी, डेरावाल लहन्दा—बै=भाई, हिन्दी जीभ् किन्तु असमिया जिवा।

जब हम अघोष "ख" पर विचार करते हैं तो इसे मराठी को छोड़कर अन्यत्र भारतीय आर्य-भाषाओं में सुरक्षित पाते हैं। यथा, मराठी—सिक्-सीखना, भुक्—भूख तथा अन्य। इसीप्रकार बंगला पुकुर—तालाब, असमिया—सुकाना मराठी सुका, सिन्ध-सुको, लहन्दा—सुकेआ=हिन्दी सूखा।

जहाँ तक "छ" का प्रश्न है असमिया में यह सदैव "च्" हो जाता है किन्तु इसका उच्चारण "स्" होता है। यथा, माच् उच्चारण होगा—मास् (मछली)। इसीप्रकार उड़िया काचिम्=कुछुआ, राजस्थानी छिप्-के लिए चिप्—छिपाना। अन्य स्थानों में "हकार ध्वनि" प्रायः सुरक्षित है।

"ठ" के हकार का बंगला में लोप हो गया है। यथा बंगला कुटारी हि० कुठार पिट—हिन्दी पीठ इत्यादि।

"ठ" के हकार का कतिपय शब्दों में लोप हो जाता है। इनमें से सर्वाधिक महत्वपूर्ण राजस्थानी मराठी, बंगला, असमिया एवं उड़िया हैं। यथा, हात्, किन्तु अन्य भाषाओं में हाथ्।

"फ" के हकार ध्वनि का लोप कभी-कभी होता है, यथा बंगला, असमिया, उड़िया में भाप्। असमिया—पेलिते बंगला फेलिते, हिन्दी में फेंकना।

ऊपर लिखित तथ्यों के आधार पर हम देखते हैं कि "हकार ध्वनि" का लोप केवल बाहरी तथा मध्यवर्ती आर्य-भाषाओं में सम्पन्न हुआ है। इसीप्रकार अघोष व्यंजनों में केवल दक्षिण एवं पूर्व में परिवर्तन होता है, किन्तु अघोष महाप्राण व्यंजनों में उत्तर-पश्चिम की भाषाओं में परिवर्तन होता है।

६७. सिन्धी, लहन्दा तथा आधुनिक पिशाच भाषाओं में व्यंजन वर्णों का द्वित्व नहीं होता। और जहाँ प्राकृत में द्वित्व व्यंजन वर्ण होता है, वहाँ बिना पूर्व-

वर्ण में क्षति-पूरक दीर्घीकरण के एक ही व्यंजन शेष रहता है। यह प्रक्रिया भी बाहरी तथा मध्यवर्ती आर्यभाषाओं में होती है किन्तु मध्य-देश की भाषा में ऐसा नहीं होता। यथा, सिन्धी चकु (उ अति ह्रस्व), उड़िया चक्, हिन्दी चक्का। अन्य स्थानों में यह चक्क और चाक् आदि होता है। इसके सैकड़ों अन्य उदाहरण हैं। यहाँ केवल कतिपय दिये जाते हैं, यथा, हिन्दी मांग्—सिन्धी मङ्=माँगना। हिन्दी-सूखा, काश्मीरी—होखु (अति ह्रस्व "उ"), मराठी-सुका—बंगला—उड़िया शुका, हिन्दी—सूखा, हिन्दी तीखा, असमिया तिखा, हिन्दी साँच या सच्च्, सिन्धी सचु, असमियाँ सँचा, सत्य। हिन्दी सीधे—सिन्धी—सिझ्, मराठी—शिज् गुजराती, बंगला, उड़िया, असमिया—सिज्। हिन्दी जूझ्—मराठी झूझ्। हिन्दी—मूठी, सिन्धी मुठे (ए अति ह्रस्व) असमिया—मुठि, हिन्दी कान लहँदा—काश्मीरी-कान्, सिन्धी कनु, हिन्दी पान्, लहँदा—पना। कश्मीरी पन्, सिन्धी पनु,। हिन्दी भात, लहँदा—भत, सिन्धी भतु, काश्मीरी वतु। हिन्दी रस्सी, सिन्धी-गुजराती बंगला—उड़िया रसी। हिन्दी सास्-काश्मीरी हश् लहँदा शश्, सिन्धी-ससु, उड़िया—सशु तथा इसीप्रकार के अन्य।

९८. संज्ञा रूप तथा धातु रूप :—

संस्कृत तथा प्राकृत में स्त्रीलिंग के रूप "आ" जोड़ने से सम्पन्न होते हैं, किन्तु उत्तर-पश्चिम की भाषाओं में "इ" अथवा "ए" संयुक्त कर यह कार्य सम्पन्न होता है। इसप्रकार संस्कृत का वार्ता, सिन्धी में वाते (ए ह्रस्व), बनता है। ऐसे ही बिहारी में अत्यन्त तत्सम शब्द का स्त्रीलिंग का "अत्यन्ति" बनता है। यद्यपि संस्कृत में इसका रूप अत्यन्ता है। बिहारी, विशेषरूप से मैथिली में यह सामान्य नियम है।

उत्तर-पश्चिम की भाषाओं में कतिपय, सम्बन्ध कारक के परसर्ग क्रिया के कृदन्तीय रूपों से सम्पन्न होते हैं। यथा—काश्मीरी "हन्दु", सिन्धी-सन्दो। इसी-प्रकार पश्चिमी राजस्थानी—"हन्दो, बंगला में यही कृदन्त-रूप "हइते" हो जाता है और अपादान कारक के परसर्ग के रूप में प्रयुक्त होता है, अन्यत्र इसका प्रयोग इस रूप में नहीं होता।

श्लिष्ट संज्ञा के शब्द-रूप का एक मात्र अवशेष तिर्यक् के एक वचन तथा बहुवचन के सप्तमी के अधिकरण के रूप में मिलते हैं जिनका अन्त "ए" में होता है यथा,—घरे-घेर=प्रत्येक घर में। बाहरी शाखा की सभी आर्य-भाषाओं की तथा काश्मीरी में इसके विपरीत विश्लेषणात्मक शब्द रूप के साथ-साथ एक सम्माननीय श्लिष्ट शब्द रूप भी उपलब्ध होता है। यहाँ हम केवल एक वचन के रूप के सम्बन्ध में ही विचार करेंगे क्योंकि हमारे कार्य के लिए यह पर्याप्त है। कास्मीरी में चतुर्थी (सम्प्रदान) का अन्त "स्" में होता है मराठी में कर्तृकारक तथा पंचमी (अपादान) के रूप संश्लिष्ट होते हैं, यथा—त्सूर, चोर, त्सूरस्, चार के लिए, त्सूरन्—चोर से अथवा चोर द्वारा, त्सूर—चोरे से। इकारान्त शब्द के रूप गुरु, घोड़ा, गुरिस्, गुरि

(अत्यन्त ह्रस्व इ) तथा गुरि होते हैं। पंचमी (अपादान) के रूप तिर्यक रूप में भी व्यवहृत होते हैं। सिन्धी ने इसके कुछ भाग का परित्याग कर दिया है किन्तु इसमें अभी भी सप्तमी (अधिकरण), कर्तृ एवं तिर्यक कारक के रूप मिलते हैं, यथा, झंगु (उ अति ह्रस्व), जंगल, सप्तमी, झंगे (अति ह्रस्व ए), कर्तृ एवं तिर्यक झंग। लहँदा अति निकट से सिन्धी का अनुगमन करती है किन्तु अपिनिहिति के कारण शब्द रूप अस्पष्ट हो गये हैं, यथा—जंगुल (जंगुल के लिए), जंगल, सप्तमी, जंगिल (जंगलि के लिए), कर्तृ तथा तिर्यक कारक जंगल् (जंगल के लिए)। दक्षिणी भारतीय-आर्य-भाषा मराठी में भी संज्ञा के संश्लिष्ट रूप मिलते हैं। इसमें तिर्यक के अतिरिक्त, चतुर्थी (सम्प्रदान) में स्-विभक्ति, कर्तृ में एँ तथा सप्तमी, अधिकरण में, ई विभक्ति का प्रयोग होता है। यथा—कर्तृ घरें, चतुर्थी घरास सप्तमी घरी, तियंक धरा। पूर्वी भारतीय आर्य भाषा, बिहारी में, संश्लिष्ट कर्तृ तथा संश्लिष्ट, अधिकरण तथा सम्बन्ध कारक के रूप मिलते हैं। यथा—घर से कर्तृ, घरें, अधिकरण घरे, सम्बन्ध घर-केर (विश्लेषणात्मक) अथवा घरक् (संश्लिष्ट); बंगला में संश्लिष्ट कर्तृ घरे, सम्बन्ध घरेर; अधिकरण रूप मिलते हैं। बंगला में तृतीया (करण कारक) के विश्लिष्ट रूप छुरि-ते (छुरी=चक्कू से) भी उपलब्ध होता है। असमिया तथा ओड़िया में निकट की समानता है। इसप्रकार हम देखते हैं कि सभी बाहरी उपशाखा की आर्य-भाषाओं में संश्लिष्ट रूप से कारकरूप सम्पन्न होते हैं किन्तु मध्य-देश की भाषाओं में इसका सर्वथा अभाव है।

९९. उत्तर-पश्चिम की आर्य-भाषाओं, काश्मीरी में, सामान्यरूप से, सर्वनामीय प्रत्ययों का व्यवहार होता है किन्तु वास्तविक मध्यदेश में इनका अभाव है। इसप्रकार लहँदा में 'घर्-अस्' मेरा घर, घरअस् उसका घर; सिंधी में पियुमे, मेरा पिता, (म में "ए" अति ह्रस्व) पियुसे (उसका पिता) "स" में "ए" अति ह्रस्व) रूप सम्पन्न होते है। ये सर्वनामीय प्रत्यय असमिया को छोड़कर अन्य बाहरी उपशाखा की भाषाओं में, संज्ञा के रूप सम्पन्न करने में प्रयुक्त नहीं होते। असमिया में भी ये तिब्बती-बर्मी की भाषाओं के सर्वनामीय उपसर्गों के कारण प्राप्त हैं। (देखें,पीछे ७५) इसप्रकार असमिया में बापू, पिता, बोपाइ, मेरे पिता, बापेक उसके पिता, रूप मिलते हैं। राजस्थानी में स्वार्थे प्रत्यय के रूप में, अन्य पुरुष का, सर्वनामीय क् प्रत्यय प्राप्त है? यथा-कतरो या कतरोक कितना। (लिं० सं० इ०+—९/२, ३५। सर्वनामीय प्रत्ययों का क्रिया रूप सम्पन्न करने के लिए प्रयोग सभी बाहरी शाखा की आर्य भाषाओं में होता है। वास्तव में यह बाहरी उपशाखा की भाषाओं की विशेषता है। मध्यदेश की भाषाओं में, इनका पूर्णतः अभाव है। राजस्थानी तथा पूर्वी हिन्दी में भी ये सर्वनामीय प्रत्यय उपलब्ध हैं। यहाँ इन भाषाओं से उदाहरण प्रस्तुत करना अनावश्यक है क्योंकि इस पुस्तक में एक अध्याय में इस सम्बन्ध में सामग्री दी गयी

है। यहाँ इतना ही निवेदन पर्याप्त है कि सभी बाहरी उपशाखा की आर्य भाषाओं के क्रिया रूपों की काल-रचना श्लिष्ट रूप में होती है। उत्पत्ति के दृष्टि से यह प्रक्रिया आधुनिक है तथा ये रूप सर्वनामीय प्रत्ययों के संयुक्त करने से सम्पन्न होते हैं। इसके विपरीत भीतरी उपशाखा की भाषाओं में संश्लिष्ट काल केवल दो या तीन है जो प्राकृत से आये हैं तथा ये बाहर की उपशाखाओं की आर्य भाषाओं में भी प्राप्त है।

बाहरी उपशाखा की भारतीय आर्य भाषाओं के संश्लिष्ट क्रिया-रूपों को नीचे की तालिका में दिया जाता है। इस संदर्भ में उत्तर पश्चिम की भाषाओं के रूप विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। व्युत्पत्ति के दृष्टि से ये आधुनिक रूप हैं। यथा—

उसने मारा

विश्लिष्ट रूप	संश्लिष्ट रूप
काश्मीरी, तमि मारू	या मारुन
लहँदा, ऊँ मारेआ	,, मारे उस
सिन्धी, हुन मारिओ	,, मारिआँ ई
राजस्थानी वो मार्यों	,, मार् योस् [लि० स० ix-११-३५]
पूर्वी हिन्दी	मारेस
बिहारी	मरलक्
बंगला	मारिलेक
ओड़िया तथा मराठी	मारिला

किन्तु हिन्दी उसने मारा

अतीतकाल का कृदन्त विशेषणरूप, जिसकी विशेषता ल् है, उत्तर-पश्चिम की पिशाच तथा दक्षिण एवं पूरब की भारतीय आर्यभाषाओं में उपलब्ध है किन्तु मध्य-देश की भाषाओं में इसका अभाव है। यथा—आधुनिक पिशाच (मैयां)—कुट्-अग्-इल्, सिन्धी—मारिअलु, गुजराती मारेलो, मराठी तथा ओड़िया मारिला, बिहारी मारल्। बँगला—असमिया मारिल्, मारा। हिन्दी तथा पूर्वी हिन्दी में इस प्रकार के रूप का अभाव है।

१००. जहाँ तक शब्द-समूह का सम्बन्ध है, केवल एक शब्द का उदाहरण देने से ही पूर्वी तथा उत्तरी भारतीय आर्य भाषाओं का सम्बन्ध अत्यन्त चमत्कारी ढंग से स्पष्ट हो जाता है। हेमचन्द्र के अनुसार हेम। हेम० ४—२९४, संस्कृत-शब्द, 'व्रजति' का मागधी रूप बज्जदि होता है। इसका महाराष्ट्री रूप वच्चई, मिलाओ मराठी (कोकणी) > वोत्स्, जाना। किन्तु लहँदा में इसकस रूप है—वञ् —जाना।

१०१. ऊपर के विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि उत्तरी-पश्चिमी-आर्य भाषा में अनेक ऐसे व्याकरणिक रूप हैं जो दक्षिण तथा पूरब की आर्य भाषाओं से

सम्बन्धित हैं और मध्य-देश की भाषाओं से वैषम्य प्रदर्शित करने में परस्पर एक मत है। यह बात भी अस्वीकार नहीं की जा सकती है कि उत्तरी पश्चिमी भाषाओं का अनेक बातों में स्वतन्त्र स्थान है। इसका कारण पड़ोस की आधुनिक पिशाच भाषाओं का इन पर प्रभाव है। यह कहना कठिन है जैसा कि हार्नले ने सुझाव दिया है कि दोनों का श्रोत एक है। इन दोनों में बहुत से बिन्दु समान हैं किन्तु इनमें पर्याप्त मात्रा में अन्तर भी है। इनकी समानता का कारण एक मूल श्रोत से उत्पन्न होना है अथवा इन्होंने एक दूसरे से शब्द एवं रूप ग्रहण किए हैं, यह कहना मेरे लिए कठिन है। किन्तु सब मिलाकर मेरा यही विचार है कि इन्होंने परस्पर एक दूसरे से शब्द एवं व्याकरणिक रूपों को ग्रहण किया।

पाद टिप्पणी

1* The terms "Primary", "Secondary", and "Tertiary" Prakrits are explained in Chapter II.

2* e.g. by Hoernle, in his Comparative Grammar of the Gaudian Languages.

3* The term "Indo-Aryan" distinguishes those Aryans who settled in India from those Aryans who settled in Persia and elsewhere, just as "Aryo-Indian" signifies those inhabitants of India who are Aryans, as distinguished from other Indian races, Dravidians, Mundas, and so on. "Gayduah", meaning non Dravidian therefore connotes the same idea as "Aryo-Indian". These two words refer to the people and their language from the point of view of India, while "Indo-Aryan" looks at them from the wider aspect of European ethnology and philology. See Encylopedia Britannica, 11th ed., 1910, art. "Indo-Aryan Languages".

4* Including the mixed Khandesi dialect.

5* Inciuding the mixed Bhil dialects.

6* Nearly all the speakers of this language inhabit Nepal, a country which was not subject to the Census of 1911, and to which the Linguistic Survey did not extend. The figures here given refer only to temporary residents in India.

7* In the Census nearly all the speakers of Central Pahari were classed as speaking Hindi.

8* Cf. Amir Xusrau in Elliot, History of India as told by its own Historians, iii, 539. "Whatever live Hindu fell into the king's hands was pounded into bits under the feet of elephants. The musalmans, who were Hindis (country-born), had their lives spared".

9** In the Linguistic Survey the term "Western Hindi" is employed instead of "Hindi", in order to distinguish it from the altogether different "Eastern Hindi". The word "Western" is here dropped, as being hardly necessary for the class of readers for whom this work is intended.

10* Not "Hindustani", as often written by Europeans, See C. J. Lyall, Sketch of the Hindustani Language, Edinburgh, 1880, p. 1.

11* The South being a Dravidian country, the soldiers and rulers who came from various parts of Northern India and conquered it did not acquire the local language, but adhered to their own lingua franca picked up in the Delhi bazar.

12* Lyall, op. cit., 9.

13* The two principal writers in this style were Rangin and Jan Sahib. Their works are valuable for students of the women's dialect.

14* A translation of the tenth book of the Bhagavata Purana.

15* Blochmann, Ain-e-Akbari, tr., 352.

16* The one exception is the fact that the termination of strong masculine nouns with a bases ends in a, not in au or o, thus agreeing with the vernacular Hindostani of the upper Doab and

with Panjabi, both of which owe it to the influence of the Outar languages.

17. Such, for instance, as the plural of the personal pronouns.

18* This word has nothing to do with the word Lahnda, which means "West".

19* See Grierson, "The Modern Indo-Aryan Alphabets of North-Western India": JRAS, 1904, 67.

20* See Grierson, JRAS., 1911. 302.

21* These were first noted by T. Grahame Bailey. See his Punjabi Grammar as spoken in the Wazirabad District, Lahore, 1904. For particulars, see $ 152 below. I believe that no one has hitherto noted that the Vedic udatta corresponds to a Tibeto-Chinese "high" tone, while the visarga corresponds to the enter-ing" or "abrupt" tone, like it, also, being the result of the partial or total elision of a final consonant.

22* The differentitation of Gujarati from the Marwari dialect of Rajasthani is quite modern. There is a poem by Padmanabha of Jhalor, a town only 80 miles from Jodhpur, the capital of Marwar, entitled the Kanhadadeva-prabandha. It was written in 1455-6 A.D. At the beginning of the year 1912 there was a lively controversy in Gujarat as to whether it was in Gujarati or Marwari. Really it is in neither, but is in the mother language, which in later years differentiated into these two forms of speech. Cf. Tessitori, JRAS., 1913, p. 553, and his "Notes on the Grammar of Old Western Rajasthani, with special reference to Apabhramsa and to Gujarati and Marwari," in IA, xliii-v (1914—16); reprinted in one volume, Bombay, 1916.

23* V. Smith, JRAS., 1908, 768.

24* Id., 1908. 789, 1909. 56.

25* Tod, Rajasthan, Annals of Mewar, ch. ii.

26* Ib., Annals of Amber, ch. i.

27* IB., History of the Rajput Tribes, ch. viii.

28* Ib., Annals of Mewar, ch. i.

29* V. Smith, Early Historry of India[2], 377. See also the following: Tod, Rajasthan, Introduction; Elliot, Memoirs on the History, Folklore, and Distribution of the Races of the North-Western Provinces of India, ed. Beames, i, 99 ff. and index; Ibbetson, Outlines of India Ethnography, 262; Jackson, in Gazetteer of the Bombay Presidency, i, pt. i. app, iii, Account of Bhinmal, esp. pp. 463 ff.; V. Smith, "The Gurjaras of Rajputana and Kanauj," JRAS., 1909, 53 ff., D. R. Bhandarkar, "Foreign Elements in the Hindu Population", IA. xi (1911). 7 ff., esp. 21 ff.

30* V. Smith, Early History of India[3], 412, and IA. xi (1911), 86.

31* D. R. Bhandarkar, JASB v(N.S.) 1909, 185. Cf. contra, Mohan-lal Vishnulal Pandia, ib. viii (N.S.), 1912, 63 ff.

32* Sachau's tr., i, 202. Cf. D. R. Bhandarkar in IA. xl, quoted above.

33* Pth. kuttsi, G. kutse, he will strike.

34* According to Nagendranatha Vasu, JASB, lxv, pt. i. 1896, 114 ff., these Brahmans gave their name to the alphabet. In Al—Biruni's time the Nagara alphabet was used in Malwa, which is close to Gujarat. Sachau's Eng. tr., i, 173.

35* It is worth noting in this connexion that Old Marwari in some respects agrees with Kasmiri, e.g. in possessing a genitive post-position hando.

36* A Bardic and Historical Survey of Rajputana has lately been set on foot by the Government of India, under the superintendence of the Asiatic Society of Bengal. It is in charge of Dr. L. P. Tessitori, who has already discovered a number of important works. See JASB, xiii (N.S.), 1917, pp. 195 ff., and reports and texts published, under Tessitori's editorship, by the ASB.

37* Eastern Pahari, as an independent language, is of very modern origin, the Indo-Aryan migration from the west into Nepal dating only from the sixteenth century A. D. The language is strongly influenced by the surrounding. Tibeto—Burman dialects, and has changed considerably within living memory. It appears to have superseded another Indo-Aryan language akin to the Maithili dialect of Bihari, now spoken immediately to the south of Nepal. A specimen of this old dialect was published by Conrady in 1891. It is a drama, entitled the Hariscandranrtya.

38* The whole question is worked out in detail in vol. ix, pt. iv of the LSI. dealing with Pahari. It is impossible here to give more than the general results and a few of the principal references. Those desiring the full proof must refer to the volume of the LSI.

39* Cf. Cunningham, "Archaological Survey Reports," ixv, 125 ff., Ibbetson, Outlines of Panjab Ethnography, 268; Atkinson, Hamalayan Districts of the North-Western provinces of India, ii, 268-70, 375-81, 439-42, and index; Stein, tr. Rajatarangini, note to i. 317; ii, 430, and index.

40** In the Satapatha Brahmana (I, vii, iii, 8), the Bahikas, with whom the Khasas are associated in Mahabharata, viii, 2055ff., are still within the pale, and worshippers of Agni.

41* Cf. Visnu Purana (Wilson-Hall), I xxi. Bhg. P., II, iv, 18, IX xx, 29. Mark P., Ivii, 56; Manu, x, 44; Bharatanatyasastra, xvii, 52.

42* Cf. Imperial Gazetteer of India (1907), i, 386.

43* Hodgson, "Origin and Classification of the Military Tribes of Nepal," JASB, ii (1833). 217 ff.; Vansittart. "The Tribes, Clans, and Castes of Nepal." JASB, lxiii (1894), pt. i, 213 ff.; S. Levi, Le Nepal, i, 257 ff., 261-7, 276 ff., ii, 216 ff., and index.

44* Such are the tendency to drop an initial aspirate (onu for honu, to become); to disaspriate sonant aspirates (bai for bhai, brother) ; to harden sonants (jawap for jawab, an answer, okhati for okhadhi, medicines), to change c to is and j to z (tsazaro for cajaro, good) ; to change t to ts (khets for khet, a fiield) ; to drop medial r (kata for karta, doing) , to change a sibilant to x (xunna for sunna, to hear), or to h (bras or brah, a rhododendron) ; and many others.

45* Tod, Rajasthan, introduction ; Elliot, Memoirs, etc., as quoted above, i, 99, and index, Ibbetson, op. cit., 262 fl.; Jackson, Gazetteer, as above, i, 463 ; V. Smith, The Gurjaras, etc., as above, 53 ff., "The Outliers of Rajasthani," IA. xl (1911), 85 ff. ; D. R. Bhandarkar, "Foreign Elements in the Hindu Population", IA. xl (1911), 7 ff., esp. 21 ff.

46* It is worth nothing that the Raja of Garhwal claims descent from Kaniska, who is said to have come to Garhwal from Gujarat or Western Rajputana ; Atkinson, op. cit., 449.

47* I have not considered here the question of Western Rajasthani and Gujarati. Gujarat may well have been conquered by Gurjara tribes coming from the north-west. The Western Rajputs had their centre of dispersion near Mt. Abu, but whether the Gurjaras of Abu came from the east or from the

west. I cannot say. All that can be said is that the agreement between Western Pahari and Western Rajasthani is very striking.

48* In Outliers, etc., as above.

49* See LSI, vi, 2 ff,

50* Grierson, ZDMG. lxvi, 75.

51* Pischel, Pr. Gr., 27, 28; Grierson, JRAS. 1902, 47.

52* Such are, e.g. the existence of a broad a, sounded like the a in "all"; the change of ai to a; of k to c, and c to s: the frequent confusion between dentals and cerebrals: an oblique case in a; and a past participle formed with the letter I.

53* See B. A. Guptee IA. xxxiv (1905), 27.

54* See Turner, "The Indo-Germanic Accent in Marathi"; JRAS. 1916, 203 ff.

55* These are the change of s to s, and the termination e of the nominative of a-bases. In writing at the present day, s is invariably written for both s and s, though in modern times the pronunciation is s, not s. The change of pronunciation is due to political reasons. See Languages of India, 72. In Bengali the s-sound is retained. In Old Bihari poetry, when, for metrical reasons, it is necessary to lengthen the final vowel of the nominative singular, this is done by making the word end in e. This Vidyapati Thakkura (A.D. 1400) has sinane for snanam paragase for prakash, pare for param, dhire for dhiram, and hundreds of others, which will be found in any edition of the poet's works. In Hindi poetry such words would end in au, not in e. The Old Eastern Hindi of Tulasi Dasa, corresponding to Ardhamagadhi Prakrit, occupies an intermediate position, and uses both u (for au) and e, as in parivaru for parivarah, and sayane for sananah. It should be noted that both these e and u terminations are used indifferently both for the nominative and for the accusative, thus following the example of Apabharamsa, in which (Pischel, Grammatik der Prakrit Sprachen, p. 247) the accusative has the same form as the nominative.

56* Pischel (Prakrit Grammatik, p. 25) considered that there is no connexion between Magahi and Magadhi Prakrit. With all respect for this great scholar, I am unable to agree with him on this point.

57* The dialect is named from the ancient town of Bhojpur, on the southern bank of the Ganges, in the District of Shahabad. For the history of Bhojpur and its traditional connexion with the famous Bhoja of Malwa; see Shahabad Gazetteer (1906), 132. For an account of the character of the Bhojpuris, see ib. 21.

58* This is an English word, derived from "Bengal". The Indian name is Bagla or Bangabhasa.

59* See Dines Chandra Sen, History of Bengali Language and Literature, Calcutta, 1911.

60* Such words can be found on every page of OBg. poetry.

61* See Grierson, "Pisaca— " ", JRAS. 1905, 285 ff., The Pisaca Languages of North-Western India, Introduction; "Pisacas in the Mahabharata" in Festschrift fur Vilhelm Thomsen (1912), 138 ff., on the other hand Konow, "The Home of Paisaci", ZDMG. lxiv, 112 ff.; maintains that Pisaca Prakrit was an Aryan language as spoken by Dravidians

of Central India. The whole subject is again discussed in Grierson, "Paisaci, Pisacas, and Modern Paisaci", ZDMG. lxvi, 49 ff. Paisaci Prakrit and the Pali of the Buddhist scriptures have much in common, and my own opinion is that the latter was originally a kind of literary lingua franca, based on Magadhi Prakrit, which developed in the great University of Taksasila, situated in the heart of Kekaya, the nidus of the former. Its development is exactly parallelled by that of literary Hindi, the original home of which was Delhi, but which took its present form in Benares far to the East. See my "Home of Literary Pali" in R. G. Bhandarkar Commemoration Volume, 117 ff.

62* Cf. the Kaikeya and Vracada Paisaci Prakrits of the Indus Valley (Pischel, Pr. Gr., 27).

63* ZDMG. lxvi, 76, 77.

64* He is, however, contradicted by Markandeya, xix, 9, in which some words are quoted from the Brhatkatha, the work supposed to be He.'s authority, as examples of Kekaya-paisaciki, i.e. of the Paisaci of North-Western India.

65* Such e.g. are the very un-Indian treatment of the letter r; the change of sm and sm to s and s, respectively, of ty and tm to t; and of t to l or r; the not infrequent retention of intervocalic consonants and hardening of sonant consonants, a weak sense of the difference between cerebrals and dentals; the tendency to aspirate a final surd, the frequent palatalization of gutturals, cerebrals, dentals, and l; and the regular retention of a short vowel before a simplified double consonant.

66* e.g. the treatment of the vowels; the non-development of cerebral letters; the preservation of numerous consonantal compounds, the change of d to l, of dv to d, and of sk (sk) to c.

67* JRAS. 1911, 45, I differ here, see ib. 195.

68* e.g. the Avesta change of sm to hm, and the preservation of s.

69* Wilson Philological Lectures on Sanskrit and the Derived Languages, 94.

70* Pisaca Languages, 5.

71* Pisaca Languages, 20.

72* LSI. II, i, 34. The only parallel that I have been able to find in an Oriental language is the Chinese sound, which in Southern Mandarin is pronounced like an English r, but in Pekin as z (Mateer, xviii).

73* e.g. the aspiration of a final surd, the change of ng to n, and the elision of medial m.

74* JASB. vii, 783.

75* Tribes of Hindoo Koosh, cxvi.

76* e.g. there can be little doubt but that they owe the presence of the cerebral n to the influence of Pasto.

77* See E. Kuhn, Die Verwandtschaftsverhaltnisse der Hindukush Dialekte, in Album Kern, 29 ff.

78* Published in 1895. This work would have been more valuable if the author had consulted his predecessors, Biddulph and Leitner.

79* Mr. Grahame Bailey informs me that the word is pronounced with a cerebral n and with the accent on the last syllable. The presence of the cerebral n is surprising, as I have never come across that letter either in the language itself or in the closely related Kasmiri.

80° See also, for important information regarding Brokpa, or High-land, dialects, Shaw, "Stray Arians in Tibet, "JASB. xlvii, pt. i, 26 ff.

81° McCrindle, Ancient India as described in Classical Literature, 51.

82° Published by the ASB., under the editorship of the present writer, in 1898.

83° This was first shown by Leitner in The Bashgeli Kafirs and their Language, reprinted from the Journal of the United Service Institution of India, No. 43, Lahore, June 10, 1880.

84° It is necessary to explain that this chapter was originally drafted in the year 1898. It was then deemed advisable to postpone the publication of the work till the Linguistic Survey of India should be near completion. In the meantime, I utilized the draft for the preparation of pp. 51-63 of the Languages of India, published in 1893. The Chapter has now been rewritten, but so much of the original as had not become out of date was retained. Hence, much of what follows will also be found in the above work, which, however, goes into the matter in much greater detail.

85° Cf., however, von Bradke, ZDMG. xl, 673 ff.; Wackernagel, Altindische Grammatik, xiii, xxxv.

86° Macdonell, History of Sanskrit Literature, 24; cf. Wackernagel, xvi, ff., xxv.

87° Hillebrandt Vedische Mythologie, i, 89, 114, 136..

88° Cf. von Bradke, 669 ff., Wackernagel, xii.

89° See Risley, Report of the Census of India (1901), i, 511, repeated in the Imperial Gazetteer of India (1907), i, 302 ff. According to him, the earlier Aryan invasion suggested by Hoernle, and mentioned below, was one of a tribe or tribes who brought their women with them. The later invaders represent the Indo-Aryan oppulation of the Midland, which presents the ethnological type that might be expected to result from the incursion of a fair longheaded race that entered India by a route which prevented women from accompanying them, into a land inhabited by dark-skinned Dravidians, whose women they took for themselves. It is thus seen that Risley postulates two sets of invaders, one bringing their women and settling at first in the Central and Western Panjab, and the other coming without their women and settling at first in the Midland. It is evidently immaterial to his argument which was the first and which the second, but he assumes that the first was that with women.

90° Three interesting points are on Hoernle's side. One of them is the optional change or r to l in Culikapaisacika. The same change was obligatory in Magadhi Prakrit; cf. Mahabhasya (Kielhorn, i, 2, 1, 8), he layo for he arayah, in the speech of the Asuras, which is often said to be Magadhi Prakrit, but can be better explained as Culikapaisacika Prakrit. The second is the change of sm to s (Ks. aisi, "we," etc.). See Hoernle, Gd. Grammer, 280, nol. The third is the frequent use of n both in Paisaci Prakrit (Hemacandra, iv, 305, etc. cf. Hoernle, Gd. Grammar, ii).

91° This point is discussed in detail in an Appendix to this chapter.

92° Hillebrandt, 104 ff., 109.

93° Ib. 114.

94° Hillebrandt, 110, also maintains that there was a second invasion of Aryans from the west. It is worth noting that Visvamitra

called Vasistha a Yatudhana, or Raksasa, a form of abuse that the latter strongly resented (Rv. vii, 104, 15).

95* The kingdom of Magadha was, as a whole, hostile to the Midland; see Jacobi, Dass Ramayana, 104.

96* Pargiter, JRAS., 1908, 334 ff., and map. Grierson, ib., 602 ff.

97* Wackernagel, xxxiv.

98* The earliest examples of this are to be found in the inscriptions of Asoka (circ. 250 B.C.,) and in the Mahabhasya (circ.. 150 B.C.), R.G. Bhandarkar, Wilson Lectures, 280.

99* Wackernagel, xxxii, xxxiii; Leibick, Panini, 47 ff.

100* See Thomas, JRAS., 1904, 471, 748.

101* e.g. Kielhorn, i, 259, 1. 14.

102* JRAS., 1904, 480.

103* Jacobi, Ramayana, 114. Muir, Sanskrit Texts, ii², 158; Wackernagel, xxxviii, n. 6.

104* Cf. Sylvain Levi, Bull. Soc. Ling., 8 pp. viii, x, xvii, quoted in Wackernagel, xxxix, n..

105* The Primary Prakrits plus their literary form as conserved in the Veda correspond to Wackernagel's "Altindisch", and the Secondary Prakrits plus their literary form to his "Mittelindisch".

106* It is quite certain that even in the Vedic period the popular speech of at least some classes of the people already contained many words in the same stage of development as Pali, i.e., as the earliest phase of Secondary Prakrit. Cf. Wackernagel, xviii, xxv.

107* It is always the Midland which has been behindhand in the race of development. Sauraseni Prakrit is less developed than Maharastri Prakrit, just as the Modern language of the Midland is less developed than any of the Outer languages, including Marathi. Is this because the inhabitants of the Midland represent the latest Aryan immigrants (see above), or is it due to the influence of literary Sanskrit—itself a Midland language? Opportunity may here be taken to warn against one common error. It has often been stated that because (e.g.) Sauraseni Prakrit is less developed than Maharastri, it is therefore earlier in point of date. Such an argument is fallacious. It is a well-known fact that different languages of a common origin do not all develop at the same rate of progress. To take an example from the Romance languages, Italian is much less developed than French. To use Indian terms we might almost say that Italian is in the Pali stage, while French is in the Prakrit stage. Nevertheless, they are contemporary.

108* Cf. as the latest authority, Michelson, AJP. xxx (1909), 284, 416, xxxi (1910), 55; JAOS. xxx (1909). 77, xxxi (1911). 223; also Grierson, JRAS., 1904, 725. The eastern dialect in the days of Asoka was the official imperial language, and was understood even where it was not spoken as a vernacular (JAOS. xxx, 77).

109* The Brahmagiri (Siddapura) Edict is written in a mixture of eastern and western forms (Buhler. EI. iii, 135). But this being in a Dravidian country, is not decisive. Cf., however, the close connexion between Maharastri and Ardha-Magadhi Prakrit. Wackernagel (xxi) considers that there were probably in Vedic times an eastner and a western dialect. The eastern, which was the language of the earlier Aryan Immigrants, was then spoken on the banks of the Ganges. The literary language of the Veda would, in the main, correspond to the western dialect. We can-

not trace in the Veda any marks of a dialect of the extreme north-west, but we can deduce nothing from their absence.

110* We must, however, credit the grammarians with expressly warning us that their rules are not universal: cf. Hc. i. 2; see also R. G. Bhandarkar, op. cit., 77, n., "all these rules are general, not universal."

111* Pischel, Prakrit Grammar, § 12.

112* Cf. Pischel, § 364. Regarding the changes which Prakrit has undergone in becoming literary, see ib., § 9, at end.

113* For the last, compare the change of pronunciation of Magadhi Prakrit s to s in Bihari, although s is invariably written.

114* See, for instance, Michelson, AJP. xxx, 285.

115* Konow, IA. xxxii (1903), 181.

116* For this division of the Prakrits, see Konow Maharastri and Marathi, IA, xxxii (1903), 181 ff., with which I am in entire accord.

117* Markandeya, xvi and comm. to xviii, perhaps calls it Takki or perhaps Pascatya. Cf. Ramatarkavagisa in Lassen, ILP., App. x p. 5, and Hoernle, Gd. Gr., 15, n.I.

118* See the dates fixed in § 66, post. Apabhramsas could hardly have been a living language in Hemacandra's time, for his grammar does not deal wtih one Apabhramsa, but with several dialects which he mixes up together. His very rules are frequently contradicted by his own examples. He would not have done this had he been dealing with a living language known to him. In this respect, his grammar is a compilation put together from many widely differing and mutually contradictory sources (Pischel, Pr. Gr., §28).

119* R. G. Bhandarkar, Wilson Lectures, 302.

120* Cf. also Markandeya, Preface, 7, and xvii, xviii, and Grierson, "Vracada and Sindhi," JRAS., 1902, 47.

121* That this is a justifiable assumption is shown by the fact that Markandeya, a late grammarian of the seventeenth century, admits the termination i as well as e even into literary Magadhi Prakrit (xii, 26).

122* See §29, n. 2 ante.

123* R. G. Bhandarkar, 27, 286; Wk. xlii.

124* Bomb. ed., p. 47, II. 6, 7.

125* Rajatarangini, vii, 610.

126* Stein tr. Rajatarangini, i, 13, and footnotes.

127* Kasmiri was certainly in existence in Kalhana's time, and possibly so far back as the tenth century; see Stein's tr., RT. v. 397-8n (I, p. 228).

128* Described by R. G. Bhandarkar in Report on the Search for Sanskrit MSS. in the Bombay Presidency for 1887-91 (Bombay, 1897).

129* On this point cf. R. G. Bhandarkar, 302. He puts the commencement of Apabharamsa at the sixth or seventh century A. D.

130* See R. G. Bhandarkar, 21, for the change from the verbal to the nominal style of Sanskrit; cf. Wackernegel, xliv. For dialectic variations, ib., li.

131* Wackernagel; xlii.

132* Wackernagel, lii.

133* Some later Prakrit writers, e.g. Rajasekhara, borrowed Sanskrit words very freely; cf. index to Konow's edition of the Karpuramanjari.

134* It stands to reason that the modern distortion of a Sanskrit word may often have a result different from that of the gradual development of a Primary Prakrit word. This accounts for many of the so-called irregular Prakrit words noted by the grammarians. To quote an example, Hc. ii. 104. gives a number of irregular forms. siri (for sri), hiri (hri) Kria (Kriya). which are really distorted Tatsamas, not Secondary Prakrit. The true secondary form of kriya is kia (104). So also in the following sutras.

135* Regarding the subject discussed in this paragraph. see Pischel, Pr. Gr., §8.

136* For the use of Tss. in Prakrit. cf. R. G. Bhandarkar. 15. and Wackernagel, liv. For the origin of sTss., cf. Bhandarkar. 298. On 69 he gives an account of the socalled Gatha dialect, which is germane to the present subject.

137* Pischel, Pr. Gr., §9; R. G. Bhandarkar, 107, 131.

138* Saurasoni Prakrit, which developed in the Midland. is naturally that Prakrit which is freest from Ds. words. cf. Pischel, § 22.

139* For Tss. and sTss. in Indo-Aryan Vernaculars. see Beames, Cp. Gr. ii, 11; Hoernle, Gd. Gr., xxxviii. Bhandarkar. 131.

140* Many Primary Prakrit words which have survived unchanged into the Indo-Aryan Vernacular, and which are hence Tbh., are liable to be confused with Tss. Thus, the primary Prakrit kara remained kara in the Secondary Prakrit, and is still kar (a) in Hindi. As kar(a) is also a pure Sanskrit word. it is generally looked upon as a Ts. in Hindi, but it can equally correctly be looked upon as a Tbh. In a book called Theth Hindi-ka Thath. by Ayodhya Singh Upadhyay, from which the author designedly excludes all Ts. words, many honest Tbh. words have also been excluded owing to this misapprehension. Nevertheless it, and another work by the same author, Adhkhile Phul, are invaluable records of Tadbhava Hindi.

141* For these speciailzations see R. G. Bhandarkar: 13. He quotes:—

TATSAMA	TADBHAVA
vedana, any pain	M. ven. the pains of child birth.
garbhini. a pregnant female	M. gabhan. only used with respect to the lower animals.
tapa, heat	M. G. tav. especially the heat of fever Ks. exhaustion.
hrdaya, heart	M. hiyya, courage.
pinda, a ball	P. G. band. the body.
celaka, an attendant/gaves. search	H. cele. a disciple; Bg., cele. a boy. M./gavas. find.
raja, a King	IAV. ray or rao. any respectable gentleman.
ksana. a moment	(Prakrit chana); M. san, a festival.
kubja, a hunchback and several others	M. khuja, a dwarf; kubada. hunchbacked.

142* There are a few exceptions to this. In Ks. and M., for instance. under the influence of analogy, borrowed nouns can be declined synthetically, but the above holds true as a general rule.

143* The late Sudhakara Dvivedi (Ramakahani, p. 7) gives an amusing instance of the difference between literary and colloquial Hindi. A friend wrote to him a letter as follows: ap ke samagamartha mai gata divasa ap ke dhama par padhara. Grha ka kapata mudrita tha, ap se bhet na hui. Hatasa ho kar paravarttita hua, i.e. Yesterday I went to your house to see you. The door of the house was shut, and I did not meet you. I returned home disappointed." Shortly afterwards Sudhakara met the writer of this letter, who, not knowing that it has been received, said : kal mai ap se milne ke liye ap ke ghar par gaya tha. Ghar ka darwaza band tha, ap se bhet nahi hui. Lacar ho kar laut aya. This, in conversational Hindi, has exactly the same meaning as the letter in Sanskritized literary style, yet both came from the same man. As Sudhakara observes. the feeling of a pen in the hand of such a person makes him Sanskrit-drunk, and prevents him from using his own mother tongue.

144* Cf.. the list of Dravidian words said to be borrowed by Sanskrit on pp. xiv ff. of Kittel's Kannada-English Dictionary. See also Linguistic Survey of India, iv, 278.

145* Most common and longest preserved in the folk-speech, i.e. Ap.

146* See Konow in Linguistic Survey of India, iv, 279. ff.' for details. R.G. Bhandarkar (81) attributes the development of Pali and Prakrit to the mis-pronunciation of Sanskrit words by alien (i.e. Dravidian races. I am unable to agree to this. The development, as a whole, exactly followed the same course as that of the Romance languages from the Latin dialects. See Brandreth. "The Gaurian compared with the Romance Languages," JRAS.. 1879, 287, and 1880, 335. At the same time I readily admit that Dravidian had some influence on their development.

147* e.g. krte kahu ko for the accusative-dative, as compared with the Dravidian ku.

148* In Old Gujarati.

149* In Kashmiri.

150* So exact is the parallel that both in Sanskrit and Dravidian the verb substantive is not added to the third person, although it is added to the other two persons.

151* It is to be noted that the Modern Pisaca languages, which apparently did not fall to the same extent under Dravidian influence, differ altogether from the Indo-Aryan vernaculars in this respect. In them the order of words is nearly the same as in English or as in Modern Persian. For the whole of this subject, see Languages of India, 62, and Konow in Linguistic Survey of India, iv. 279 ff..

152* LSI. III, i, 273 ff.

153* Cf. Konow, LSI. iv, 9.

154* e.g. the use of the agent case for the subject of all tenses of the transitive very and the creation of a new impersonal honorific conjugation.

155* e.g. the Sanskrit and Prakrit sahi, a king, not derived from the Musalman Persian sah, but preserving the i of the Old Persian Xsayadiya; see Stein, "Zoroastrian Deities on Indo-Seythian Coins" Oriental and Babylonian Record, August, 1887.

156* Hence the spelling "Hindostan" not "Hindustan" is correct in India.

157* e.g. a well known Hindi work, written in the last century, was called Kahani Theth Hindi me, or "Tales in Pure Hindi". This does not contain a single Persian word, and yet Hindu writers class it as Urdu on account of the order of the words. The author was a Musalman.

158* See Grierson: "Linguistic Relationship of the Shahbazgarhi Inscription". JRAS., 1904, 726.

159* The Paisaci Prakrit of Vararuci differs from Hemacandra's Standard Paisaci Prakrit in important particulars, and has, like Hemacandra's Culikapeisacika, a closer relationship with the north-west; cf. Grierson, The Pisaca Languages of North-Western India, 6.

160* e.g. Kho-war ispa, Waxi spa, our.

161* Grierson, "Etymologies Tokhariennes": Journal Asiatique, 1912, 339.

162* "Le Dialecte des Fregments Dutreuil de Thins": Journal Asiatique, 1912, 331.

163* It is of course well known that other compound consonants occur in Kharosthi.

164* Cf. Grierson, JRAS., 1913, 141 ff., for many other examples.

165* So also in Dravidian languages.

166* This is also common in Kasmiri, but the final short vowel is also preserved.

डॉ० उदयनारायण तिवारी को तीन महत्त्वपूर्ण कृतियाँ :
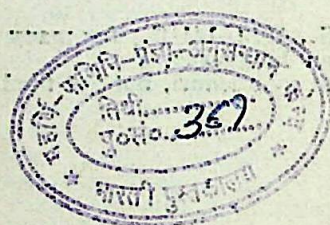
भाषाविज्ञान का संक्षिप्त इतिहास

● 'भाषाविज्ञान का संक्षिप्त इतिहास' अपने ढंग की एक अनूठी कृति है। इसके आरंभ में संस्कृत-व्याकरण का इतिहास एवं संक्षिप्त परिचय दिया गया है; जिससे यूरोपीय विद्वानों ने प्रेरणा प्राप्त कर, सम्प्रति भाषा-विज्ञान को अभिनव रूप प्रदान किया है। अद्यतन अमेरिका, लंदन, पेरिस, प्राहा तथा मास्को में भाषा-विज्ञान की जो प्रगति हुई है; उसका संक्षिप्त इतिहास इसमें दिया गया है। साथ ही भारत की विभिन्न-भाषाओं—बँगला, गुजराती, मराठी, उड़िया, असमिया, पंजाबी, राजस्थानी, तमिल, तेलुगु, मलयालम, कन्नड़, सिंघली, बर्मी, आस्ट्रिक आदि में अभिनव भाषाविज्ञान की प्रगति को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करनेवाली यह कृति भाषाविज्ञान के छात्रों, शोधकर्त्ताओं तथा अध्यापकों के लिए निःसंदेह ज्ञानवर्द्धक और सभी पुस्तकालयों के लिए संग्रहणीय सिद्ध होगी।

● हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास

भाषाशास्त्र के इस बहुचर्चित, बहुप्रशंसित ग्रन्थ में विस्तृत और सटीक ढंग से व्यक्त किया गया है कि भारोपीय, भारत-ईरानी तथा भारतीय वैदिक वाङ्मय से होते हुए; किस प्रकार पालि, प्राकृत, अपभ्रंश से हिन्दी का उद्गम और विकास हुआ है। भाषा के प्रत्येक मोड़ पर प्रकाश डालनेवाली, हिन्दी के उद्गम और विकास के सम्बन्ध में—छात्रों अनुसंधित्सुओं और प्राध्यापकों के लिए—यह एक अप्रतिम कृति है।

● भाषाशास्त्र की रूपरेखा

द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त भाषाशास्त्र में जो अभिनव प्रयोग हुआ उसने इसकी प्राचीन मान्यताओं को एक प्रकार से समाप्त कर एक नवीन गतिविधि को जन्म दिया। भाषाविज्ञान के अभिनव अनुसंधानों की मार्गदर्शिका के रूप में 'भाषाशास्त्र की रूपरेखा' अद्वितीय कृति है।

डॉ० उदयनारायण तिवारी

भाषा शिक्षण की नवीनतम विधियों में निष्णात्, भाषाविज्ञान जैसे नीरस विषय को रोचक एवं सुगम बनाने में दक्ष डॉ० उदयनारायण तिवारी भारतीय भाषा-दर्शन के प्रतिष्ठापक आचार्य हैं। आपके पढ़ाये हुए अनेक छात्र भाषिकी के क्षेत्र में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना चुके हैं तथा देश-विदेश के विश्वविद्यालयों में आचार्य एवं अध्यक्ष-पद पर आसीन हैं।

बलिया जनपद के पांडेयपुर में जुलाई सन् १९०३ में जनमे डॉ० उदयनारायण तिवारी ने १९२७ में इलाहाबाद विश्वविद्यालय से बी० ए० किया; १९२९ एवं १९३१ में अर्थशास्त्र तथा हिन्दी की स्नातकोत्तर परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं: फिर १९३० से १९३७ तक भाषाविज्ञान का अध्ययन किया। १९४० में कलकत्ता में डॉ० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या और डॉ० सुकुमार सेन जैसे महामनीषियों के साथ तुलनात्मक भाषाविज्ञान का उच्चतर अध्ययन करके १९४१ में इस विषय में एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की और १९४४ में डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त की।

१९५८ में भाषाविज्ञान के विशेष अध्ययन के लिए वरिष्ठ अनुसंधित्सु के रूप में आप अमेरिका गये; फिर लंदन, एडिनबरा, पेरिस एवं मास्को विश्वविद्यालयों में जाकर हिन्दी एवं संस्कृत भाषाओं के अध्ययन, अध्यापन तथा शोध की गतिविधियों का अध्ययन किया।

१९६० में भारत लौटने पर डॉ० तिवारी जबलपुर विश्वविद्यालय में हिन्दी के विभागाध्यक्ष नियुक्त हुए जहाँ बारह वर्षों के उनके कार्यकाल में अनेक छात्रों ने महत्त्वपूर्ण विषयों पर पी-एच० डी० और डी० लिट्० की उपाधियाँ प्राप्त कीं।

१९५८ से १९६० तक आप लिंग्विस्टिक सोसायटी ऑफ अमेरिका के सदस्य रहे तथा लिंग्विस्टिक सोसायटी ऑफ इंडिया के १९५५ से आजीवन सदस्य हैं।

आपकी अनेकानेक कृतियों पर अनेकानेक पुरस्कार भी समय-समय पर प्राप्त हुए हैं।

आपकी अहर्निश सृजन-साधना एवं कर्मशीलता से आपके उत्तरवर्त्तियों को सदा प्रेरणा प्राप्त होती रहेगी।